हिन्दी दलित साहित्य में दलित स्त्री विमर्श

HINDI DALIT SAHITYA MEIN DALIT STREE VIMARSH

(DALIT WOMEN DISCOURSE IN HINDI DALIT LITERATURE)

पी.एच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

शोध निर्देशक

प्रो. रामचन्द्र

शोधकर्ता

प्रियंका सोनकर

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
New Delhi-110067, INDIA

Dated: 13/07/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Thesis entitled **'HINDI DALIT SAHITYA MEIN DALIT STREE VIMARSH' (DALIT WOMEN DISCOURSE IN HINDI DALIT LITERATURE)** by me is an original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

PRIYANKA SONKAR
(Research Scholar)

PROF.RAM CHANDRA
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF.GOBIND PRASAD
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM :JAYENU, TEL: (91-011) 26717676, 267717557, EXTN: 4217 (D) 26704217 FAX: (91-011) 2617603, 26717586

समर्पण

मेरे प्रेरणास्रोत बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर

और

.....उस क्रान्तिकारी माँ के लिए

जिसने उच्च शिक्षा के लिए

मुझे घर की देहरी से

बाहर निकाला....।

भूमिका

डॉ.भीमराव अम्बेडकर का यह नारा 'दलितों तुम विद्रोह करो । तुम्हारे पास खोने के लिए गुलामी के सिवाय कुछ नहीं है, पर पाने के लिए आज़ादी है' आज फलीभूत हो रहा है । इसी चेतना ने दलितों को एक लम्बी गुलामी से मुक्त करने में पूरी मदद की । वर्णाश्रम व्यवस्था ने जाति के आधार पर कार्य-विभाजन कर दलितों को अपना गुलाम बना लिया था जिसमें दलित समाज अपने उत्थान के बारे में सोच भी नहीं सकता था । उसका शोषण, उत्पीड़न सब इसी जातिवादी व्यवस्था के अन्दर होता रहा । उसके कटु अनुभव ही उसके साहित्य में दर्ज हुए हैं और हो रहे हैं । दलित साहित्य गुलामी, पीड़ा, अपमान और अवमानना के दंश को साहित्य में दर्ज करते हुए अपने जीवनानुभव और दलित समाज के दर्द को अभिव्यक्त करता है । उसका साहित्य सदियों से चुप्पी का एक खुला ज़वाब है उन लोगों के लिए जिन्होंने ज़ुबान रहते हुए कभी उन्हें बोलने का मौका नहीं दिया । आज यही ज़ुबान प्रतिरोध और मानव-मुक्ति का परिचायक है ।

भारत में आज़ादी के बाद जब भारतीय संविधान का निर्माण हुआ तो वंचित तबकों के लिए डॉ.अम्बेडकर ने वो सभी मौलिक अधिकार सुनिश्चित किए जिस पर एक लम्बे अरसे से उच्च वर्ग का एकाधिकार था । सामाजिक विषमता समाप्त करने हेतु डॉ.अम्बेडकर ने सबके लिए समान अवसर उपलब्ध हो, ऐसे संविधान का निर्माण किया । प्रश्न यह है कि फिर दलितों और स्त्रियों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष क्यों करना पड़ा? चूंकि शिक्षा पर भी किसी एक विशेष वर्ग का आधिपत्य था और अशिक्षित होने की वजह से ही हाशिए ग्रस्त तबके को अपने अधिकारों के विषय में पता नहीं था । अस्मितामूलक विमर्श की यह क़वायद है कि हाशिए से उठकर आने वाले वंचित तबके अपने अधिकारों को हासिल करने के लिए संघर्षबद्ध हुए हैं ।

कला की अन्य विधाओं में साहित्य इसलिए भी विशिष्ट है कि इसका उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन करना या आनन्द प्रदान करना नहीं है । साहित्य में हाशिए पर डाल दिए गये जीवन की पीड़ा को रेखांकित करने की जद्दोजहद साथ-साथ चलती है । इस संदर्भ में स्त्री और दलितों की पीड़ा को

साहित्य की मुख्यधारा में लाने का प्रयास पहले भी होता रहा है लेकिन पिछले दो-तीन दशकों में महिलाओं और दलितों की महत्वपूर्ण उपस्थिति ने न केवल साहित्य लेखन में एक अध्याय जोड़ा है वरन् सामाजिक वर्जनाओं की कई चौहद्दियों को भी पार करने में सफल हुए हैं। समाज में शोषित, उत्पीड़ित, अपमानित और उपेक्षित जनों का इतिहास लेखन के माध्यम से दर्ज हुआ और हो रहा है। वर्चस्व की संस्कृति ने जिस प्रकार दलितों और स्त्रियों को हाशिए पर डाल दिया था उसी प्रकार स्त्री और दलित साहित्य ने भी अपने साहित्य और आंदोलनों में अपने अस्तित्व और अस्मिता के सवालों को तो तरजीह दिया किन्तु दलित स्त्री के प्रश्नों को उपेक्षित कर दिया। अपनी घोर उपेक्षा के इसी अनुभव से प्रेरित होकर उसने अपनी अस्मिता का साहित्य लेखन शुरू कर दिया है। वे इतिहास में जाकर छान-बीन कर रही हैं और अपने संघर्ष का इतिहास भी लिखने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

शर्मिला रेगे प्रश्न करती हैं कि दलित स्त्रियों की 'भिन्नता' या 'अलग आवाज़' हाल में उभरी अस्मितावादी राजनीति का हिस्सा नहीं है, अथवा मात्र कुछ प्रामाणिक, लेकिन निजी अनुभवों से नहीं उपजी है, बल्कि इसके पीछे वास्तविक संघर्षों का लम्बा इतिहास है। दलित स्त्रियां बाबासाहेब तथा अन्य दलित नेताओं के साथ अपने परिवारों की मुलाकातों के पारिवारिक मौखिक इतिहासों की एक पीढ़ी से अगली पीढ़ी तक पहुंचाने का महत्वपूर्ण कार्य भी करती रही हैं। आगे वे प्रश्न उठाती हैं कि "1970 के दो बड़े सामाजिक आंदोलनों यानी दलित आंदोलन व महिला आंदोलन में दलित स्त्रियों की यह निरंतर मौजूद अलग आवाज़ सुनाई क्यों नहीं दी ?"(स्त्रीकाल, दलित स्त्रीवाद विशेषांक, 2013, पेज नं.53)

दलित स्त्रियों के संघर्ष के इतिहास को खोजने की भी बड़ी ज़रूरत है जिसे अभी तक नज़रअंदाज़ किया गया। प्रसिद्ध इतिहासकार चारु गुप्ता लिखती हैं कि 'औरतों ने धारा के विरुद्ध, सीमाओं से परे और कई बंधंनों के बावजूद अपने अस्तित्व को बनाया और संवारा है और संघर्ष का एक पुरजोर रास्ता तैयार किया है।' एक इतिहासकार के रूप में वे लगातार इस सवाल से जूझती रहीं हैं कि 'अपने अभिलेखागारों और इतिहास में हम औरतों की आवाज़ कैसे ढूंढे ? कैसे खोंजे हम उन बिगुली, धारा से अलग, दबे-छिपे इतिहासों को जिसके लिए इतिहास के संकुचित दायरे से निकलने की जरुरत है?' यह सत्य है कि ब्राह्मणवादी ताकतों ने तमाम हथकंडे अपनाकर संघर्षशील महिलाओं की आवाज़

को मुख्यधारा में शामिल नहीं होने दिया । भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम, स्वतन्त्रता आंदोलन से लेकर देश के बड़े-बड़े आन्दोलनों में दलित स्त्रियों की भागीदारी रही है । अपनी कुर्बानी देकर उन्होंने अपने साहस का परिचय भी दिया है । यह बड़े दुःख की बात है कि मुख्यधारात्मक साहित्येतिहास में इसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता है ।

मुख्यधारा के साहित्य ने सवर्ण स्त्री समुदाय के साथ भी अन्याय किया, इसे सुमन राजे ने 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' लिखकर प्रमाणित कर दिया है । वास्तविकता यह है कि आज सवर्ण स्त्री इतिहासकारों ने स्त्री संघर्ष का इतिहास लिखते समय जातिगत भेदभाव की नीति अपनायी और दलित स्त्रियों को अपने साहित्य में स्थान देना उचित नहीं समझा । इसलिए आज दलित स्त्री विमर्श की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है ।

अनामिका के शब्दों में ठीक-ठीक कहें तो 'अस्मिता आंदोलनों का आधारभूत दर्शन ही है यह अवधारणा कि जो अन्याय झेल रहे हैं, कम-से-कम वे तो न करें अन्याय । पर अन्य पिछड़ी जातियां दलितों के लिए जो बोल बोलती हैं, और अब ये स्त्रियाँ जो हिंसा का हथियार बन रही हैं, उससे यह तो समझ में आता है कि चिड़चिड़ाहट, विद्धेष, टुच्चापन आदि ऐसे बुखार हैं जिनसे नवस्वतंत्र समूह भी मुक्त नहीं । इससे पहले कि यह मीयादी बुखार किसी असाध्य रोग का रूप ले-हमें आत्मपरीक्षण तो कर ही लेना चाहिए ।' ग़ौरतलब है कि स्त्री विमर्श और दलित विमर्श ने भी अपने से निम्न माने जानी वाली दलित स्त्री के साथ न्याय नहीं किया । स्त्री साहित्य और दलित साहित्य में नारीवादियों और गैर-दलित-दलित पुरुषों द्वारा दलित स्त्री की उपेक्षा ने ही दलित स्त्री विमर्श को जन्म दिया है । हाशिए के साहित्य पर बात करते हुए इन दोनों विमर्शों ने ऐसे महत्वपूर्ण मुद्दों की अनदेखी की जिसमें उनसे भी निम्न वर्ग (दलित स्त्री, किसान, मजदूर, आदिवासी, अल्पसंख्यक, विकलांग, ट्रांसजेण्डर) छूट गये । इस प्रकार देखा जाय तो 'दलित स्त्री विमर्श' एक ऐसे विमर्श के रूप में सामने आया है जिसने स्त्री विमर्श और दलित विमर्श के मुद्दों को विस्तार दिया है और उसके फ़लक को बहुआयामी बनाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है ।

मेरा यह शोध-ग्रंथ जाति व्यवस्था की उद्भावना के सूक्ष्म तत्वों की पड़ताल करता हुआ वर्तमान में हिन्दी दलित साहित्य तथा 'हिन्दी दलित साहित्य में दलित स्त्री विमर्श' की अवधारणा और उसकी सैद्धान्तिकी को समझने का प्रयास है।

आज समाज में घटती हिंसाओं में दलित स्त्री भीषण हिंसा की शिकार है । उसके साथ बलात्कार, डायन करार देकर मारना, जिंदा जला देना और नग्न करके जूते-चप्पलों की माला पहनाकर समाज में घुमाना जारी है। दलित बस्तियों में आगजनी और लूट की घटनाओं के साथ-साथ दंगाइयों द्वारा दलित स्त्रियों का यौन शोषण भी किया जाता है । खैरलांजी, बेलछी, गोहाना इसके साक्षात उदाहरण हैं। फूलन देवी, भंवरी देवी, डेल्टा मेघवाल, सोनी सोरी के साथ हुए यौन शोषण इस बात की गवाही देते हैं। जब हर घटना और हिंसा में उसे शिकार बनाया जा रहा है, मीडिया से लेकर सोशल नेटवर्किंग साइट्स पर उसके साथ हुए उत्पीड़न के बारे में भी स्याह चुप्पी छाई हुई है तो उस पर बात करना अत्यन्त अनिवार्य हो जाता है। इसके अलावा उसका परिश्रम, समाज के निर्माण में उसका योगदान भुलाया नहीं जा सकता। अपने कर्तव्यों को वह जानती है किन्तु अपने अधिकारों से वाकिफ़ नहीं है। वह इतिहास के हर संघर्ष में दबी हुई है किन्तु साहित्य में गायब है। उसकी पीड़ा, उत्पीड़न की गाथाएं आज हर अखबारों-पन्नों में उसके साथ संवेदनात्मक सहानुभूति अभिव्यक्त कर रहे हैं किंतु उसकी चेतना का कहीं उल्लेख नहीं है। इसी संघर्ष की चेतना को दलित स्त्री अपने साहित्य-लेखन में विस्तार दे रही है। संवेदना और सहानुभूति की छवि अब उसे स्वीकृत नहीं। दलित स्त्री चेतना ही उसकी अस्मिता और अस्तित्व को मजबूती प्रदान करते हैं। अम्बेडकरवादी चेतना की मशाल अपने हृदय में जलाये हुए और 'अत्त दीपो' के मंत्र को आत्मसात किये हुए वह अपने सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक और संवैधानिक अधिकारों के लिए प्रतिबद्ध है।

जाति व्यवस्था के विषय में डॉ.अम्बेडकर ने कहा था "जाति मनुष्य को निर्जीव बनाती है। वह मनुष्य को निष्फल बनाने की प्रक्रिया है। शिक्षा, संपत्ति तथा परिश्रम सभी के लिए आवश्यक है, यदि व्यक्ति एक स्वतंत्र तथा परिपूर्ण मनुष्य बनना चाहता है। संपत्ति एवं परिश्रम के बिना शिक्षा का होना व्यर्थ है। उसी प्रकार शिक्षा तथा परिश्रम के बिना संपत्ति का होना व्यर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए इनमें से हर चीज आवश्यक है। यह सभी बातें मनुष्य मात्र के विकास के लिए आवश्यक है।" मनुष्य के

विकास के लिए जिन मूलभूत आवश्यकताओं की अनिवार्यता है उससे दलित स्त्री पूरी तरह वंचित रही है। आज शिक्षा हासिल कर वह उन मूलभूत आवश्यकताओं को प्राप्त कर रही है और शिक्षित होकर अपनी अस्मिता, अस्तित्व तथा संघर्ष का साहित्य और इतिहास लिख रही है।

'हिन्दी दलित साहित्य में दलित स्त्री विमर्श' जैसे विषय की आवश्यकता महसूस करते हुए मैंने इसे अपने शोध-ग्रंथ का विषय बनाया। हैरानी की बात तो यह थी कि बहुत बड़े-बड़े आलोचकों और चिन्तकों ने दलित स्त्री विमर्श जैसी कोई चीज है, यह मानने से इंकार कर दिया। यह वैसा ही था जैसे डॉ.अम्बेडकर ने जब अनुसूचित जातियों को अल्पसंख्यक मानते हुए उन्हें अलग से अधिकार देने की बात की थी। इसका बहुसंख्यक हिन्दुओं ने यह कहकर प्रतिरोध किया कि अस्पृश्य जातियां भी हिन्दू हैं। डॉ.अम्बेडकर का मानना था कि अनुसूचित जातियां भारत के किसी भी अल्पसंख्यक समुदाय की तुलना में बुरी स्थिति में है। अतः उन्हें अन्य अल्पसंख्यकों से भी ज़्यादा संरक्षणों की ज़रूरत है। इसलिए वे उन्हें अल्पसंख्यक समुदाय की श्रेणी में रखना चाहते थे। कमोबेश दलित स्त्री की भी यही स्थिति है। नारीवादियों का यह मानना था कि सभी स्त्रियों की समस्याएं एक हैं उनकी न कोई जाति है, न धर्म। ग़ौरतलब है कि सवर्ण स्त्री-पुरुष रचनाकारों ने अपनी जातीय सीमाओं तथा जातिगत दंभता के कारण इस विषय पर बात करना उचित ही नहीं समझा और अपनी अरूचि दिखायी। यहां तक कि अपने आप को प्रसिद्ध और प्रगतिशील मानने वाली सवर्ण लेखिकाएं भी दलित स्त्री के साहित्य पर कोई बात नहीं करना चाहती हैं किन्तु यह हैरतअंगेज था कि जब कुछ दलित लेखकों ने भी हिन्दी साहित्य में 'दलित स्त्री विमर्श' जैसे विमर्श की बात को लेकर नाक-भौं सिकोड़ा और दलित साहित्य में अलग से 'दलित स्त्री विमर्श' जैसे विषय की अनिवार्यता को अपनी अस्वीकृति दी। उनका भी यह मानना है कि जब हम दलित साहित्य में दलित स्त्रियों के मुद्दों को उठा रहे हैं तो इस पर अलग से विमर्श खड़ा करने की क्या ज़रूरत है ? इसलिए इस विषय पर शोधकार्य करने की प्रासंगिकता और अनिवार्यता अधिक बढ़ जाती है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में पिछले कई दशकों से दलित साहित्य और स्त्री साहित्य पर अधिक काम हुए हैं जैसा कि दलित स्त्री रचनाकारों के व्यक्तित्व और कृतत्व पर भी शोध कार्य हो रहे हैं। विभिन्न कॉलेजों में, विश्वविद्यालयों में दलित स्त्री की रचनाओं पर भी काम हुए हैं। मेरी जानकारी के

अनुसार दलित 'स्त्री विमर्श' पर अलग से कोई सैद्धान्तिक काम अभी तक नहीं हुआ है। इसीलिए मैंने दलित स्त्री विमर्श की अवधारणा, उसकी सैद्धान्तिकी, वैचारिकी पर काम करना जरूरी समझा। यह मानने से गुरेज नहीं करना चाहिए कि दलित स्त्री भारतीय समाजिक व्यवस्था में सबसे अधिक उत्पीड़ित है। जिस तरह वह समाज में हाशिए पर है वैसे ही साहित्य और इतिहास में भी उसे हाशिए पर रखा जाता रहा है। इस प्रकार यह शोध-कार्य उसे हाशिए से निकालकर मुख्यधारा में शामिल करने की प्रक्रिया भी है।

अध्ययन की दृष्टि से मैंने अपने शोध-ग्रंथ को पांच अध्यायों में विभाजित किया है।

पहला अध्याय 'हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श : एक परिचय' है, जिसे मैंने तीन उप-अध्यायों में बांटकर अध्ययन किया है। पहला 'जाति-विरोध की परंपरा' दूसरा 'हिन्दी साहित्य में दलित' और तीसरा 'हिन्दी दलित साहित्य' है। भारत में जाति के ख़िलाफ़ सदियों से प्रतिरोध होता आया है आज भी हो रहा है। इस अध्याय में जातिव्यवस्था की उत्पत्ति में सहायक कारक, तत्व और वर्ण-वर्ग जो इस व्यवस्था को बनाए रखने में अपनी शान समझता है, का उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही जातिगत भेदभाव से उत्पीड़ित निम्न जातियों ने अपना साहित्य और इतिहास लिखकर इसके ख़िलाफ़ अपना प्रतिरोध भी दर्ज किया है। दलित साहित्य की सैद्धान्तिकी और वैचारिकी तथा उसके दर्शन पर यह अध्याय विशेष रूप से प्रकाश डालता है।

दूसरा अध्याय 'हिन्दी साहित्य में दलित स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि और अवधारणा' है। बुद्ध की थेरीगाथाओं से अपना उत्स ग्रहण करता हुआ दलित स्त्री विमर्श मध्यकालीन दलित सन्त कवयित्रियों, भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में अपना विशिष्ट योगदान देने वाली दलित वीरांगनाएं, क्रांतिसूर्य ज्योतिबा फुले-सावित्रीबाई फुले से होते हुए डॉ.भीमराव अम्बेडकर तक के अमिट और महत्वपूर्ण संघर्ष को अपने लेखन का आधार मानता है। वर्तमान में दलित स्त्री राजनीतिज्ञों का दलित समाज और दलित महिलाओं की प्रगति के उत्थान में उनकी क्या भूमिका रही इसका भी उल्लेख है। इस अध्याय में इन व्यक्तित्वों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। दलित स्त्री विमर्श की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और अवधारणा को समझने के लिए मैंने इस अध्याय में दलित स्त्रियों के आइकन पर विशेष रूप से चर्चा की

है । इसके अतिरिक्त दलित स्त्री विमर्श की अवधारणा, वैचारिकी और सैद्धान्तिकी, अश्वेत दलित स्त्री विमर्श से उसकी साम्यता और अन्तर, दलित स्त्री का रचनात्मक साहित्य आदि विषयों पर विस्तार से अध्ययन किया गया है ।

तीसरा अध्याय 'दलित स्त्री: तिहरा शोषण' है । इसे तीन उप-अध्यायों में अध्ययन की दृष्टि से विभाजित किया गया है । पहला लैंगिक शोषण, दूसरा जातिगत शोषण और तीसरा वर्गगत शोषण है । दलित स्त्री लैंगिक, वर्णीय और वर्गीय आधार पर समाज में अकेले शोषण का शिकार होती है । इस प्रकार वह तिहरे अभिशाप से पीड़ित है । इस अध्याय में उन पहलुओं का विश्लेषण किया गया है जिसमें दलित स्त्री निरन्तर नारकीय जीवन जीने को मजबूर की जाती रही है ।

चौथा अध्याय 'दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श' है । किस प्रकार दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श अस्मिताओं के बीच का संघर्ष है, इसको समझने का प्रयास किया गया है । इस अध्याय में उन कारणों की पड़ताल करने की कोशिश की गयी है जिसकी बुनियाद पर साहित्य तथा समाज में एक ऐसी खाई बनती गई है, जहां दलित पुरुष लेखक और दलित स्त्री साहित्यकार एक दूसरे के साथ चलने की बजाय एक दूसरे के बरक्स खड़े नज़र आते हैं । दलित स्त्री लेखन की उपेक्षा में दलित पुरुषों की क्या भूमिका रही है तथा 'दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श' की जो दृष्टि बनती जा रही है, इस अध्याय में उसकी आलोचनात्मक समीक्षा की गयी है ।

पांचवां अध्याय 'स्त्री साहित्य बनाम दलित स्त्री साहित्य' है । सवर्ण स्त्री साहित्य और दलित स्त्री साहित्य के अन्तर्विरोध किन मुद्दों को लेकर हैं, यदि उनमें कोई समानता है तो उसका स्तर और स्वरूप क्या है ? सवर्ण स्त्रियों के साहित्य ने दलित स्त्रियों को अपने लेखन में जगह क्यों नहीं दिया, उनके मुद्दे हाशिए पर क्यों डाले गये ? इन्हीं प्रश्नों और पहलुओं की जांच करने की कोशिश की गयी है । मैंने इस अध्याय में हिन्दी की कुछ सवर्ण स्त्री लेखिकाओं और दलित लेखिकाओं की रचनाओं तथा उनपर हुई आलोचनाओं को लिया है जिसके आधार पर इस अध्याय की 'तुलनात्मक समीक्षा पद्धति' अपनाते हुए इसका अध्ययन और विश्लेषण किया गया है ।

अन्त में उपसंहार है जो शोध-ग्रंथ के विषय का निष्कर्ष है और संदर्भ ग्रंथ की सूची दी गयी है ।

दलित स्त्री विमर्श पर काम करना मेरे लिए एक चुनौती थी, यह भी तब जब प्रगतिशील चिन्तक इस विषय पर बात करना जरूरी नहीं समझते। इस कार्य को सम्पूर्ण कराने में मुझे अपने शोध-निर्देशक के अतिरिक्त कई मित्रों, अग्रजों-अनुजों और रचनाकारों का काफ़ी सहयोग मिला। विषय का चयन, उसकी रूपरेखा, अध्याय के निर्माण में उन्होंने हरसंभव मेरी मदद की।

सर्वप्रथम मैं अपने शोध निर्देशक आदरणीय प्रोफेसर रामचन्द्र जी को अपना आभार अभिव्यक्त करना चाहूंगी जिन्होंने अपने निर्देशन में मेरा शोध-कार्य सम्पन्न कराया। समय-समय पर शोध से संबंधित जानकारी प्रदान कर तथा अपनी राय देकर, इस शोध-कार्य को पूर्ण कराने में उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। एम.ए. की कक्षाओं के दौरान उनसे दलित साहित्य पढ़कर विषय के प्रति गहरी रूचि बन गयी थी। जिससे मैंने दलित स्त्री विमर्श पर काम करने का पहले से ही मन बना लिया था। मैं उनकी हृदय से आभारी हूं।

अपने पूर्व शोध-निर्देशक प्रो.वीर भारत तलवार जी का भी मैं आभार प्रकट करती हूं जिनके निर्देशन में इस शोध-विषय का प्रस्ताव पारित हुआ। उन्होंने शोध-विषय की रूपरेखा को बनाने में अपना महत्वपूर्ण सहयोग दिया।

सुमित, मेरा दोस्त जिसके बिना शोध-कार्य को अन्तिम रूप दे पाना मेरे लिए असंभव था। हर क्षण-हर पल उसकी प्रेरणा ने कि 'जल्दी-जल्दी अपना पी.एच.डी. पूरा करो', मुझे अपने कार्य के लिए लगनशील और प्रतिबद्ध बनाया। उसे असीम आभार ज्ञापित करती हूं।

शिउली वनजा, मेरी सखी जिसने व्यस्त से व्यस्ततम जीवन से कुछ समय मेरे लिए निकाल कर अपने बहुमूल्य विचार को साझा कर और प्रूफ रीडिंग करके मेरे शोध कार्य में मदद की। उसकी मैं आभारी हूं। देविना अक्षयवर ने दलित साहित्य और स्त्री साहित्य पर महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान की, जो मेरे शोध-कार्य में सहायक रहा और बबिता ने स्त्री-आत्मकथाओं के मुख्य पहलुओं को समझाने में मेरी मदद की, दोनों मित्रों को आभार।

किंगसन पटेल और कवितेन्द्र इन्दु जी ने अपने सीनियर होने का पूरा फर्ज़ अदा किया। किंगसन पटेल जिनसे मुझे समय-समय पर विषय से संबंधित महत्वपूर्ण जानकारी मिली। स्त्री अध्ययन पर

उनका लेखन होने से उनसे मुझे बहुत फायदा हुआ। कवितेन्द्र इन्दु जी ने अध्याय से संबंधित जानकारी देकर और दलित साहित्य पर अपने विशिष्ट ज्ञान से अवगत कराकर मुझे कृतज्ञ किया, मैं अपने दोनों अग्रजों की आभारी हूं।

जूनियरों में नीलम, आरती, रक्षा झा ने न केवल प्रूफ रीडिंग करने मेरी बहुत मदद की बल्कि अपने महत्वपूर्ण सुझाव देकर मेरे ज्ञान को विस्तृत किया। इन जूनियरों का मैं विशेष रूप से आभार ज्ञापन करती हूं। शिवांगी ने शोध-प्रविधि लिखने की तकनीकियों को साझा कर मुझे बहुत सारी जानकारियों से अवगत कराया उसकी कृतज्ञ हूं। इक़बाल अभिमन्यू, रूबी इत्यादि मित्रों के सहयोग से मुझे सबलता मिली इन मित्रों को आभार ज्ञापित करती हूं। प्यारी मीनू (छात्रा) जिसने समय-समय पर पी.एच.डी. लिखने के लिए मुझे उत्साहित किया, उसको भी आभार और प्यार।

कॉलेज के साथियों डॉ. ज्योति शर्मा, डॉ. अनिता मिंज और प्रियंका सिंह का भी आभार ज्ञापन करना चाहूंगी जिन्होंने इस शोध-ग्रंथ को शीघ्र पूरा करने के लिए अपनी शुभकामनाएं दी।

परिवार के सदस्यों में भाई-बहनों में पवन, आशुतोष, वन्दना, अर्चना ने पी.एच.डी में अपनी राय और सुझाव दिया और शुभकामनाएं देकर लिखने के लिए प्रतिबद्ध किया। माता-पिता के विषय में कुछ भी लिखना कम लिखना होगा क्योंकि हमें बनाने में उनका सबसे बड़ा हाथ रहा है। जिस माँ ने उच्च शिक्षा के लिए आधी रात को मुझे उठाया न होता तो मेरा जे.एन.यू. तक पहुंचना संभव न हो पाता। आज पी.एच.डी. जमा कर रही हूं, ये उस माँ का उच्च शिक्षा के लिए उठाया गया महत्वपूर्ण और क्रान्तिकारी कदम था। ऐसी माँ को कोटि-कोटि प्रणाम। पिताजी ने मुझे अपनी जिम्मेदारियों से मुक्त कर उच्च शिक्षा के लिए हमेशा प्रोत्साहित किया। माता-पिता के प्यार, विश्वास और आशीर्वाद से मैं पी.एच.डी. सम्पन्न करने में सफल हो पायी। मैं इनकी ऋणी हूं।

इसके अतिरिक्त मैं उन महिला सफाई कामगारों और मजदूरों की भी शुक्रगुजार हूं जो दलित होने की पीड़ा से ये कार्य करने को मजबूर हैं। उनसे समाज में उनकी वर्तमान स्थिति तथा सामाजिक व्यवस्था की विद्रूपताओं को समझने में मुझे काफ़ी मदद मिली।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सेन्ट्रल लाइब्रेरी को मैं अपना धन्यवाद ज्ञापन देना चाहूंगी जिससे मुझे शोध के अध्ययन की महत्वपूर्ण सामग्री मिली । कई पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से मुझे समय-समय पर लाभ मिलता रहा जिससे यह कार्य आसानी से संपन्न हो पाया ।

एक बार फिर से सबको तहेदिल से मेरा स्नेहिल आभार ।

अन्त में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय को मैं अपना असीम आभार प्रकट करती हूं जिसने मेरी अविकसित सोच को पुख़्ता बनाने में कोई कशिश नहीं छोड़ी । शोध-कार्य के एक-एक विचारों में जे.एन.यू. शामिल है । छोटे-से छोटे मुद्दे और वैश्विक परिदृश्यों को कैसे एक ढाबे पर हल किया जाता है- ऐसी ग्लोबल दुनिया है जे.एन.यू. । मेरे गढ़ने और बनने में इसने अपनी पूरी भूमिका निभायी । जे.एन.यू. की विचारधारा ने लोगों को समझने और मुझे स्वयं को सामाजिक इन्सान बनाने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया । छोटे गांव से शहर, राज्य, देश, विदेश तक के सफ़र का द्वार खोलने वाले जे.एन.यू. ने मुझे उच्च शिक्षा का सुनहरा अवसर दिया, अन्यथा उच्च शिक्षा मेरे लिए ख़्वाब रहता, जे.एन.यू. को मेरा बहुत प्यार ।

प्रियंका सोनकर

जे.एन.यू.

2017

विषयानुक्रमणिका

शीर्षक	पृष्ठ संख्या
भूमिका	i-x
पहला अध्याय हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श: एक परिचय क: जातिविरोध की परम्परा ख: हिन्दी साहित्य में दलित ग: हिन्दी दलित साहित्य	15-63
दूसरा अध्याय हिन्दी साहित्य में दलित स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि और अवधारणा	64-151
तीसरा अध्याय दलित स्त्री : तिहरा शोषण	152-203
चौथा अध्याय दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श	204-260
पांचवां अध्याय स्त्री साहित्य बनाम दलित स्त्री साहित्य	261-320
उपसंहार	321-331
सन्दर्भ-ग्रंथ सूची	332-338

पहला अध्याय
हिन्दी दलित साहित्य का संक्षिप्त परिचय

(क) जाति-विरोध की परंपरा

(ख) हिन्दी साहित्य में दलित

(ग) हिन्दी दलित साहित्य

"जाति एक दैत्य है जो आपके रास्ते में खड़ा है। जब तक इस दैत्य को नहीं मारेंगे, आप राजनीतिक सुधार नहीं कर सकते हैं। आप आर्थिक सुधार नहीं कर सकते हैं।" - डॉ.बी.आर.अम्बेडकर

किसी भी समाज और साहित्य को हम उसके दो आधार बिन्दुओं से समझ सकते हैं पहला वह जो हमारे समक्ष प्रत्यक्ष है और दूसरा वह जो अप्रत्यक्ष है अर्थात इतिहास केवल वही नहीं है जो अब तक लिखा गया है, इतिहास वह भी है जिसे छिपा दिया गया, दर्ज नहीं किया गया । जब हम भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास को पढ़ते हैं जिसमें मंगल पाण्डेय का नाम सुनहरे अक्षरों में अंकित है तब यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण भारत केवल इसी नाम से परिचित है जिसे मुख्यधारा के इतिहास ने दिखाया, इसे हम प्रत्यक्ष इतिहास कह सकते हैं । आज जब दलित साहित्य भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को जन्म देने वाले भंगी मातादीन का भी उल्लेख करता है तो वह अप्रत्यक्ष इतिहास का मौजूदा सच है । प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष इतिहास और साहित्य को हमें इसी रूप में देखना होगा । इसी कड़ी में हम प्रत्यक्ष इतिहास के अन्तर्गत जाति-व्यवस्था को देख सकते हैं ।

जाति-व्यवस्था भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार स्तम्भ रही है । जाति के आधार पर भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलितों का निरन्तर शोषण होता रहा है और आज भी हो रहा है । इसके उन्मूलन के लिए आदिकाल से लेकर अब तक भरसक प्रयास भी किए जा रहे हैं । वर्चस्वशाली सत्ता जाति को कायम करने के लिए नित-नित नये कानून और प्रपंच भी रच रही है । जितना जाति के विरोध में आंदोलन हुए हैं उतना ही इसको यथास्थित बनाये रखने के लिए भी ब्राह्मणवादी लोगों ने षड्यन्त्र जारी रखे हैं । दलित साहित्य इसी जाति व्यवस्था को समूल रूप से समाप्त करके एक परिवर्तनवादी और मानवतावादी साहित्य तथा समाज की रचना करना चाहता है । बौद्धकाल में बुद्ध, आनन्द, नागार्जुन, अश्वघोष, आदिकाल में सिद्धों, नाथों से लेकर भक्तिकाल में रैदास, कबीर, दादू, तथा आधुनिक काल में हीराडोम, अछूतानंद, महात्मा ज्योतिबा फुले-सावित्रीबाई फुले, पेरियार, छत्रपतिसाहू जी महाराज, डॉ.अम्बेडकर तक का संघर्षशाली इतिहास रहा है जिन्होंने जातिविरोध की परंपरा में अपना बहुमूल्य योगदान दिया । इसके अतिरिक्त मुख्यधारा के साहित्यलेखन ने अपने साहित्य में दलितों का चित्रण किया । हमें यह देखना है कि इनके लेखन में दलित किस रूप में आता है, साहित्य में कितनी जगह घेरता है, उसकी स्थिति कैसी है ? वह अपनी दासता का विरोध करता है या नहीं इत्यादि सवाल इस अध्याय के केन्द्र बिन्दू हैं । आज दलित साहित्य जो दलितों द्वारा लिखा जा रहा है उसमें दलित किस रूप में आता है ? उनके लेखन पर

आक्रोश, नकार का जो आरोप मुख्यधारा के साहित्य द्वारा लगाया जाता रहा है वह कितना सही है ? मुख्यधारा के साहित्य लेखन में और दलित साहित्य लेखन में मुख्य अन्तर क्या है? इनके लेखन में कोई विचारधारा भी कार्य करती है या नहीं ? भारतीय सामाजिक व्यवस्था वर्ग आधारित है या वर्ण आधारित ? इत्यादि महत्वपूर्ण प्रश्नों की पड़ताल करने की कोशिश इस अध्याय में की जायेगी।

1.1 जाति-विरोध की परंपरा

जाति-विरोध की परंपरा एक ऐसी परंपरा थी जिसके ख़िलाफ़ अनेक सन्त, दार्शनिक, विचारकों ने गुरिल्ला युद्ध लड़ा और आज तक लड़ रहे हैं। जॉक देरिदा का मानना था कि 'परंपराएं भ्रम मात्र हैं इनके ख़िलाफ़ गुरिल्ला युद्ध लड़कर ही जीवन अथवा रचना का सही अर्थ ढूंढा जा सकता है।' भारत में जाति-विरोध की परंपरा कई हजार वर्षों से चली आ रही है। सर्वप्रथम जाति-विरोध की परंपरा पर बात करने से पहले यह जान लेना आवश्यक होगा कि परंपरा का सही मायने में अर्थ क्या है? उसकी व्याख्या किस रूप में की जाती रही है, वह भारत में किस रूप में प्रयुक्त होती रही है? क्या वास्तव में परंपराएं समाज साहित्य और कला से भी अभिन्न रूप से जुड़ी होती हैं ?

संस्कृति के पर्याय के रूप में परंपरा का प्रयोग होता है। परंपराएं मूल रूप से समाज, कला और साहित्य की होती हैं, जो आपस में मिलकर संस्कृति के विशिष्ट स्वरूप का निर्माण करती हैं। खास-तौर से समाज का इतिहास और साहित्य के इतिहास में परंपराओं के विवेचन के इतिहास-लेखन का महत्व होता है। परंपरा निरन्तर चयन और पुनर्चयन के रूप में सामने आती हैं इसलिए उसे निरपेक्ष समग्रता के रूप में समझना भ्रामक है। परंपरा का जुड़ाव चाहे समाज से हो या साहित्य या कला से, उसके बोध की प्रक्रिया में हम सदैव चयन, संग्रह और त्याग की दृष्टि को उसमें सक्रिय पाते हैं, जो मूल रूप से सामाजिक दृष्टि होती है।

रेमण्ड विलियम्स ग्राम्शी की प्रमुख या वर्चस्व की अवधारणा का सहारा लेते हुए समाज, साहित्य और संस्कृति में परंपरा की राजनीतिक भूमिकाओं का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि "किसी समाज के एक विशेष काल में व्यवहारों, मूल्यों और अभिप्रायों की एक केन्द्रीय पद्धति होती है, जिसे प्रभुत्वशाली परंपरा कहा जा सकता है। उसे ही आजकल अपने देश में मुख्यधारा कहा जा रहा है। यह कल्पित मुख्यधारा उम्मीद और कोशिश करती है कि अन्य धाराएं या वैकल्पिक और

विरोधी परंपराएं उसमें मिलकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यवहार समाप्त कर दें। परंपराएं या धाराएं ऐसा नहीं करतीं तो उनको बदनाम करने का प्रयत्न होता है।"[1]

भारत का सम्पूर्ण इतिहास या अतीत में झांका जाय तो एक भयावह दृश्य, हमारे सामने उपस्थित नज़र आता है। प्राचीनकाल से भारत में प्रभुत्वशाली वर्चस्वशाली परंपरा विरोधी परंपराओं के साथ सुनियोजित रूप से चार तरह के व्यवहार करती रही है। पहला रूप विरोधी परंपरा की उपेक्षा के रूप में देखा जा सकता है। यदि विरोधी परंपरा उपेक्षा से नहीं समाप्त होती तो फिर प्रभुत्वशाली परंपरा उसका उग्र विरोध करती है। अगर वह विरोध से भी नहीं समाप्त होती है तो फिर उसको विकृत करने का प्रयत्न यह वर्चस्वशाली परंपरा करती है। अगर विरोधी परंपरा विकृत करने के अभियान से बच जाती है तब प्रभुत्वशाली परंपरा उसकी क्रान्तिकारी धार को भोथरा बनाकर उसे अपने भीतर समाहित कर लेती है। उपेक्षा, विरोध, विकृतिकरण और समाहरण की यह चतुर्मुखी प्रक्रिया लोकायत, बौद्धदर्शन, कबीरदास आदि की विचार परंपराओं को अपना शिकार बना चुकी है। आज भी यह प्रक्रिया नए रूप में चल रही है।

समाज में विकास का एक चरण या एक कारण प्रतिरोध भी है। प्रतिरोध के बिना शायद ही समाज का विकास संभव है। स्थापित मूल्य समर्थित व्यवस्था अपने को कायम रखने के लिए यह हर संभव प्रयास करती है और नवचेतना संपन्न वर्ग नई मूल्य व्यवस्था के स्थापन के लिए पुरानी मूल्य-व्यवस्था का प्रतिरोध करता है। इसीलिए शंकर गुहा नियोगी ने कहा था कि 'ध्वंस और निर्माण की प्रक्रियाएं साथ-साथ चलती हैं, बिना पुराना टूटे नए का निर्माण नहीं किया जा सकता।' यह अकारण नहीं होता है कि प्रतिरोध की चेतना स्वयं में या बिना किसी कारण के विकसित होती है। चूंकि हमेशा से ही स्थापित मूल्य-व्यवस्था के भीतर प्रतिरोध करने वाला वर्ग विद्यमान रहता है, अगर हम भारतीय समाज, सत्ता और संस्कृति पर काबिज ब्राह्मण वर्ग और हाशिए पर रहे शूद्र और स्त्री के संबंध में बात करें तो ये दोंनो वर्ग साहित्य समाज के इतिहास में मौजूद रहे हैं। इसी संदर्भ में निर्मला पुतुल की कविता 'धीरे-धीरे' की पंक्तियां प्रासंगिक है-

[1] उद्धृत, मैनेजर पाण्डेय (2013) भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा, वाणी प्रकाशन, पेज नं,15

'कुछ भी एकाएक नहीं होता

जन्म लेने से पहले

गर्भ में पलते शिशु की तरह

सब कुछ पल रहा है समय की कोख में।'[2]

धर्म, वर्ण, नस्ल, जाति, कट्टरता, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता जैसी प्रवृत्तियां सदियों से आज भी हमारे बीच मौजूद हैं। हमारे समाज की समस्त विषमताएं, अन्तर्विरोध और झगड़े-फसाद इन्हीं प्रवृत्तियों के ख़िलाफ़ अनवरत संघर्ष जारी है। जहां शेष दुनिया में नस्ल और धर्म की कट्टरता नफ़रत और तनाव पैदा करने वाले कारक के रूप में उभरे हैं, वहीं भारत में 'जाति-प्रथा' नफ़रत, तनाव, भेदभाव और उत्पीड़न का फिर से एक इतिहास रचने वाले कारक के रूप में उभरी है।

भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था अत्यन्त प्राचीन संस्था है। इसने भारतीय समाज में अनेक प्रकार की विषमताओं को जन्म दिया तथा असमानता की खाई को और अधिक खोदने का काम किया। काफ़ी लंबे समय से यह भारतीय समाज को अपनी कुंडली में जकड़े हुए है। जन्म तथा छलावे पर आधारित भेदभाव की पारंपरिक रीति को उखाड़कर इस समाज को अधिक समतावादी बनाने के मार्ग में यह व्यवस्था आज भी गंभीर बाधा बनी हुई है। सुवीरा जायसवाल लिखती हैं कि 'जाति पर आधारित अस्मिताएं समकालीन भारतीय राजनीति में एक प्रबल शक्ति के रूप में उभर आई हैं और इस प्राचीन संस्था से उत्पन्न असमानताओं तथा शोषण के निराकरण की माँगों से जाति के सारतत्व तथा गतिकी के प्रश्न पर विद्वज्जगत में भरपूर नए चिंतन का जन्म हुआ है। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि भारतीय जनता जातीय मानसिकता से बुरी तरह ग्रस्त है। इसलिए जाति के धर्म, नैतिकता तथा कानून का अभिन्न अंग होने की पारंपरिक मान्यताओं को अधिक चुनौती दी जा रही है। बल्कि आधुनिक परिस्थितियों में उन्हें अस्वीकार भी किया जा रहा है तथापि जातीय संरचना भारतीय समाज की एक प्रमुख विशेषता के रूप में आज भी विद्यमान है।'[3] निष्कर्ष रूप में देखा जाय तो जाति एक ऐसी सोपानबद्ध सामाजिक-व्यवस्था मानी जाती रही है जिसके मूल उस धार्मिक

[2] निर्मला पुतुल: नगाड़े की तरह बजते शब्द

[3] साभार- सुवीरा जायसवाल :जाति वर्ण व्यवस्था-उद्भव, प्रकार्य और रूपांतरण, (भूमिका-15)-आंद्रे बेतेई, दि रिप्रोडक्शन आफ इनइक्वलिटी: अक्युपेशन, कास्ट एंड फैमिली, कट्रीयूशंस टू इंडियन सोशियोलोजी (न्यू.सि.) जिल्द-25 (1991) पेज नं.-3-28, जो के.एल.शर्मा संपादित सोशल इनइक्वलिटी इन इंडिया (नई दिल्ली, 1995) में पुनर्मुद्रित किया गया है, पेज नं.115-47

सिद्धांत में बसे हुए हैं जो सामाजिक समूहों को जन्मजात पवित्र या अपवित्र प्रस्थिति प्रदान करता है और इन प्रस्थितियों की वैधता सिद्ध करने के लिए कर्म के सिद्धांत का सहारा लेता है।

भारतवर्ष में शताब्दियों से उच्च जातियां दलितों के मानवाधिकारों का हनन करती आई हैं जिसके परिणामस्वरूप दलितों को अत्याचारों से प्रभावित होकर समय-समय पर आंदोलन छेड़ने की आवश्यकता पड़ती रही है। जाति-विरोध की परंपरा कोई एक साल या दो साल की बात नहीं है। यह तीन हजार साल से चली आ रही परंपरा है जो आज तक जीवित है। ऐतिहासिक दबाओं और सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप साहित्य-जगत में नयी धाराओं, प्रवृत्तियों, आंदोलनों का उदय होता रहता है। साहित्य की गतिशीलता का यह सबसे बड़ा कारण है। जाहिर सी बात है कि वर्तमान को समझने के लिए अतीत को समझना जरूरी होता है। जाति-विरोध की भी अपनी एक इतिहास और परंपरा रही है। जब सामाजिक व्यवस्था का गठन हुआ या यों कह लें कि समाज-व्यवस्था अस्तित्व में आयी तबसे हम जातिगत भेदभाव भी देख सकते हैं। जातिगत भेदभाव के चलते ही समाज में विषमता व्याप्त हो गयी थी और फलस्वरूप लोग इसके विरोध में आंदोलन भी कर रहे थे। ऋग्वेद के दसवें मंडल में आए एक सूक्त के अनुसार आदि पुरूषब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से राजपूत (क्षत्रिय) उरू (पेट) से वैश्य और पांव से शूद्र उत्पन्न हुए। कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के इस अंश को प्रक्षिप्त माना है। जो हो, वैदिक समाज दर्शन में वेद और ब्राह्मण को सर्वोच्चता प्राप्त है। लेकिन इस सर्वोच्चता को प्राचीन काल से ही चुनौती मिलती रही है। प्राचीन सम्प्रदायों में से एक लोकायत सम्प्रदाय या चार्वाक मत ने सम्भवतः सबसे पहले वैदिक व्यवस्था को प्रश्नों के घेरे में लाने की कोशिश की। यह दीगर बात है कि लोकायत सम्प्रदाय बहुत व्यापक व दीर्घजीवी नहीं हो पाया लेकिन, उसके बाद दूसरे मतों का उदय हुआ जिन्होंने प्रतिरोध की इस परंपरा को बनाए रखा।

धर्म दर्शन और विचार के क्षेत्र में ईसा पूर्व छठी शताब्दी का समय बहुत हलचलों से भरा है। इस वक्त अनेक मतों का उदय हुआ। इनमें जैन मत व बौद्धमत बहुत प्रभावशाली साबित हुए। जैन मत के प्रवर्तक के रूप में महावीर स्वामी तथा बौद्धमत के प्रवर्तक के रूप में गौतम बुद्ध प्रसिद्ध हुए। गौतम बुद्ध का दर्शन करूणा पर आधारित था। उन्होंने वर्णवाद का पूर्ण रूप से खण्डन किया जो कि जन्म पर आधारित था और बौद्ध संघ में अवर्णों को भी स्थान दिया। बौद्ध धर्म से ही जाति-प्रथा के विरूद्ध पहले विद्रोह की शुरूआत मानी जाती है। 'विश्व इतिहास में पूरी की पूरी छठी शताब्दी (ई.पू.) धर्म सुधार और मानव-धर्म की स्थापना का काल था। यह शताब्दी भारतीय इतिहास और संस्कृति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यही वह काल है, जब भारत में जैन और बौद्ध जैसे दो

मानवतावादी धर्मों का उदय हुआ, जिसने न केवल हिन्दू धर्म, बल्कि पारम्परिक समाजों की भी चूलें हिला दीं। यज्ञ-हिंसा के विरूद्ध अहिंसावाद और धार्मिक-सामाजिक दृष्टि से मानवीय समानता का सिद्धान्त भारतीय धर्म और दर्शन में पहली बार लागू हुआ। बुद्ध ने न केवल पुरोहितवाद और यज्ञ-हिंसा का विरोध किया, बल्कि जाति प्रथा को पहले सिरे से नकार दिया।' गौतम बुद्ध के बाद अशोक के शासन काल में यह मत तेजी से फैला और इसने दूसरे देशों में भी स्वीकृति पायी। जब भारत में ब्रिटिश शासन का आगमन हुआ तो दलितों की स्थिति में कुछ परिवर्तन आये। ब्रिटिशों ने शिक्षा व्यवस्था सबके लिए लागू की। सामाजिक स्थिति को देखकर इस काल में जाति विरोधी एवं सवर्ण तथा दलित आंदोलन का जन्म हुआ। ये आंदोलन दो वर्गों में बंट गए पहला गैर दलित तथा दूसरा दलित आंदोलन। जहां जाति विरोधी गैर-ब्राह्मण आंदोलन महाराष्ट्र तथा तमिलनाडू में फैले वहीं दलित आंदोलन सम्पूर्ण देश में फैला। जैसे कि पंजाब में आदि-धर्म आंदोलन, उत्तर प्रदेश में आदि-हिन्दू आंदोलन, केरल में नारायण गुरू का आंदोलन, तमिलनाडू में आदि-द्रविड़ आंदोलन कुछ बड़े दलित आंदोलन थे।

भारतीय सभ्यता का जब विकास हुआ तब हमें कहीं भी जाति और वर्ण शब्द के स्वर नहीं सुनाई पड़ते हैं। भारतीय इतिहास में जब युद्धों की संस्कृति ने पनपना शुरू किया तो वहां हमें राजा-महाराजाओं के साम्राज्यों, उनकी शासन पद्धतियों और जय-पराजय की गाथाओं का लेखा-जोखा मिल जायेगा। आर्य-अनार्य का संघर्ष वहां से छिटपुट रूप में जातीय भेदभाव का चेहरा लोगों में दिखने लगता है। जातीय भेदभाव के विरोध की परंपरा कई साल पुरानी है। इतिहास बताता है कि इसके ख़िलाफ़ आंदोलन और समाज में समानता के प्रचार-प्रसार के लिए सामाजिक आंदोलन हुए। साहित्य में अपने समय का प्रभाव हावी होता है। साहित्य भी अपने समय और समाज से परे नहीं होता है। इसीलिए प्रत्येक समय का साहित्य कालबद्ध होता है।

जाति-विरोध की परंपरा के अग्रदूत के रूप में गौतम बुद्ध सर्वप्रमुख और सर्वप्रथम ऐसे व्यक्तित्व हैं जिन्होंने समाज में फैली सामाजिक विषमता के ख़िलाफ़ आवाज उठायी। उन्होंने जाति-प्रथा को चुनौती देकर इस देश में एक महान आंदोलन की नींव डाली जो, प्रायः अश्वघोष, सिद्ध-नाथ, कबीर, रैदास, फुले, अम्बेडकर, गांधी तक चलता आया है और आज भी चल रहा है। गौतम बुद्ध ने मनुष्य की मर्यादा को यह कहकर ऊपर उठाया कि 'कोई मनुष्य केवल ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से पूज्य नहीं हो जाता, न कोई शूद्र होने से पतित हो जाता है। उच्चता और नीचता जन्म पर नहीं, कर्म

पर टिका हुआ है। इसलिए ब्राह्मण भी पतित हो सकता है और शूद्र भी अपने को पूजा योग्य बना सकता है।' हिन्दू धर्म ग्रन्थों जैसे वेदों ने यज्ञ का अधिकार केवल द्विजों को दिया था और जब उपनिषदों की संख्या बढ़ी, तब ब्राह्मणों ने उन्हें भी ब्रह्म-विद्या का नाम देकर शूद्रों और स्त्रियों की पहुंच से बाहर कर दिया। इसके विपरीत गौतम बुद्ध ने चारों वर्णों और स्त्रियों को धर्म का अधिकार समान रूप से दे दिया। यह ब्राह्मण धर्म के ख़िलाफ़ सबसे बड़ी बगावत थी, बौद्धों को जिस तरह से भारत से खदेड़ा गया वह इसी विद्रोह के कारण, ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्म को भारत से समूल रूप से खत्म कर दिया। इसीलिए इतिहास में नज़र डालने पर पता चलता है कि जिस तरीके से बौद्ध धर्म की नींव पड़ी थी उससे भी बुरी तरीके से उसका पतन हुआ।

बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसने जाति-प्रथा के समक्ष अपना मस्तक कभी नहीं झुकने दिया। बौद्ध धर्म ने जातिवाद का डटकर विरोध किया, उसी से मध्यकाल में जाकर निर्गुण मत का प्रचार करने वाले सन्तों को यह साहस हुआ कि उन्होंने भी जाति प्रथा को नहीं माना। बहुत सी बातों में निर्गुनियां सन्त, बुद्ध के खानदान में पड़ते हैं और उनका वैराग्य, उनकी निवृत्तिवादिता, उनका फक्कड़पन, उनका सभी जातियों को बराबर मानने का आग्रह और उनका यह विश्वास कि देवता का निवास मन्दिर में नहीं, मनुष्य के हृदय में है, ये सभी बातें बौद्ध धर्म की अच्छी और फिर बाद में बिगड़ी हुई परंपरा से निकली है। अगर बुद्ध का आगमन नहीं होता तो इस देश में दादू और कबीर, नानक और हरिदास निरंजनी में से कोई भी नहीं हुआ होता। जाति-विरोध की परंपरा के बीज गौतम बुद्ध ने डाले थे जिसका अनुकरण कर सिद्ध-नाथ आदि ने जाति-व्यवस्था का पुरजोर विरोध किया। जाति-व्यवस्था को शिथिल करके एवं वर्णाश्रम-धर्म को चुनौती देकर बुद्ध और इनकी परंपरा के अन्य साधुओं ने ही भारत में वह अवस्था उत्पन्न की, जिसमें निर्गुनियां सन्तों का मत फल-फूल सका। इस देश में विशाल मानवता का आंदोलन बुद्ध का ही चलाया हुआ है और उनके समय से यह आंदोलन बराबर चलता ही आ रहा है।

जाति व्यवस्था के ख़िलाफ़ आंदोलन करने वाले समर्थक के रूप में गौतम बुद्ध की महत्ता स्थापित करते हुए रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं – "बुद्ध के समय से ही यहां दो तरह की विचारधाराएं चलती आ रही हैं। एक वह, जो जातियों का भेद नहीं मानती और दूसरी वह, जो वर्णाश्रम-धर्म का समर्थन करके विभिन्न जातियों को अपनी-अपनी जगह पर कायम रखना चाहती हैं। पहली धारा के नेता बुद्ध और उनके अनुयायी तथा बाद के निर्गुनियां सन्त हैं तथा सिद्ध साधु, कबीर

और दादू दयाल उसके कवि हैं। इसी तरह, दूसरी धारा के नेता ब्राह्मण आचार्य हुए, जिन्होंने बार-बार बौद्ध धर्म को दबाकर वर्णाश्रम धर्म को ऊपर उठाने की कोशिश की और जो स्मृतियां रचकर जाति-प्रथा को और भी पुष्ट करते रहे। इसी धारा के मुख्य कवि विद्यापति (नैबन्धिक विद्यापति) और तुलसीदास हैं। वैष्णव मत में जहां कहीं यह विचार आता है कि कम से कम भगवान के भक्तों में जातियों के भेद नहीं होते, वह बुद्ध की ही परंपरा का प्रभाव समझा जाएगा।"[4]

यह अकारण नहीं है कि जिस भारत देश में हिन्दू धर्म तथा ब्राह्मणवादी व्यवस्था की वर्चश्वशाली परंपरा रही है, जो वर्णाश्रम-व्यवस्था को यथास्थिति बनाए रखने में एड़ी-चोटी का जोर लगाती रही उसी भारत देश में गौतम बुद्ध का इस जाति-व्यवस्था को समूल रूप से विनाश कर समतावादी, बंधुता व्यवस्था को स्थापित करने में काफ़ी अतुलनीय योगदान रहा है। गौतम बुद्ध का दर्शन करूणा पर आधारित था, जन्म पर आधारित वर्णवाद का खण्डन करके उन्होंने बौद्ध संघ में दलितों को भी स्थान दिया। अशोक के शासन काल में (गौतम बुद्ध ने जिस धर्म की प्रतिष्ठा की) 'बौद्ध धर्म' का प्रचार-प्रसार बहुत तेजी से हुआ तथा दूसरे देशों में भी इसे स्वीकृति मिली। धर्मकीर्ति, नागार्जुन, दिगनांड्ग आदि बौद्ध दार्शनिकों की ऐसी परंपरा के समर्थक थे जिन्होंने ब्राहमण मत का जोरदार खण्डन किया। अश्वघोष इसी परंपरा के कवि थे। उन्होंने 'वज्रसूची' जैसा ग्रंथ लिखा। वह केवल महान कवि और नाटककार ही नहीं थे, वे बौद्ध दर्शन की तेजस्वी आलोचनात्मक चेतना की परंपरा के प्रवर्तक और क्रान्तिकारी सामाजिक चिन्तक भी थे। अश्वघोष की 'वज्रसूची' प्राचीन भारतीय साहित्य में संभवतः पहली ऐसी रचना है, जिसमें वर्णभेद तथा जातिभेद पर टिकी व्यवस्था, उस व्यवस्था के नियामक संचालक ब्राह्मण वर्ग, उनकी विचारधारा और उस विचारधारा का पाखण्ड का पर्दाफाश किया गया है। वज्रसूची वर्णभेद और जातिभेद के विरूद्ध वैचारिक संघर्ष का घोषणा-पत्र है।"[5] बौद्ध धर्म को सुचारू रूप से चलाने और जातिगत व्यवस्था को पूरी तरह से जड़ से उखाड़ने का इन्होंने भरसक प्रयत्न किया किन्तु जातिवादी ताकतें अपना वर्चस्व इस कदर जमाए हुए थीं कि बौद्ध धर्म ज्यादा दिनों तक नहीं टिक पाया और धीरे-धीरे इसका अस्तित्व खत्म होता रहा। सातवीं शताब्दी के शुरूआती दौर में ही बौद्ध मत अपनी मातृभूमि से लगभग गायब हो गया। इसके दो

[4] रामधारी सिंह दिनकर (2010) संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, पेज.नं.147

[5] मैनेजर पाण्डेय (2013)भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पेज नं.114-15

कारण बताते हुए **रामधारी सिंह दिनकर** लिखते हैं कि "एक तो यह कि जनाग्रह के कारण उसे हिन्दू रूप धारण करने को लाचार होना पड़ा। इस प्रकार वह जहां से आया था, वहीं लौट गया। दूसरा यह कि उसकी समाप्ति मुस्लिम आक्रमण के कारण हुई, क्योंकि मुसलमानों ने संघों और विहारों को नष्ट कर दिया और इनके विनष्ट हो जाने से बौद्ध धर्म नहीं जी सकता था।"[6] बौद्ध धर्म के नष्ट होने के ये दो कारण तो थे ही इसके अतिरिक्त ऐसे कई कारण थे जिसने बौद्ध धर्म की विलुप्तिकरण में अपनी भूमिका निभायी। कई कारणों में से एक कारण ब्राह्मण मतानुयायी राजाओं की क्रूरतापूर्ण कार्रवाइयां भी थी। लेकिन बौद्धमत पूरी तरीके से लुप्त भी नहीं हुआ। आगे चलकर वह **सिद्धमत / सहजयान / तन्त्रयान** के रूप में बचा रह गया।

जाति-विरोध की परंपरा में अगले कड़ी के रूप में सिद्धों-नाथों का प्रमुख योगदान था। सिद्धों के प्रमुख और प्रधान कवि 'सरहपा' थे। राहुल सांकृत्यायन ने 'सरहपा' को 'हिन्दी का पहला कवि' माना है। सरहपा की आलोचनात्मक प्रतिभा बड़ी प्रखर थी। वे ब्राह्मणों और वेदों पर कटाक्ष करते हैं –

'बहमणो हि न जानंत हि भेउ, एवइ पढ़िअउ ए च्चवेउ।'-सरहपा

(ब्राहमण झूठ-मूठ वेदों को पढ़ते हैं, पर परमार्थ का रहस्य नहीं जानते)।

अपने **दोहा-कोश** नामक ग्रंथ के शुरू में सरहपा ने उस वक्त के सभी धर्म-मतों की तीखी आलोचना की है। सरहपा की बहुत सी बातें सन्त कवि कबीर की वाणियों में यथावत मिलती हैं। नाथपंथियों ने भी वर्ण, धर्म के प्रति अपनी प्रतिकूल भूमिका निभायी। गोरखनाथ की वाणियां सादगीपूर्ण जीवन का पक्ष लेती हैं। नाथ परंपरा और नाथों को वेद विरोधी तथा अन्ध विश्वास का समर्थन न करने वाले सिद्ध करते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं –"आज की वयनजीवी जातियों में से अधिकांश किसी समय ब्राह्मण श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करती थीं। जोगी नामक आश्रमभ्रष्ट घर-बारियों की एक जाति सारे उत्तरी और पूर्वी भारत में फैली थी। ये नाथ पन्थी थे, कपड़ा बुनकर या सूत कातकर या गोरखनाथ या भरथरी के नाम पर भीख माँगकर जीविका चलाया करते थे। इनमें

[6] संस्कृति के चार अध्याय, पेज नं.194

निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी; जाति भेद और ब्राह्मण श्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी और न अवतारवाद में ही इनकी कोई आस्था थी ।"[7]

सिद्धों और नाथों को जातिवाद तथा वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोधी साबित करते हुए रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं कि 'ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानों के आने से पहले इस देश में एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी, जो ब्राह्मणों से असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रम के नियमों की कायल नहीं थी । नाथपन्थी योगी ऐसे ही थे ।"[8] इस प्रकार आरम्भिक दौर में जाति-विरोध की परंपरा के पुरोधाओं के रूप में क्रमश: गौतम बुद्ध, सिद्ध, नाथ थे जो बाद में इनसे होती हुई मध्यकाल के दलित संतों तक पहुंची ।

मध्यकाल एक ऐसा ऐतिहासिक दौर था जब भक्ति आंदोलन का उदय हुआ । भारत में भक्ति आंदोलन ने जाति-विरोध की परंपरा को आगे बढ़ाया । यह अपने प्रांरभिक रूप में भक्ति को न लेकर बल्कि सामाजिक आलोचना को लेकर आगे बढ़ा था जिसे आज निर्गुण परंपरा कहते हैं । इसमें अधिकांश अवर्ण तबकों से रचनाकार शामिल हुए थे । इनमें कबीर (जुलाहा), रैदास (चर्मकार), सेन (नाई), सदना (कसाई), दादू (धुनिया), नामदेव, कूबाजी आदि थे । पीपा, चोखामेला, धन्ना, सहजोबाई जाति-विरोध-परंपरा की जो धारा बुद्ध, सिद्धों और नाथों से होती हुई मध्यकाल में कबीर तक पहुंची थी, उसे कबीर ने दलित धारा का रूप दिया और अपने समकालीन संपूर्ण हिन्दू-मुस्लिम समाज को उद्वेलित कर दिया । दलित संतों के युग को आध्यात्मिक विद्रोह का युग मानते हुए कंवल भारती 'दलित विमर्श की भूमिका' में लिखते हैं कि ''दलित संतों के युग को आध्यात्मिक विद्रोह का युग भी माना जा सकता है । उन्होंने उन तमाम आध्यात्मिक मूल्यों से विद्रोह किया, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद करते थे । वे सामाजिक समता के साथ-साथ आर्थिक समता भी चाहते थे ।''[9]

सन्त रैदास चमार वर्ण के थे । रैदास जी के जन्म की महिमा पर विशिष्ट प्रकाश डालते हुए लेखक श्री किशोरीदास जी वाजपेयी, शास्त्री **चाँद** के *अछूत अंक* में लिखते हैं-"जिस समय रैदास का

---

[7] वही, पेज नं.193

[8] वही, पेज नं.193

[9] कंवल भारती (2007)दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पेज नं.104

उदय हुआ था, वह यह युग न था; वह था अब से लगभग चार सौ वर्ष से पूर्व का अन्धकारपूर्ण काल ! महाभारत के बाद अस्पृश्यता का जन्म हुआ, और रैदास के समय में उसने यौवन प्राप्त किया । उस समय देश और समाज में भिन्न-भिन्न अत्याचार, अनीति बहिष्कार आदि दुर्गुण उत्पन्न हुए । ऐसे समय में रैदास महाराज ने विश्वनाथपुरी काशी में अपना झण्डा गाड़ा, जिसके नीचे प्रायः अधिकांश भारत आ गया था । विरोधी भी अपनी करनी में चूकते न थे; पर भगवान भास्कर को बेचारे राहु-केतु कितनी देर तक रोक सकते हैं? रैदास जी की महिमा तथा सदुपदेश की मंदाकिनी इस वेग से बही कि छोटे-मोटों की कौन कहे, बड़े-बड़े द्विज और राजा-महाराजा तक आपके शिष्य हो गए ।"[10] सन्त रैदास के काव्य की सौन्दर्य-चेतना इस रूप में हमें मिलती है जब वे अपने समय में जाति-प्रथा का सशक्त विरोध कर रहे थे-

'बाभन को मत पूजिए जो हो गुन से हीन

पूजिए चरण चण्डाल के, जो गुन ज्ञान प्रवीन ।'[11]

रैदास के बाद कबीरदास एक प्रखर समाज-सुधारक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं । सन्त कबीर स्वभाव से ही खरे और विद्रोही थे, सीधी-सीधी सुनाते थे बिना किसी लाग-लपेट के । ये वैष्णव थे, अवतारवादी थे किन्तु मूर्तिपूजक नहीं थे । कबीर को वज्रयानी परंपरा से जोड़ते हुए रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं- "जब कबीरदास का आविर्भाव हुआ, उस समय वैष्णव सहजयान अपने उत्कर्ष पर था । जहां तक योग की महत्ता और अनुष्ठानों की व्यर्थता का प्रश्न है, कबीर वज्रयानी परंपरा के उत्तराधिकारी हुए और उन्होंने ठीक उन्हीं दिशाओं में काम किया, जिन दिशाओं का संकेत वज्रयानी संतों ने किया था ।"[12] डॉ.अम्बेडकर ने अपने गुरूओं में कबीर की गिनती भी की है । समकालीन दलित विमर्श में कबीर और रैदास को केन्द्रीयता मिलने का सबसे बड़ा कारण उनका स्वाभिमानयुक्त व्यक्तित्व है । भक्ति आंदोलन ने जिन सवालों को उठाया वे जाति वर्चस्व का समूल रूप से विनाश के लक्ष्य से उपजा था ।

---

[10] संपादक. तिवारी, नन्दकिशोर (1938) चाँद-अछूत अंक, वर्ष 5, खण्ड2, संख्या-1, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पहली आवृत्ति, पेज नं.28

[11] दलित विमर्श की भूमिका, पेज नं.104

[12] संस्कृति के चार अध्याय, पेज नं.184

भक्तिकाल के बाद 19वीं शताब्दी में जाति-विरोध की परंपरा को फुले, अम्बेडकर ने आगे बढ़ाया। दलित समाज में जागृति लाने और सम्पूर्ण समाज में मानवीय गरिमा तथा स्वाभिमान का आंदोलन छेड़ने में फुले-अम्बेडकर का अभूतपूर्व योगदान रहा। 19वीं शताब्दी को नवजागरण काल के नाम से भी जाना जाता है। नवजागरण की शुरूआत हम बंगाल से मानते हैं क्योंकि राजा राममोहन राय (प्रार्थना समाज), रामकृष्ण और विवेकानंद आदि बंगाल से ही थे, जिन्होंने सामाजिक सुधार का कार्य किया। किन्तु वास्तव में जिसे हम नवजागरण कह सकते हैं उसकी लहर महाराष्ट्र से शुरू हुई। यह लहर दलित मुक्ति के आंदोलन की थी, जिसने न सिर्फ भारत का बल्कि पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट किया था।

ग़ौरतलब है कि नवजागरण के नाम से शुरू हुए 19वीं शताब्दी में सामाजिक सुधार आंदोलन को हिन्दी साहित्य में आधुनिक काल के नाम से भी जाना जाता है। इसमें ऊंचे घरानों से संबंधित समाज-सुधारक थे जिन्होंने समाज के कुछ गिने-चुने कुरीतियों पर ही ध्यान दिया तथा उसको नाश करने का बीड़ा उठाया था। भारतीय इतिहास में इन्हें ही महत्वपूर्ण दर्जा भी दिया गया। इसे घोर विडम्बना ही कहा जायेगा कि हिन्दी साहित्य तथा भारतीय इतिहास में उन लोगों को दर किनार कर दिया गया जिन्होंने ऐसे तबकों के लिए लड़ाई लड़ी जो तीन हजार साल से अस्पृश्यता की दासता से पीड़ित थे। ये भी एक सामाजिक सुधार ही था जिस पर उच्च वर्ण के लोगों का ज्यादा ध्यान ही नहीं गया। महात्मा ज्योतिबा फुले तथा बाबासाहब अम्बेडकर पिछड़ी जाति और दलितों के अग्रदूत थे जिन्होंने दलित होने की पीड़ा को सहा भी और उससे स्वयं को ही न केवल मुक्त किया बल्कि समस्त उत्पीड़ित समाज को मुक्त करने का आवाहन तथा आंदोलन भी किया।

ज्योतिबा फुले (1827-1890) तथा बाबासाहब अम्बेडकर (1811-1956) ने अपना पूरा जीवन वर्ण जाति के खात्मे व जनतान्त्रिक समाज की रचना में लगा दिया। बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर ने जिन व्यक्तियों से प्रेरणा ली थी, उनमें से ज्योतिबा फुले एक थे। महात्मा फुले समाजकर्मी के साथ-साथ शिक्षक भी थे। उन्होंने 1873 में 'सत्यशोधक समाज' की स्थापना की थी और इसी वर्ष उनकी क्रांतिकारी पुस्तक 'गुलामगिरी' प्रकाशित हुई थी। उनकी रचनाओं में शोषक तबके के ख़िलाफ़ जबरदस्त आक्रोश है। वह 'गुलामगिरी' की प्रस्तावना में लिखते हैं- 'गुलामी की अवस्था में गुलाम लोगों को, गुलाम जातियों को कितनी यातनाएं बरदाश्त करनी पड़ती हैं, इसे स्वयं अनुभव किए बिना अंदाज़ा करना नामुमकिन है। जो सहता है, वही जानता है।' ज्योतिबा फुले और उनकी पत्नी सावित्रीबाई फुले ने सर्वप्रथम भारत में स्त्रियों की शिक्षा के लिए स्कूल खोले और अनेक

हमले झेलते हुए अपना अभियान जारी रखा । ये पहले ऐसे दम्पत्ति थे यहां जिन्होंने अछूतों और भारतीय स्त्रियों के लिए स्कूल खोलने की पहल की। सवर्ण और अवर्ण के बीच जो रंगभेद की पीड़ा थी उसका कटु अनुभव महात्मा फुले को था, वे इसके प्रत्यक्षद्रष्टा थे।

ज्योतिबा फुले के समकालीन केरल में नारायण गुरू (1854) जाति प्रथा के ख़िलाफ़ आंदोलन चला रहे थे। वह केरल की ईझवा नाम की दलित जाति में पैदा हुए थे। उन्होंने सभी मनुष्यों के लिए 'एक जाति, एक धर्म और एक ईश्वर' की घोषणा की थी। उनका लोकप्रिय नारा था, 'जाति मत पूछो, जाति मत बताओ और जाति के बारे में मत सोचो।' वर्ण-व्यवस्था के ख़िलाफ़ उनके विद्रोह का जो तरीका था, वह पूरी तरह से क्रांतिकारी था।

दक्षिण भारत में जाति-प्रथा और ब्राह्मणवाद के विरूद्ध आंदोलन चलाने वाले पेरियार रामास्वामी नायकर (1879-1973) थे । रामास्वामी नायकर को दक्षिण भारत में ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़ व्यापक जन-चेतना जागृत करने का श्रेय दिया जाता है । रामास्वामी नायकर अछूत और पिछड़ी जातियों तथा स्त्रियों की शिक्षा के प्रबल समर्थक थे। इसमें बाधा डालने वाले ब्राह्मणों के लिए उनका मानना था कि उन्हें हमेशा के लिए शिक्षा से वंचित कर देना चाहिए तभी हम वर्णव्यवस्था को एक हद तक खत्म कर सकते हैं। ब्राह्मणों तथा उच्च वर्गों द्वारा किया गया आंदोलन एक प्रकार से हिन्दू जागरण था जबकि महात्मा फुले, नारायण गुरू, उत्तर भारत में स्वामी अछूतानंद (1879-1933), मध्य प्रदेश क्षेत्र में गुरू घासीदास (1756) और बंगाल में चांद गुरू (1850-1933) द्वारा किया गया आंदोलन जाति-भेद के ख़िलाफ़ एक जन जागरण था । गुरू घासीदास ने 1800 के आस-पास छत्तीसगढ़ के इलाकों में जातीय भेदभाव के विरूद्ध मुहिम चलाई थी । उनका जन्म गिरौद गांव के दलित परिवार में हुआ था । 'सतनामी संप्रदाय' की स्थापना कर उन्होंने दलित जातियों को 'सतनामी' संप्रदाय में शामिल किया। जातीय भेदभाव को समाप्त करने में सतनामी आंदोलन ने बहुत बड़ी भूमिका निभायी। सतनामी धर्म के बारह नियम थे जिसमें मनुष्य को मानव-जाति माना गया है, अंहिसा पर बल, सतधर्म ही मनुष्य का धर्म है, अंधविश्वास से दूर रहना, भाईचारा, स्त्री-पुरूष समानता, मूर्तिपूजा का निषेध, मेहनत पर बल, हीन भावना का त्याग और अपनी व्यवस्था पर अटलता तथा जीवित शरीर को मुर्दा मत बनाओ । गुरू घासीदास के आंदोलन के तीन सूत्र थे-

'सतनामी बनो, संगठन बनाओ और संघर्ष करो' । इस प्रकार से देखा जाय तो डॉ.अम्बेडकर से पहले दलित जाति के लिए संगठन और संघर्ष का जो सूत्र है वह एक शती पहले गुरू घासीदास ने छत्तीसगढ़ में दिया था ।

1891 में डॉ.भीमराव अम्बेडकर का जन्म होता है जो दलित जाति में ही पैदा हुए । दलित जीवन का क्या दुःख होता है उसके कैसे-कैसे दंश झेलने पड़ते हैं, उसे भीमराव अम्बेडकर ने ताउम्र अपनी आंखों से देखा और जिया । सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों को डॉ.भीमराव ने न सिर्फ़ देखा था बल्कि लगातार झेला भी था । इसका प्रतिकार करने के लिए उन्होंने दलित समुदाय को जागृत करने का अथक प्रयास किया । डॉ.अम्बेडकर ने बहुत सी किताबें भी लिखीं । जिनमें भारत में 'जाति प्रथा का उन्मूलन', 'क्रान्ति प्रतिक्रान्ति', 'हिन्दू धर्म की पहेलियां', 'शूद्र कौन थे', 'बुद्ध और उनका धम्म' आदि है । उन्होंने दलितों के हित के लिए महाड़ आंदोलन (1927) और नासिक कालाराम मन्दिर प्रवेश (1930) के लिए आंदोलन चलाया ।

बिपन चन्द्रा 'आधुनिक भारत का इतिहास' में ज्योतिबा फुले और बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर दोनों के अथक योगदान का वर्णन करते हैं- "महाराष्ट्र में 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में एक निचली जाति में जन्मे ज्योतिबा फुले ने ब्राह्मणों की धार्मिक सत्ता के ख़िलाफ़ जीवन भर आंदोलन चलाया । यह ऊंची जातियों के प्रभुत्व के ख़िलाफ़ उनके संघर्ष का एक अंग था । वे आधुनिक शिक्षा को निचली जातियों की मुक्ति का सबसे शक्तिशाली अस्त्र समझते थे । वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने निचली जातियों की लड़कियों के लिए अनेक स्कूल खोले । डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर ने जो खुद एक अनुसूचित जाति के थे, अपना पूरा जीवन जातिगत अत्याचार विरोधी संघर्ष को समर्पित कर दिया । इसके लिए उन्होंने अखिल भारतीय अनुसूचित जाति महासंघ की स्थापना की । अनुसूचित जातियों के दूसरे अनेक नेताओं ने अखिल भारतीय वंचित वर्ग संघ की स्थापना की ।"[13] 1956 में बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर ने निर्वाण प्राप्त किया । अपने जीवित रहते हुए उन्होंने पूंजीवाद और ब्राह्मणवाद इन दो शत्रुओं की पहचान की । उनका सारा जीवन इनसे लड़ते हुए बीता । उनके मृत्यु के समय पहली पंचवर्षीय योजना बीत चुकी थी और दूसरी चल रही थी । स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भारतीय जनता से जो वायदे किये गये थे वो सारे झूठे सिद्ध होते दिख रहे थे । जनता द्वारा स्वतन्त्रता संग्राम में

[13] बिपन चन्द्रा (2008) आधुनिक भारत का इतिहास (लेख) धार्मिक और सामाजिक सुधार, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पुनर्मुद्रित-2010, पेज नं.237

जो बलिदान दिया गया वो भी व्यर्थ जाते दिखाई दे रहे थे। ऐसे में बड़े पैमाने पर असन्तोष का बढ़ना लाज़िमी था। हिन्दी कविता में साठोत्तरी काल को विद्रोही पीढ़ी, भूखी पीढ़ी आदि नाम दिए गए हैं। इस दौर में दलित साहित्य में कुछ इसी तरह की पीढ़ी आयी थी। आजादी के खोखलेपन को उघाड़ती, ब्राह्मणशाही के आतंक का बयान करती इस पीढ़ी का प्रतिनिधि स्वर मराठी दलित कवि 'नामदेव ढसाल' के यहां सुनने को मिलता है। उनकी कविता पुस्तक 'गोलपीठा' की 'लहू से प्रज्जवलित अनगिनत सूरज' की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य हैं –

'मरते दम तक रहें क्यों युद्ध कैदी?

वह देखो, वह देखो,

मिट्टी की अस्मिता आसमाँ तक पहुंच

चुकी है।

मैंने भी जी भर के

जिन्दाबाद की घोषणा की है

लहू से सने हुए अनगिनत सूर्यों

अब शहरों-शहरों को

आग के हवाले करते चलो।'[14]

दलित जीवन का आधार संघर्ष है, यह संघर्ष आज का नहीं कई सदियों का संघर्ष है। इनका संघर्ष ब्राह्मणशाही, सामन्तशाही-पूंजीपतियों के ख़िलाफ़ हैं। इसलिए अब तक जहां इस संघर्ष को स्वाभाविकता समझकर नज़रअंदाज किया जा रहा था वहीं 20वीं सदी में हुए आंदोलनों ने इस पूरे संघर्ष को दुनिया के तमाम अत्याचारों के विरूद्ध चलाए जा रहे संघर्ष के साथ जोड़कर सामने रखा है।

महाराष्ट्र में दलित आंदोलन के संघर्ष की जो ज़मीन बाबासाहब तय कर रहे थे उसी समय हिन्दी पट्टी में भी दलित समुदाय के चिन्तक-लेखक एक नए सिरे से संगठित और सक्रिय हो रहे थे। इन्होंने समस्त उत्पीड़ित, दलित, अछूत जनों के पक्ष में आवाज उठायी। बीसवीं सदी के दूसरे-तीसरे

[14] नामदेव ढसाल (2016) गोलपीठा, सं.मोहनदास नैमिशराय, रजनी तिलक, अनु.शेखर, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, , पेज नं.38

दशक में सक्रिय ऐसे दलित रचनाकारों में हीराडोम, अछूतानंद 'हरिहर', केवलानन्द आदि हैं। 'अछूत की शिकायत' हीराडोम की प्रसिद्ध कविता है, उनकी केवल एक ही कविता हमें मिलती है। हीराडोम की कविता दलित चेतना के विकास का रूप है। इस कविता में दलित चेतना का दर्शन होता है। यह कविता 'सरस्वती' पत्रिका में वर्ष 1914 में छपी थी। हीराडोम के बाद अछूतानन्द ने 'आदि हिन्दू आंदोलन' दलितों के इए चलाया था। वह उत्तर भारत में 'आदि हिन्दू आंदोलन' के प्रवर्तक थे। उनका मानना था कि दलित जातियां ही भारत की आदि निवासी हैं इसलिए वे उन्हें आदि हिन्दू कहते थे। आदि हिन्दू आंदोलन का लक्ष्य दलित जातियों को उनके इतिहास से जोड़ना था और उन्हें यह बताना था कि ब्राह्मणों ने उन्हें इतिहास से विहीन कर अपना गुलाम बनाया है। प्रारम्भ में वे आर्यसमाजी थे किन्तु वे शीघ्र ही आर्य समाज की ढोंगी और उसके झूठे शब्द जाल के गुण कर्म की वर्णव्यवस्था से अलग हो गये। उन्होंने दलितों को आर्यसमाजियों के मोहपाश से निकालने में अपनी बड़ी भूमिका निभायी। लोक छन्दों में रचना करने वाले अछूतानन्द ने 1925 में 'आदि हिन्दू' पाक्षिक तथा 1929 में 'अछूत' मासिक पत्र का प्रकाशन और संपादन किया था वह कवि नाटककार के साथ-साथ पत्रकार भी थे। स्वामी अछूतानन्द के ग्रन्थों में मायानन्द बलिदान, रामराज न्याय, आदिवंश का डंका, आदिखण्ड काव्य इत्यादि ऐसे प्रमुख ग्रंथ हैं, जिनकी आज भी दलित जातियों में माँग है। उनकी कविताएं गम्भीर इतिहास बोध की हैं और विचारोत्तेजक है। दलितों को उनके गौरवशाली इतिहास का ज्ञान कराना और उन्हें वर्तमान दयनीय स्थिति से ऊपर उठाना उनकी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां हैं। अछूतानन्द ने मनुस्मृति पर कविता लिखी जिसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं-

"निसिदिन मनुस्मृति ये हमको जला रही है

ऊपर न उठने देती नीचे गिरा रही है

हमको बिना मजूरी, बैलों के संग जोते,

गाली व मार उस पर हमको दिला रही है।"[15]

उस समय स्वामी अछूतानन्द से प्रेरणा ग्रहण किए हुए कवियों की एक लम्बी श्रृंखला है जिनमें पं.बख्शीदास, बंशीराम, मुसाफिर, स्वामी शंकरानन्द, केवलानन्द, अयोध्यानाथ दण्डी, भोजीलाल मौर्य और कवि बिहारीलाल हरित मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं।

[15] कंवल भारती: दलित विमर्श की भूमिका, पेज नं.114

चांद गुरू का जन्म बंगाल की एकनाम (या नमः) शूद्र जाति में हुआ था। बंगाल में दलितों को चंडाल कहा जाता था। दलित शिक्षा से वंचित थे। इनके बीच में ऐसी धारणा बना दी गयी थी कि यदि शिक्षा ग्रहण कर ली जाय तो उससे अनिष्ट होता है। इसी कारण चांद गुरू भी नहीं पढ़ सके। चांद गुरू की यह महान उपलब्धि थी कि उन्होंने स्वयं स्कूल खोलकर उसमें दलित बच्चों के लिए शिक्षा की पूरी व्यवस्था की तथा ऐसी धारणा का खंडन किया जिसमें कहा गया था कि शिक्षा ग्रहण करना दलितों के लिए पाप और अनिष्ट है। 1891 में उन्होंने 'चांडाल' शब्द के विरूद्ध आंदोलन चलाया। उस समय ब्रिटिश सरकार को भी इसके ख़िलाफ़ आदेश जारी करना पड़ा जो कि चांद गुरू के महान प्रयासों द्वारा ही संभव हो सका। उस आदेश के तहत उन्हें चांडाल बोलना दंडनीय अपराध माना जाने लगा। यह एक बड़ी क्रांति थी जिसमें चांद गुरू और दलितों को सफलता हासिल हुई। उन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ 'मतुआ' धर्म चलाया। इस आंदोलन के तहत उन्होंने यह साफ घोषणा की कि छुआछूत की जितनी भी साजिशें ब्राह्मणवादियों द्वारा रची गयी हैं उसे 'नाम शूद्र' समाज नहीं मानता है। 1912 में उन्होंने 'नमः शूद्र' नाम से एक पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया, जिसके संपादक आदित्य चौधरी थे। ऐसा माना जाता है कि बंगाल में जिन दलितों को 'चंडाल' कहा जाता था उन्हें 'नमःशूद्र' नाम देने वाले चांद गुरू ही थे।

1950 से लेकर 1990 तक हम हिन्दी में दलित लेखन के दूसरे चरण को देखते हैं। इस दौर के लेखन का मुख्य जोर दलित समुदाय को अपने अतीत व वर्तमान के प्रति सजग करना है। इस समय के लेखन पर डॉ.भीमराव अम्बेडकर का पूरा प्रभाव है, जिन्होंने विषम और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी ब्राह्मणवादी सामंतवादी व्यवस्था का डटकर सामना किया और ज्ञान तथा शिक्षा के उच्चतम सोपान तक पहुंचे। शिक्षा को ही उन्होंने समस्त उत्पीड़न का औजार माना, जिसके बल पर हम दासता और अत्याचारों से मुक्ति पा सकते हैं तथा अपने अधिकारों को हासिल कर सकते हैं। डॉ.अम्बेडकर ने दलितों को एक तीन सूत्रीय सन्देश दिया था-'शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो'। इस सन्देश ने दलितों में चेतना का संचार किया। दलित लेखन ने इसे आधार बनाकर लोगों तक बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर के सन्देश को पहुंचाया।

इसी चरण में बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर के जीवन पर आधारित तीन प्रबंध काव्य की रचना हिन्दी में की गयी तथा प्रकाशित हुई- भीमायण (बिहारी लाल हरित, 1973), भीम सागर (लक्ष्मीनारायण सुधारक, 1956) तथा भीम कथामृतम (रामदास निमेष, 1990) इस दौरान दलित रचनाकारों ने दलित समाज पर होने वाले अत्याचारों को भी अपनी कविता का विषय बनाया। उन्होंने लेखन के लिए कला की परवाह न कर जीवन के यथार्थपन को अपने लेखन में उभारा। साहित्य उनके लिए उत्पीड़न के अनवरत सिलसिले को जानने और रोकने का माध्यम बना। 'निर्णायक भीम'

पत्रिका के मार्च-अप्रैल 1981 अंक में छपी ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता में इसी यथार्थ के दर्शन से हम रूबरू होते हैं- "मेरे जिस्म के मानचित्र पर उभर रहे हैं-बनकर फफोले/ कहीं बेलछी / तो कहीं शेरपुर / कहीं पारस विधा / तो कहीं नारायणपुर' / इन फफोलों को सहलाने के लिए/ मेरे हाथ मेरे पास नहीं है / वे तो बहुत पहले / मेरे बाप-दादों ने रख लिए थे गिरवी/ किसी सेठ साहूकार की तिजोरी में / दो मुट्ठी चावल के बदले।" इस कविता में बेलछी, शेरपुर, पारस विधा, नारायणपुर ऐसी जगहें हैं जहां सवर्णों ने दलितों के मकान जला दिये तथा उन पर अनेक तरह के जुल्म और अन्याय भी किया। बिहार के गांव बेलछी में दिसम्बर 1980 में 11 दलितों को जिन्दा जला दिया गया था। 21वीं सदी में भी आये दिन सवर्णों द्वारा दलितों पर अमानुषिक और नृंशसनीय अत्याचार होते रहते हैं जो लोग यह कहते हैं कि दलित साहित्य आक्रोश, प्रतिरोध, नकार का साहित्य है तो यह बेवजह नहीं है। ध्यान देने वाली बात यह है कि आक्रोश, ईर्ष्या, गुस्सा, प्रतिशोध वास्तव में किसके मन में ज्यादा है। इस बात की गहराई में जाएं तो समाज में जिस तरह के अभी हिसंनीय अत्याचार दलितों पर हो रहे हैं वो तो सवर्णों की तरफ से ही हो रहे हैं। सवर्णों द्वारा बस्तियां जलाई जा रही हैं, घर लूटे जा रहे हैं, माँ, बहनों, बेटियों की अस्मिताएं लूटी जा रही हैं, यह आक्रोश-प्रतिशोध किसके मन में है ? यहां साफ़-साफ़ दिखता है कि आक्रोश और हिंसा सवर्णों द्वारा फैलाया जाता रहा है और उनके द्वारा ही दलितों पर अमानुषिक अत्याचार किए जा रहे हैं। दलितों द्वारा सवर्णों की बस्तियां जलाना, और बलात्कार करना यह दलितों की सभ्यता और संस्कृति में ही नहीं है। इसकी सही व्याख्या करना अति आवश्यक है। दलित साहित्य मानवतावादी साहित्य है, वह सामाजिक न्याय और परिवर्तन की बात करता है। समाज में विषमतामूलक व्यवस्था के ख़िलाफ़ वह आंदोलन और लेखन करता है ताकि स्थितियां बेहतर हों और समाज में आमूलचूल परिवर्तन आ सके।

जाति-विरोध की परंपरा ने पिछले कई दशकों से सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्तर पर व्यापक बदलाव लाने की कोशिश की और सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिदृश्य में व्यापक नहीं तो कुछ बदलाव तो आया ही। राजनीतिक पटल पर भी कई परिवर्तन दिखाई देता है; जहां एक ओर साम्प्रदायिक शक्तियां तेजी से विकसित हुई वहीं दलितों में एक नई चेतना और स्वाभिमान का उभरना जायज था; इसके कई सार्थक परिणाम भी निकले। यही कारण है कि वे राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई अपने बल पर लड़ने के लिए प्रतिबद्ध हैं। इसके लिए उन्हें किसी की दया दृष्टि और संवेदना तथा सहानुभूति की आवश्यकता भी नहीं है। बाबासाहब अम्बेडकर के आंदोलन से इन्होंने प्रेरणा ग्रहण की थी इसी वजह से उनमें चेतना का आना लाज़िमी था। दलितों के मसीहा के

रूप में बाबासाहब अम्बेडकर के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता था । संघर्ष की आग में तपना और अपने अधिकारों के लिए एकजुट होकर लड़ाई लड़ना कुछ ऐसे मूलमंत्र थे जो बाबासाहब ने दलितों, उत्पीड़ितों, शोषितों स्त्रियों में जगाए थे ।

इस प्रकार भारतीय समाज में जातिविरोध की एक समृद्ध परंपरा रही है जिसको समझे बिना आज के दलित साहित्य का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है ।

1.2 हिन्दी साहित्य में दलित

हिन्दी साहित्य का इतिहास मुख्यधारा का साहित्य रहा है । यदि इसे सवर्णों, वर्चस्ववादियों और ब्राह्मणवादियों का साहित्य कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा । हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रगतिशील आंदोलन के समय और प्रगतिवादी साहित्य में हम दलित समस्या और दलित प्रश्नों का चित्रण देख सकते हैं, जिनमें प्रेमचन्द, निराला, अमृतलाल नागर, नागार्जुन इत्यादि प्रमुख रचनाकार आते हैं । इन्होंने छुआछूत की समस्या, दलितों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का मार्मिक चित्रण किया है । आज हाशिए के विमर्श के आगमन से खासतौर से 'दलित विमर्श' की बात करें तो उसका यह मानना है कि प्रेमचन्द और अन्य प्रगतिशील गैर-दलित लेखकों ने दलित समस्या पर जो भी लिखा उसे दलित साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना जायेगा । इसके साथ ही साथ उन्होंने दलितों पर जो भी लिखा वो केवल सहानुभूति के साथ लिखा है । गैर-दलित प्रगतिशील लेखकों ने अपनी रचनाओं में दलितों का चित्रण केवल संवेदना के धरातल पर किया है, चेतना का वहां चित्रण लेशमात्र भी नहीं है । इसी संबंध में श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं कि.."लेकिन लेखकों के सीमित रचना संसार में जहां दलित समस्या या तो इनके यहां आई नहीं है, या मात्र फैशन के तौर पर क्षणिक ट्रैंड के रूप में इसे लिया गया है अथवा स्वैच्छिक सहानुभूति की सुविधा मान लिया गया है ।"[16] प्रश्न यह है कि वास्तव में इन रचनाकारों की रचनाओं में क्या स्वानुभूति की अपेक्षा सहानुभूति की मात्रा ज्यादा है ? प्रेमचन्द पर जो आरोप लगाया गया है कि वे 'सामंतों के मुंशी हैं' यह आरोप कितना उचित है? उनके पात्रों में वास्तव में चेतना नहीं है या वे कहीं विद्रोह भी करते नज़र आते हैं ? गैर-दलितों ने दलितों पर जो कुछ भी लिखा उनमें कहीं चेतना का भी पुट देखने को मिलता है या नहीं ? दलित साहित्य पर काम करते समय इन समस्त प्रश्नों की गहराई में जाना और इनकी पड़ताल करना जरूरी हो जाता है ।

[16] श्यौराज सिंह बेचैन (2012) स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, पेज नं.25-26

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में प्रेमचन्द एकमात्र ऐसे लेखक हैं जिन्होंने दलितों की स्थिति का चित्रण अपनी रचनाओं में अधिक किया है। हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का उदय 1930 के दशक में हुआ। उसका विधिवत नामकरण 1936 में होता है, जब वामपंथी लेखकों ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना से पहले ही प्रेमचन्द यथार्थवादी कहानियां लिखने लगे थे। गांधी का अछूतोद्धार और बाबासाहब अम्बेडकर के आंदोलन 1930 से पहले मुखर हो चुके थे जिसमें बाबासाहब का 1927 में महाड़ आंदोलन और 1930 में नासिक के कालाराम मन्दिर में दलितों का प्रवेश प्रमुख आंदोलन थे। इन्हीं सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों से प्रेमचन्द ने प्रभावित होकर यथार्थवादी कहानियां लिखीं। प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम अपनी रचनाओं को आदर्शवाद से मुक्त कर यथार्थवाद से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने यथार्थवाद को अपना कर प्रगतिशील आदर्शों की स्थापना की। प्रगतिशीलता उनके स्वभाव में थी तथा वे इसके समर्थक थे। प्रेमचन्द ऐसे गैर-दलित लेखक हैं जिनकी रचनाओं में हमें दलित समस्याओं का चित्रण मिलता है। हम यह कह सकते हैं कहीं न कहीं प्रेमचन्द के ऊपर डॉ.अम्बेडकर के दलित मुक्ति आंदोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा था किन्तु वह गांधी जी के अछूतोद्धार के समर्थक भी थे।

प्रेमचन्द अपने समय के एकमात्र ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने जीवन और समाज को यथार्थ के धरातल से रखकर जोड़ा तथा समाज के यथार्थ जीवन की समस्याओं का खुलकर चित्रण किया। समाज में जो समस्याएं व्याप्त थीं प्रेमचन्द की लेखनी का आधार बनी। कृषक की समस्या, कर्ज, जमींदारी प्रथा, सामन्ती शासन, पूंजीवाद, विधवा विवाह, बाल-विवाह, बेमेल-विवाह, स्त्री समस्या, धर्म की समस्या, वेश्यावृत्ति दलितों की समस्या आदि समस्याओं को प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों में सरल, सहज भाषा में शामिल किया, जो उस समय के लेखक नहीं कर सके। उनकी कहानियां 'ठाकुर का कुआं', 'मन्दिर', 'सद्गति', 'कफन', उपन्यास-'रंगभूमि', 'निर्मला', 'कर्मभूमि', 'गोदान', 'प्रेमाश्रम' आदि ऐसी रचनाएं हैं जिनमें दलित समाज की सभी समस्याओं पर गहरा व्यंग्य तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रश्नों को बेबाकी ढंग से उठाया गया है।

दलित साहित्य में 'चेतना' ही उसकी मुक्ति का वह आधार बिन्दू है जिससे वह अपनी गुलामी से आजाद होता है और एक नयी चेतना दृष्टि का निर्माण करता है। दलित साहित्य का यही वह पक्ष है जिसके आधार पर हम दलित साहित्य और गैर-दलित साहित्य में विभाजन रेखा खींच सकते हैं। ऐसा कहा जाता है कि दलित विमर्श से पहले हिन्दी साहित्य में जिन रचनाओं में दलित पात्र आते हैं, गैर-दलित रचनाकारों ने उन पात्रों में संवेदना ही दिखलायी है। चेतना के स्तर पर उनका चित्रण

छिटपुट रूप में ही देखने को मिलता है। प्रेमचन्द की कहानियों में कुछ दलित पात्र चेतनाशील भी हैं और विद्रोह भी करते हैं किन्तु कुछ गैर-दलित रचनाकारों की रचनाओं में दलित बेबस, निराधार, गरीब और दुखिया हैं। प्रेमचन्द के लेखन में भी कहीं-कहीं ऐसे पात्र हैं। अत: प्रेमचन्द के समय को हम एक काल-क्रम के आधार पर विभाजित करके समझ सकते हैं-

1920-30: गांधीवादी आंदोलन-सुधारवादी

1927-30: अम्बेडकरवादी आंदोलन–दलित आंदोलन

1936 : प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना

ये कुछ समय ऐसे हैं जिससे प्रेमचन्द का लेखन प्रभावित था। प्रेमचन्द ऐसे दौर के लेखक हैं जब गांधी और अम्बेडकर का आंदोलन साथ-साथ चल रहा था। प्रेमचन्द की प्रारम्भिक रचनाएं आदर्शवादी हैं तथा बाद की रचनाएं यथार्थवादी। जैसाकि उनकी रचनाओं को हम आदर्शोन्मुख यथार्थवादी रचनाएं कहते हैं। निःसन्देह प्रेमचन्द दलित जीवन पर लिखने वाले पहले हिन्दी कहानीकार हैं, जिन्होंने अपनी कहानियों और उपन्यासों में सामाजिक भेदभाव और अस्पृश्यता के ज्वलंत प्रश्न उठाये हैं, वर्तमान समय में भी जिसकी प्रासंगिकता बनी हुई है। 1927 से 1931 तक का समय ऐसा समय था जब देश में सामाजिक भेदभाव के ख़िलाफ़ आंदोलन जोर-शोर पर था। अम्बेडकर का महाड़ आंदोलन और मन्दिर प्रवेश आंदोलन अपने चरम पर था। दलितों को सामाजिक अधिकार मिलने चाहिए इसके लिए डॉ.अम्बेडकर ने दलितों के मानवाधिकार के लिए ये बड़े आंदोलन चलाये।

हर रचना अपने समय और समाज से प्रभावित होती है और प्रेमचन्द की रचनाएं इसका जीता-जागता उदाहरण हैं। प्रगतिशील संघ की स्थापना 1936 में हुई जो मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित है। साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित लेखकों ने प्रगतिवादी रचनाएं की। निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, नागार्जुन, मुक्तिबोध, धूमिल आदि रचनाकार विचारों से प्रगतिशील थे। प्रगतिशील युग में दो तरह की विचारधारा एक साथ चल रही थी, पहला छायावाद, दूसरा प्रगतिवाद। प्रगतिवादी कवि भी वही थे जो पहले छायावादी थे। जब हम हिन्दी साहित्य-इतिहास का पुनर्मूल्याकंन करते हैं तब यह पता चलता है कि मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, नवीन और दिनकर राष्ट्रीय कविता लिख रहे थे। गांधीवाद से इनकी राष्ट्रीयता प्रभावित थी और इस राष्ट्र

की अवधारणा में कहीं भी दलित नहीं थे। यदि दलित कहीं भी दिखायी देते हैं तो वह गांधी जी के हरिजन थे, जो हरि के सेवक हैं। उनकी विचारधारा थी-

"मैं अछूत हूं मन्दिर में आने का मुझको अधिकार नहीं है

किन्तु देवता यह न समझना, तुम पर मेरा प्यार नहीं है।"---सुभद्रा कुमारी चौहान

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अछूतों को उस समय किस तरह का अधिकार था, और उन्हें हिन्दूवादी वर्णव्यवस्था में ताउम्र रहने का भी षड्यन्त्र यहां दिखायी देता है। वास्तव में वे राष्ट्रीय कवि जो गांधीवादी विचारधारा से प्रेरित दिखायी देते हैं उन्हें अछूतों से कोई स्नेह नहीं था। इस समय के राष्ट्रीय कवि बाबासाहब अम्बेडकर से प्रभावित न होकर गांधीवादी दर्शन से प्रभावित थे जिनको वे दलितों का मसीहा भी मानते थे। सवर्णों के लिए गांधी वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रबल समर्थक थे।

इतिहास की एक नई व्याख्या प्रगतिशील साहित्य में दिखायी देती है। जो साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद-पूंजीवाद का विरोध कर रही थी। इस धारा ने अपनी ऊर्जा मार्क्स के दर्शन से ग्रहण किया इसलिए इसका लक्ष्य आर्थिक साम्राज्यवाद था। इस प्रगतिशील धारा में प्रेमचन्द, केदारनाथ अग्रवाल और नागार्जुन के साथ-साथ निराला भी थे। हिन्दी साहित्य में सवर्णवादी लेखकों ने 1930 के आसपास का या कहें प्रगतिशील आंदोलन के बाद जब साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा का समावेश हो जाता है तब दलितों पर लिखना शुरू किया। इसमें भी उन्होंने दलितों का चित्रण सहानुभूति पूर्वक किया। इसीलिए हिन्दी के प्रगतिशील लेखकों को दलित संवेदना का रचनाकार कहा जाता है।

गैर-दलितों द्वारा लिखे गए साहित्य में दलितों के मार्मिक और यथार्थ जीवन का सही चित्रण न पाने की स्थिति को रेखांकित करते हुए डॉ.चमनलाल लिखते हैं "यहां यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि हजारों वर्षों से चले आ रहे दलित व नारी उत्पीड़न को प्रतिबिम्बित करने वाले साहित्य पर क्या इससे पहले विचार नहीं किया जाता रहा है? जरूर किया जाता रहा है, साहित्य की यथार्थवादी व प्रगतिशील परंपरा के अन्तर्गत ऐसे साहित्य पर व्यापक रूप में विचार होता रहा है, लेकिन यथार्थवादी परंपरा में दलित व नारी उत्पीड़न व उसके साहित्यिक प्रतिबिम्बन को आर्थिक विषमताओं के अमूर्त दायरे में ही देखा जाता रहा, किन्तु दलित व नारी उत्पीड़न के मसले इतने सरल न होकर काफ़ी जटिल व पेचिदा हैं व हमारे समाज की सांस्कृतिक संरचनाएं इसके लिए जिम्मेदार हैं

। आर्थिक विषमताएं दूर कर लेने पर भी सांस्कृतिक संरचनाएं इतनी आसानी से नहीं बदलतीं, अतः दलित व नारी की सांस्कृतिक मुक्ति का प्रश्न एक बड़ा जटिल प्रश्न है, जिस पर अमूर्त ढंग से नहीं, मूर्त ढंग से ही विचार किया जा सकता है व ऐसे साहित्य की गहरी पड़ताल अनिवार्य है जिसमें दलित व नारी जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है ।"[17] स्पष्ट है कि आर्थिक विषमताओं को केवल खत्म करके हम सामाजिक न्याय की कल्पना नहीं कर सकते जब तक सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताएं भी नहीं बदली जाएंगी ।

निराला छायावादी लेखक थे किन्तु उनकी कुछ रचनाओं में प्रगतिशीलता के तत्व भी दिखायी देते हैं । उनकी रचनाएं 'जूही की कली', 'अनामिका', 'तुलसीदास', 'सरोज स्मृति' आदि पर छायावाद का प्रभाव दिखायी पड़ता है । निराला चूंकि ब्राह्मण थे । जब प्रगतिशील लेखक संघ बना तब बहुत से ऐसे छायावादी लेखक भी थे जो प्रगतिशील रचनाएं कर रहे थे । उन्हें दलित-चेतना का संवाहक कवि के रूप में जाना जाता है । निराला की बाद की रचनाएं 'कुकुरमुत्ता', 'चतुरीचमार, 'कुल्लीभाट','बिल्लेसुर बकरिहा' (उपन्यास) इत्यादि प्रगतिशील रचनाएं थीं, 'तोड़ती पत्थर', 'जल्द-जल्द कदम बढ़ाओ' इन कविताओं में दलितों का चित्रण भी मिलता है । अपनी कविता 'जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ' में लिखते हैं- ***'धोबी, चमार, पासी, तेली/ खोलेंगे अंधेरे का ताला'*** किन्तु प्रश्न यह है कि दलितों का चित्रण यहां किस रूप में किया गया है । निराला का जातिवादी और ब्राह्मणवादी रूप उस समय सामने आता है जब उन्होंने हिन्दू धर्म को लेकर उसके समर्थन में बहुत से लेख लिखे थे । कंवल भारती लिखते हैं – "निराला प्रेमचन्द से पूरी तरह भिन्न हैं । प्रेमचन्द गांधीवादी से प्रगतिवादी हुए थे और एक सच्ची प्रगतिशील चेतना उनके साहित्य में दिखायी भी देती है । किन्तु निराला वेदान्ती थे, शंकर के अद्वैत दर्शन से प्रभावित थे और तुलसीदास उनके प्रिय कवि थे । रामकृष्ण परमहंस और विवेकानंद में उनकी भक्ति थी । यह वेदान्त दर्शन की वह श्रृंखला थी, जिससे निराला अन्त तक बंधे रहे । वह कम्यूनिस्ट या प्रगतिशील आंदोलन में कभी शामिल नहीं हुए । 1922 में पंजाब में संतराम जी ने 'जातपात तोड़क मंडल' बनाया था । हमारा समाज 'हिन्दुओं संभलों', 'हिन्दू और जातपात', 'हिन्दुत्व जो हिन्दुत्व को ही ले उठा' इत्यादि बहुत सी पुस्तकें उन्होंने लिखी थीं । वह वर्णाश्रम के समर्थक नहीं थे । निराला ने उनके 'मंडल' का घोर विरोध किया था और शंकराचार्य की निन्दा करने के लिए

[17] सं.चमनलाल (2012) दलित साहित्य: एक मूल्यांकन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-06, पेज नं.38

सन्तराम जी को फटकार लगायी थी। यही नहीं, निराला ने वर्ण-व्यवस्था का भी जबरदस्त पक्ष लेते हुए 'वर्णाश्रम धर्म की वर्तमान स्थिति' शीर्षक से एक लम्बा लेख लिखा था। इसमें अंतर जातीय भोज और विवाह की भी आलोचना निराला ने की है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' उनकी ऐसी कविताएं हैं, जिन्हें हिन्दी के पंडित उनकी सर्वश्रेष्ठ कविताएं मानते हैं और इन्हीं सर्वश्रेष्ठ कविताओं से दलित चेतना का प्रबल विरोध है।"[18] इन विचारों से यह पता चलता है कि निराला ब्राह्मणवादी व्यवस्था के हिमायती थे। यह साफ तौर पर एक हिन्दूवादी दृष्टि ही है जब कोई लेखक अन्तरजातीय भोज और विवाह का समर्थक न होकर उसके विरोध में खड़ा है।

समाजशास्त्रियों का ऐसा मानना है कि अछूत भावना या अस्पृश्यता मुख्यतः तीन रूढ़िवादी मान्यताओं पर आधारित है- खानपान संबंधी नियम, शादी का संबंध तथा धार्मिक उत्सव। अछूत के साथ बैठकर भोजन करना तथा शादी का संबंध स्थापित करना तो दूर की बात थी, उसको छूने मात्र से ही सवर्ण अशुद्ध हो जाते थे, उसकी छाया मात्र से भी वो दूषित हो जाते थे। मन्दिर प्रवेश तथा धार्मिक उत्सवों में अछूत का सहयोग तो दूर, वह मन्दिर में भगवान की प्रतिमा का भी दूर से दर्शन नहीं कर सकता था। प्रेमचन्द ने इन तीनों रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति विद्रोह किया जिसका प्रमाण उनकी कहानियां हैं- 'ठाकुर का कुआं', 'घासवाली, 'दूध का दाम', 'सद्गति', 'मन्दिर', 'विध्वंस' आदि। प्रेमचन्द के उपन्यासों में' 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'गोदान' आदि में दलित चेतना का चित्र कहीं-कहीं किसी प्रसंग में दिखायी देता है। 'रंगभूमि' उपन्यास में 'सूरदास' नायक है जो एक बड़े जन आंदोलन का सफलतापूर्वक नेतृत्व करता है। 'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द अपने सवर्ण नायक से कहलवाते हैं –"मैं चोरी करूं, खून करूं, धोखा दूं, धर्म छू मन्तर हो गया अच्छा धर्म है। हम धर्म के बाहर किसी से आत्मा का संबंध भी नहीं कर सकते। आत्मा को भी धर्म में बांध रखा है? यह धर्म नहीं धर्म का कलंक है।"[19] प्रेमचन्द ने **गोदान** में हालांकि होरी की धार्मिक जड़ता को दिखाया है किन्तु सीलिया और मातादीन के प्रसंग में दलितों द्वारा मातादीन के मुंह में हड्डी का डालना' दलित चेतना ही है। वह गोदान के माध्यम से हिन्दू धर्म और समाज की इस व्यवस्था पर करारा प्रहार भी करते हैं। कुछ आलोचकों का कहना यह है कि प्रेमचन्द के पात्रों में चेतना नहीं है। वह गूंगे और निष्क्रिय होते हैं।

---

[18] दलित साहित्य की अवधारणा, पेज नं.26

[19] प्रेमचन्द –कर्मभूमि, पेज नं.90-91

उनमें विद्रोह भी नहीं है। कंवल भारती लिखते हैं– "प्रेमचन्द के रचना कर्म में दलित दयनीय स्थिति में तो है पर उसमें विद्रोह बिल्कुल नहीं है। वे अपने ऊपर अत्याचार करने वालों से स्वयं ही डरे-सहमे रहते हैं, उनके दलित पात्र धर्म-जाल में जकड़ हुए हैं, उनकी आस्थाएं अंधी और अटूट हैं और वे इस सत्य से पूर्णतः अनजान हैं कि वे अंधी आस्थाएं हैं। उनकी दीनता तथा गरीबी के मुख्य कारण हैं।"[20] यहां कंवल भारती प्रेमचन्द में दलित चेतना का रूप नहीं देखते हैं किन्तु उनका मानना था कि प्रेमचन्द की प्रगतिशीलता का आधार भले ही अम्बेडकरवादी नहीं थी किन्तु उसके निकट ज़रूर थी।

आर्थिक स्तर पर भूमण्डलीकरण, वैश्वीकरण तथा आर्थिक उदारीकरण आदि के नाम पर विदेशी पूंजी का रास्ता खुला है और जिसकी राह की वजह से आर्थिक हित गिरवी रखे गये हैं। प्रेमचन्द जिस सामन्ती सभ्यता, महाजनी, पूंजीवादी तथा साम्राज्यवादी ताकतों का प्रतिरोध कर रहे थे वह अपने सबल रूप में हमारे समक्ष मौजूद हैं और दिनों-दिन तरक्की भी करती जा रही है। सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र ज्ञान के अनुशासनों की दृष्टि से अलग भले ही दिखाई देते हों किन्तु मानवीय जीवन को इनके पारस्परिक निर्भरता के आधार पर ही देखा और समझा जा सकता है। प्रेमचन्द आधुनिक हिन्दी साहित्य के सबसे बड़े रचनाकार हैं, जिन्होंने दलितों, पीड़ितों, महिलाओं और किसानों की पीड़ा को संवेदना के स्तर पर अनुभूत करके सरल शब्दों के माध्यम से वाणी दी। उनकी अनेक कहानियों और उपन्यासों में दलित चेतना और संवेदना दिखायी देती है। कुछ दलित आलोचकों ने उन्हें केवल दलित संवेदना का रचनाकार कहा है। ऐसी बातें कहकर वे प्रेमचन्द के दलित चेतना के पहलू को अनदेखा कर देते हैं। हालांकि प्रेमचन्द गैर-दलित लेखक थे किन्तु उनके ऊपर अम्बेडकर और गांधी दोनों के आंदोलन का पूरा प्रभाव था। मोहनदास नैमिशराय प्रेमचन्द के संबंध में लिखते हैं-"प्रेमचन्द प्रथम भारतीय लेखक हैं जो दलितों और गैर-दलितों के बीच रोटी-बेटी का संबंध स्थापित करते हैं। रोटी का संबंध 'कर्मभूमि' में और बेटी का संबंध 'गोदान' में स्थापित होता है।"[21]

'प्रेमचन्द : संदर्भ दलित विमर्श' में ओमप्रकाश वाल्मीकि जी लिखते हैं- "प्रेमचन्द की तीन कहानियों का उल्लेख यहां जरूरी है- 'ठाकुर का कुआं', 'दूध का दाम' और 'सद्गति'। 'ठाकुर का कुआं'

[20] दलित विमर्श की भूमिका, , पेज नं.119

[21] मोहनदास नैमिशराय (1997) हिन्दी में दलित साहित्य, iias, speech seminar on Black and Dalit Writings-Some Recent Trends-14-17 October, IIAS, Rashtrapati Nivas, Shimla-171005.

और 'दूध का दाम' कहानियों पर डॉ.अम्बेडकर का प्रभाव दिखायी पड़ता है । ये दोनों कहानियां दलित विमर्श और दलित चेतना के प्रभाव की कहानियां हैं । यहां वे आदर्शवादी समाज सुधार के हृदय परिवर्तन से मुक्त होने की कोशिश करते हैं । ये दोनों कहानियां 'पूना-पैक्ट' के बाद की कहानियां हैं। 'ठाकुर का कुआं' 1932 और दूध का दाम 1934 में प्रकाशित हुई थी। डॉ.अम्बेडकर के महाड़ आंदोलन और कालाराम मन्दिर आंदोलन की वैचारिक छाप इन कहानियों की अन्तर्वस्तु में गुंथी हुई है, जिस पर हिन्दी आलोचक का ध्यान नहीं जाता है।"[22] इसके अतिरिक्त उनकी 'मन्दिर' कहानी पर बाबासाहब अम्बेडकर द्वारा किया गया नासिक के कालाराम मन्दिर के आंदोलन का पूरा प्रभाव दिखायी देता है। 'मन्दिर' कहानी में जब मन्दिर के पण्डितों द्वारा दलित पात्रा को प्रवेश नहीं करने दिया जाता तो वह पत्थर से मन्दिर के ताले पर प्रहार करती है और उन पण्डितों को फटकारती है तथा हिन्दू देवी-देवताओं को भी ललकारती है । यह दलित स्त्री की दलित चेतना है जिसे बाबासाहेब के मन्दिर प्रवेश आंदोलन से जोड़कर देखे जाने की ज़रुरत है । प्रेमचन्द ने तीन सौ कहानियां, ग्यारह-बारह उपन्यास, दो बड़े नाटक तथा अनगिनत लेख लिखे, जिनमें से अधिकांश रचनाओं मे हरिजन समस्या, दलितों की समस्या पर जरूर मिल जाएगें।

हरिनारायण ठाकुर गैर-दलित लेखकों की रचनाओं को खासतौर से प्रेमचन्द के साहित्य को गांधीवाद से प्रभावित मानते हैं। उनका यह भी मानना है कि साहित्य में जो दलित आंदोलन और चेतना विकसित हुई है वो अम्बेडकर और गांधी के प्रभावस्वरूप ही हुई है। वो लिखते हैं- 'साहित्य में दलित आंदोलन और दलित चेतना को गांधी और अम्बेडकर दोनों की दलित सोच ने प्रभावित किया। एक तरफ यह चेतना गांधी के छुआछूत विरोध संबंधी दलितोद्धार से प्रभावित है, तो दूसरी ओर अम्बेडकर के क्रान्तिकारी अभियान से भी। हिन्दी क्षेत्र की दलित चेतना पर सीधा गांधी का प्रभाव है और दक्षिण के मराठी आदि दलित साहित्य पर सीधा फुले और अम्बेडकर आदि का। आश्चर्य की बात है कि जिस प्रेमचन्द को गांधीवाद का साहित्यिक संस्करण समझा जाता है, वे भी अम्बेडकर से कम प्रेरित और प्रभावित नहीं है। लेकिन आधुनिक दलित चेतना को सबसे अधिक डॉ.अम्बेडकर के जाति-तोड़क आंदोलन, पानी भरो आंदोलन मन्दिर प्रवेश आदि आंदोलनों ने ही प्रेरित और प्रभावित किया। प्रेमचन्द की कुछ कहानियों पर इन आंदोलनों का भी प्रभाव है । फिर भी प्रसाद, प्रेमचन्द और

[22] ओमप्रकाश वाल्मीकि (2010) मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, पेज नं.152

निराला गांधी की दलित चेतना से ही ज्यादा प्रभावित नज़र आते हैं।'[23] निश्चित रूप से प्रेमचन्द भले ही गैर-दलित लेखक हैं किन्तु वे हिन्दी के एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जो गांधीवाद के जितने करीब हैं, उतने ही मार्क्सवाद, स्त्रीवाद और अम्बेडकरवाद के भी।

प्रेमचन्द का रचनाकाल मुख्यरूप से 1916 से 1936 है। यह भारतीय इतिहास का वही दौर है, जिसमें उत्तर नवजागरणकालीन समाज-सुधार और स्वतन्त्रता का आंदोलन चल रहा था। इसी दौर में आर्य समाज, ब्रह्मसमाज, हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, कांग्रेस, गांधी अम्बेडकर आदि के आंदोलन चरम पर थे। किसान आंदोलन, मार्क्सवाद और मजदूर आंदोलनों का सूत्रपात भी इसी दौर में हुआ। हिन्दी साहित्य में यह काल छायावाद के नाम से जाना जाता है। 'भारत में पहली बार मजदूरों की लम्बी ऐतिहासिक हड़ताल हुई थी। बम्बई के मिलों में दिसम्बर 1918 में शुरू हुई मजदूरों की यह ऐतिहासिक हड़ताल लगभग एक साल तक चली थी और इसमें लगभग एक लाख से अधिक मजदूर शामिल हुए। इसी दौर में दलित समस्या भारत की राष्ट्रीय समस्या बनी थी और अम्बेडकर, गांधी और कांग्रेस के दलित आंदोलन लगभग एक ही साथ चल पड़े थे। अम्बेडकर की दलित क्रान्ति में जहां दलित मुक्ति अपनी समग्रता (सामाजिक, राजनीति, आर्थिक और वैज्ञानिक) में शामिल थी, वहीं गांधी और कांग्रेस का दलित आंदोलन केवल अस्पृश्यता निवारण तक ही सीमित था। उत्तर में स्वामी अछूतानन्द जैसे दलित सुधारक सक्रिय थे, तो दक्षिण में डॉ.अम्बेडकर।'[24] यह सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक परिस्थितियों का वह परिदृश्य था जब प्रेमचन्द ने साहित्य में दलितों की समस्याओं को केन्द्रित किया। जाहिर सी बात है कि उस समय और भी लेखक थे जो दलितों की समस्याओं पर लिख सकते थे किन्तु उन्होंने दलितों का चित्रण अपने लेख में नहीं किया। ध्यान देने की बात तो यह है कि समाज की इतनी सारी गम्भीर और भीषण समस्याओं के बावजूद प्रेमचन्द के युग का साहित्य खासकर कविता के क्षेत्र में छायावादी और राष्ट्रवादी रचनाएं कर रहा था जबकि सामाजिक समस्याएं इतनी तीव्र और जरूरी थीं जिसके भुक्तभोगी केवल दलित और स्त्रियाँ थीं उन पर अपनी कलम चलाना जरूरी नहीं समझा। ग़ौरतलब है कि प्रेमचन्द अपने लेखन में भारतीय जन-जीवन के एक-एक पक्ष को सामाजिक सरोकारों से जोड़ते हैं। भले उनकी प्रारम्भिक रचनाएं

[23] हरिनारायण ठाकुर, (2014)दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, पेज नं.253

[24] वही, पेज नं.142

आदर्शवादी रही हों किन्तु 'हिन्दी साहित्य में एकमात्र वो ऐसे पहले लेखक भी रहे हैं जिन्होंने सामाजिक विद्रूपताओं, भारत की आत्मा किसान-मजदूरों के दुख-दर्द, दलितों-स्त्रियों के चित्रण को साहित्य का विषय बनाया है तथा कथा साहित्य में यथार्थवादी रचनाकार के रूप में स्थापित हुए हैं ।'[25]

हरिनारायण ठाकुर प्रेमचन्द की विचारधारा के विकास के संबंध में लिखते हैं कि "प्रेमचन्द प्रारम्भ में आर्य समाज से प्रभावित दिखाई पड़ते हैं, फिर गांधीवाद से और अन्त में प्रगतिवाद से, किसान आंदोलन का भी उन पर जबरदस्त प्रभाव है । लेकिन हर दौर में उनकी चेतना दलित-पीड़ित जनता और किसान-मजदूरों के साथ है । दलित समस्या देश की ऐसी अहम समस्या थी, जिसे डॉ.अम्बेडकर के साथ-साथ अंग्रेजी सरकार भी सुलझाना चाहती थी । यह आधुनिक भारत की ऐसी सामाजिक सच्चाई थी, जिससे कोई भी विचारक, बुद्धिजीवी और संवेदनशील मनुष्य मुँह मोड़ नहीं सकता था । इसलिए प्रायः सभी समाजसुधारक, राजनीतिक दल और राजनेताओं ने अपने-अपने ढंग से दलित उद्धार को अपना निशान बनाया ।'[26] प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियों के पात्रों के नाम और उनके परिवेश को देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचन्द दलित-पिछड़े सर्वहारा की कथा कहते हैं । माधव, घीसू, होरी, धनिया, गोबर, मंगल, मुनिया, नोहरी, सुभागी, झींगुर, जोखू, बुधिया, हल्कू, रामप्यारी, दुखी आदि उनके कहानियों के दलित पात्र हैं ।

अनिता भारती प्रेमचन्द को अम्बेडकरवादी आंदोलन के करीब देखती हैं वे प्रेमचन्द के 'विविध प्रसंग' से हवाला देते हुए कहती हैं- "साहित्यकार प्रेमचन्द गांधी से अभिभूत होते हुए भी अम्बेडकरवादी आंदोलन के अधिक नजदीक हैं । वे हिन्दू धर्मावलियों को कड़ी फटकार लगाते हैं । वे सवर्णजातियों के अंहकार पर कहते हैं– "चतुर्वेदी वे हैं जिन्होंने वेदों के दर्शन भी नहीं किए । यह और कुछ नहीं अपनी कुलीनता का ढिंढोरा पीटना है, अपने अंहकार का बिगुल बजाना है । हम अपने को त्रिवेदी लिखकर मानो गला फाड़कर चिल्लाते हैं कि हम सब प्राणियों से ऊंचे हैं, हमें दंडवत प्रणाम

[25] वही, पेज नं.142-143

[26] वही,पेज.नं.144

करो, हमारा चरणरज माथे से लगाओ । हम इतने लज्जाशून्य हो गए हैं ।"[27] प्रेमचन्द और उनके साहित्य का उचित व सार्थक मूल्यांकन करते हुए वे आगे लिखती हैं– "निस्सन्देह प्रेमचन्द की पूरी सहानुभूति, संवेदना दलित-शोषित-उत्पीड़ित वर्ग के साथ थी । प्रेमचन्द द्वारा दलित साहित्य की भावभूमि तैयार करने के योगदान को कोई नकार नहीं सकता । साहित्यकार प्रेमचन्द ने अपने लेखन के उत्तरार्ध में दलितों, उनके नेतृत्व व उनके मुद्दों के प्रति निष्ठा जाहिर करते हुए अपनी पत्रिका 'हंस' के मुख पृष्ठ पर डॉ.अम्बेडकर का चित्र छापकर उनके कार्यों की प्रसंशा में लेख लिखा । आज हमें प्रेमचन्द को उनके दलित, शोषित, वंचित वर्ग के सरोकारों को ध्यान में रखते हुए उनके समय, सीमा और परिस्थितियों के अनुसार ही स्वीकार करना होगा ।"[28] जिन लोगों का यह मानना है कि 'प्रेमचन्द सामन्त के मुंशी' हैं, प्रेमचन्द सवर्णवादी मानसिकता के लेखक हैं, उनके साहित्य में दलितों में चेतना नहीं दिखायी देती, तो यहां पर यह कहना उचित होगा कि आलोचना में केवल नकारात्मक पक्ष ही नहीं होता, सकारात्मक समीक्षाएं भी होती हैं । प्रेमचन्द को दलितों का विरोधी मानकर तथा उनके लेखन के नकारात्मक बिन्दूओं को फोकस कर कुछ आलोचक उन्हें एक ही चश्मे से देखने का प्रयास करते हैं । प्रेमचन्द के लेखन और उनके विषय में सूरज बड़त्या उचित ही लिखते हैं.."दलित साहित्यकार भले ही मानवीयता के आधार पर या सहानुभूति के सहारे प्रेमचन्द के लेखन को सम्मान देता है, चूंकि प्रेमचन्द हिन्दी के पहले गैर-दलित लेखक हैं, जो सवर्ण सांस्कृतिक-साहित्यिक वर्चस्व वाले समाज में सवर्ण नायकत्व की अवधारणा को दलित नायक से अपदस्थ कर दलित को आधुनिक महाकाव्य, उपन्यास का नायक बनाते हैं । धीरोदात्त गुण, उच्चकुल, बलशाली के स्थान पर तथाकथित निम्न जाति का इंसान पहली बार नायक बनता है यह कम क्रांतिकारी बात नहीं है । ये अलग बात है कि उनके सामाजिक विश्लेषण में वह बात नहीं थी जो दलित रचनाकारों के यहां पर है । पर इससे प्रेमचन्द की महत्ता कम नहीं हो जाती । लेकिन क्या यह मात्र संयोग है कि किसी भी ब्राह्मण या ठाकुर के लेखन में जाति के ख़िलाफ़ वैसा तेवर नहीं आ पाता जैसा प्रेमचन्द के यहां पर है । क्या यह प्रेमचन्द के जाति से कायस्थ होने के कारण था ? यहां आकर प्रेमचन्द सवर्ण लेखकों की पंक्ति से निकलकर दलितों की पांत में शामिल हो सकते हैं । उनके कुछ अंतर्विरोधों और सीमाओं के कारण उन्हें दलित विरोधी या 'सामंत का मुंशी' कहने की हिमाकत न करें । दलितों द्वारा लिखे जाने वाले प्रतिक्रियात्मक तेवर के लेखन का दौर अब बीत चुका है । नए रचनात्मक निर्माण का दौर शुरू हुआ है । इसे कुछ दलित अपना मठ बनाने के चक्कर में गाहे-बगाहे अपने समर्थक-हमसफर लेखक को भी

[27] अनिता भारती (2013) समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पेज नं.119

[28] वही, पेज नं.126

दलित विरोधी कहकर अपने आंदोलन से बाहर कर देना चाहते हैं । प्रेमचन्द सामन्त के मुंशी नहीं बल्कि दलित मुक्ति के आंदोलन के सक्रिय सिपाही हैं । वे दलित नहीं हैं लेकिन उनका लेखन दलितों के लिए सच्चे हम सफर का लेखन है । वे प्रतिक्रियावादी नहीं हैं । नाम चमकाने के फेर में कुछ हठी स्वयंभू दलित चिंतक प्रेमचन्द पर कुछ का कुछ कह रहे हैं । ऐसे दलित जन्म से तो दलित हैं लेकिन आचार-विचार से किसी फासीवादी हुक्मरान से कम नहीं लगते ।"[29] सूरज बड़त्या का ऐसे दलित रचनाकारों के विषय में सटीक टिप्पणी है जिन्होंने प्रेमचन्द के साहित्य का एकांगी अध्ययन किया है ।

आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक के साहित्य में 'दलित' केवल आधुनिक काल के प्रगतिवादी साहित्य में जगह पाते हैं वो भी प्रमुख रूप से प्रेमचन्द के साहित्य में । किन्तु यह ग़ौर करने लायक बात है कि प्रेमचन्द को दलित संवेदना का लेखक, सामन्त का मुंशी आदि आक्षेपों से ही नवाजा गया है । प्रेमचन्द की 'नीली आंखें', और उनको 'सामन्त का मुंशी' कहना एक सच्चे लेखक के प्रति अन्याय ही होगा । दलित आलोचक डॉ.रामचन्द प्रेमचन्द जैसे रचनाकार के साहित्य के विषय में लिखते हैं 'प्रेमचन्द साहित्य में दलित चित्रण में निरपेक्षता दिखती है । रचनाकार का सामाजिक दायित्वबोध मिलता है ।...फिर भी रचना कर्म द्वारा इस तरह के किए गए प्रयासों को सराहा जाना चाहिए न कि खारिज करना चाहिए ।"[30] इसलिए प्रेमचन्द के लेखन के सही रूप में अध्ययन की जरूरत है । शुरूआती दौर में प्रेमचन्द का लेखन आदर्शवादी रहा जिस पर हम गांधी जी के सुधारवादी आंदोलन का प्रभाव पूरी तरीके से देख सकते हैं लेकिन बाद के लेखन में यथार्थवाद अपने प्रखर रूप में नज़र आता है । जिस पर अम्बेडकर के आंदोलन का भी प्रभाव दिखायी देता है । उनकी प्रगतिशील कहानियों और उपन्यासों में दलितों के अन्दर प्रखर चेतना तथा प्रेमचन्द की यथार्थवादी दृष्टि भी प्रतिलक्षित होती है । प्रेमचन्द के साहित्य को पूर्वाग्रही चश्मे से ही देखा जाता रहा है । उन पर गलत आरोप लगाना, उनके साहित्य को सही से न पढ़ने तथा दूसरे आलोचकों का अनुसरण करने कि 'प्रेमचन्द सामन्तवादी हैं' इसलिए उनका लेखन भी सामन्ती है यथार्थवादी नहीं आदि कथन को स्वीकार कर लेना है । अपनी जातिवादी दृष्टि को एक किनारे रख कर यदि हम प्रेमचन्द की कुछ रचनाओं का अध्ययन करें तो कहीं से भी यह नहीं लगता कि इनकी रचनाओं में आये दलित पात्र केवल शोषण सहते हैं बल्कि प्रतिकार भी करते हैं तथा उनमें चेतना भी दिखायी देती है ।

[29] सूरज बड़त्या (2012) सत्ता संस्कृति और दलित सौंदर्यशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, पेज नं.172

[30] उद्धृत-सं.दीपक कुमार, देवेन्द्र चौबे (2011) हाशिए का वृत्तांत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, पेज नं 290,

प्रेमचन्द के बाद के प्रगतिशील साहित्य में हमें दलितों का चित्रण निराला, यशपाल आदि रचनाकारों में मिलता है किन्तु वैसी तेजस्विता नहीं मिलती जैसी प्रेमचन्द में मिलती है । सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की **निरूपमा**, आचार्य चतुरसेन के **'गोली',** रांगेय राघव का **कब तक पुकारूं'**, फणीश्वर नाथ रेणु का **मैला आंचल**, यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का **पत्थर के आंसू** तथा **हजार घोड़ों का सवार**, शिवप्रसाद सिंह के **अलग-अलग वैतरणी,** जगदीश चन्द का **धरती धन न अपना**, शैलेश मटियानी के **बा गोपुली गफुरन** आदि में दलित मानव की पीड़ा का चित्रण मिलता है ।

गांधी और प्रेमचन्द के दौर से ही उदारवादी सवर्ण बुद्धिजीवी और लेखकों ने दलितों की समस्याओं पर ध्यान देना शुरू कर दिया था, भले ही इसके सुधार की दिशा में उनकी अपनी दृष्टि से ही दया और सहानुभूति दिखाते रहे हो; किन्तु छिटपुट ढंग से ही सही, प्रयास लगातार जारी रहे । गांधी और प्रेमचन्द के समय में ही 'चांद' जैसे पत्रों के 'अछूत अंक' (मई 1927) निकले । पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की '**चन्द हसीनों के खुतूत'** (1927) जिसमें दलितों द्वारा मन्दिर प्रवेश की लड़ाई का वर्णन है, हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास **'बाणभट्ट की आत्मकथा** (1946) भले ही दलित जीवन को केन्द्र में रखकर नहीं लिखी गयी किन्तु इसमें एक दलित नारी का चित्रण है जिसका नाम निपुणिका है । निपुणिका निम्न जाति से है । किन्तु जितनी प्रसिद्धि भट्टिनी को मिली उतनी निउनिया को नहीं इसकी वजह उसका दलित जाति से होना था । फिर भी लेखक नारी समस्या और उसकी नियति को परिभाषित करते हुए टिप्पणी करता है "बड़े करूणाजनक संयोगों के बीच से मैंने यह अनुभव किया है कि स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमाँश भी नहीं बता सकते । सहानुभूति के द्वारा ही उस मर्म वेदना का किंचित आभास पाया जा सकता है निपुणिका में इतने गुण हैं कि वह समाज और परिवार की पूजा का पात्र हो सकती थी पर हुई नहीं, निश्चय ही कोई बड़ा असत्य समाज में सत्य के नाम पर घर बना बैठा है ।"[31] इस उपन्यास में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने निपुणिका का सहानुभूतिपरक चित्रण किया है । इस संबंध में प्रसिद्ध आलोचक गोपालराय 'हिन्दी उपन्यास का इतिहास' में लिखते हैं कि 'निम्नवर्गीय निपुणिका को उपन्यासकार की सर्वाधिक सहानुभूति इसलिए मिली है कि वह नारी भी है और दलित भी, इसलिए वह दोहरे शोषण की शिकार है । एक स्थान पर निपुणिका बाणभट्ट से पूछती है, "मेरी ही शपथ करके तुम सत्य-सत्य कहो, मेरा कौन सा ऐसा पाप

[31] हजारी प्रसाद द्विवेदी: बाणभट्ट की आत्मकथा, पेज नं.216

चरित्र है जिसके कारण मैं निदारूण दुःख की भट्ठी में आजीवन जलती रही ? क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है?"[32]

अमृतलाल नागर का '**नाच्यौ बहुत गोपाल**'(1978) जो दलित-मेहतर समाज पर केन्द्रित है, नागार्जुन की **'हरिजनगाथा'** (लम्बी कविता), **बलचनमा** उपन्यास (1952) इस उपन्यास में बलचनमा एक दलित युवक है जो जमींदारी और सामन्ती शोषण प्रथा के ख़िलाफ़ आवाज उठाता है, इसमें नागार्जुन ने बलचनमा की राजनीतिक चेतना को बहुत ही उत्कृष्ट रूप से दिखाया है । धूमिल का '**मोचीराम'** (लम्बी कविता), मन्नू भंडारी का **'महाभोज'**, गिरिराज किशोर का **'यथाप्रस्तावित** (1982), **'परिशिष्ट'**(1984) इन दोनों उपन्यासों में सामाजिक उत्पीड़न और क्रूरता के शिकार तथा प्रशासनिक और शैक्षणिक व्यवस्था के अमानवीय ढांचे में पिसते छटपटाते दलित वर्ग का चित्रण हुआ है । रांगेय राघव का '**मुर्दों का टीला',** मनमोहन पाठक का '**गगन घटा घहरानी',** पुन्नी सिंह का **'पाथर घाटी के शोर'**, दूधनाथ सिंह का '**धर्मक्षेत्र-कुरूक्षेत्रे'**, काशीनाथ सिंह, जयनन्दन, संजीव, मधुकर सिंह, मुद्राराक्षस आदि साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में युग के अनुसार दलितों और उत्पीड़ितों को स्थान दिया और उनकी समस्याओं को गहराई से उभारने की कोशिश की । कुछ गैर-दलित आलोचकों तथा रचनाकारों ने दलित चेतना पर सर्वाधिक विचार किया तथा दलित लेखन और समस्याओं पर बहुत से विशेषांक निकाले जिनमें प्रेमचन्द, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, रमणिका गुप्ता और मैनेजर पाण्डेय आदि के नाम प्रसिद्ध हैं । इसके अलावा आधुनिक मराठी साहित्य की दलित दृष्टि को लेकर हिन्दी में सारिका के दो दलित विशेषांक निकले । कमलेश्वर के संपादन में वर्ष 1975 में निकले मराठी दलित साहित्य के ये सम्भवतः पहले हिन्दी विशेषांक थे, जिनके सम्पादक कोई गैर-दलित लेखक थे । उस समय दलित विषयों पर लेखन अधिकतर गैर-दलितों द्वारा ही हो रहा था । दया पवार, बाबूराव बागुल अर्जुन डांगले, सतीश कालसेकर आदि लेखकों के सहयोग से कमलेश्वर दलित चेतना का विस्तार भी करना चाह रहे थे, किन्तु कुछ कारणों से वह इस प्रयास में सफल नहीं हो सके ।'[33]

1960-70 के आस-पास विमर्शों की गूंज साहित्य में सुनायी देने लगी थी, स्त्री अस्मिता, दलित अस्मिता पर छिटपुट रूप से लेखन होने लगे थे । भले ही 1980-90 में दलित लेखकों द्वारा

[32] गोपाल राय, (2010) हिन्दी उपन्यास का इतिहास', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, पेज नं.189

[33] दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पेज नं.386

स्पष्ट रूप से साहित्य में दलित विमर्श तथा लेखन को स्थापित करने के प्रयास जारी हो गये थे किन्तु 90 से पहले कुछ गैर-दलित लेखकों की रचनाओं में दलित पात्रों में दलित चेतना का पुट तथा झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। यही कारण है कि बाद के कुछ गैर-दलित लेखकों द्वारा लिखे गये उपन्यास जिनमें हमें दलित चेतना दिखायी देती है उसमें मन्नू भंडारी का 'महाभोज' (1979) है। इसमें पहली बार दलितों को संघर्ष करके अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए दिखाया गया है। 'महाभोज' में दलित चेतना के दो छोर है। एक छोर बिन्दा और बिसेसर जैसे शिक्षित और आधुनिक चेतना से सम्पन्न नवयुवक है जो इस नरक से दलितों को मुक्ति दिलाने के लिए कोई कीमत चुकाने को तैयार हैं, दूसरी तरफ हीरा जैसे पुरानी पीढ़ी के लोग हैं जो समझौते और अनुनय-विनय की परंपरा पर चलकर ही जीवन-यापन करना चाहते हैं। प्रेमचन्द के होरी की तरह 'पैर के नीचे उंगली दबी हो तो पैर सहलाना ही बुद्धिमानी है' का अनुसरण करते हैं। आज भी उनके दरवाजे पर कोई बड़ा आदमी आ जाए तो अविभूत हो जाते हैं।'[34] 'महाभोज' उभरती हुई चेतना के भावी आयामों की ओर संकेत करता है। आज यह चेतना आंदोलन का रूप धारण कर चुकी है। इसी समस्या को जगदीशचन्द्र जी ने कई बिन्दुओं के माध्यम से अपने उपन्यास **'नरककुण्ड में बास'** (1914) में यथार्थ के नए क्षितिजों का उदघाटन करते हुए प्रस्तुत किया है। 'नरककुण्ड में बास' भूमिहीन और दलित व्यक्ति की समाज में क्या स्थिति है, उसका विविध आयामों से लेखक चित्रण करता है। तीसरा महत्वपूर्ण उपन्यास है **'मोरी की ईंट'** जिसके लेखक हैं श्री मदन दीक्षित। इसमें लेखक व्यंग्यात्मक स्वर में शासक वर्गों की स्वार्थपरता को उजागर करता है। वामपन्थी ट्रेड यूनियन में दीक्षित जी विद्यार्थी काल से ही सक्रिय रहे और जीवन के एक लम्बे समय तक मेहतर समाज के बीच रहकर सुख-दुख, जय-पराजय और संघर्ष गाथा के साथी और सहयोगी रहे, उन्हीं जीवनानुभवों की कलात्मक अभिव्यक्ति है।

यह सत्य है कि कोई भी रचना यदि दलितों की समस्याओं को केवल दर्शाती है और अपनी पूरी संवेदना उनके साथ रखती है तो उसे दलित चेतना नहीं कहा जा सकता। फिर भी ऐसा नहीं है कि गैर-दलित रचनाकारों और उनकी रचनाओं को महत्वहीन समझा जाय। यह पूरी तरह स्पष्ट है दलित वैचारिकी ही दलित और गैर-दलित रचनाकारों में दलित चेतना के विभाजन का केन्द्रीय बिन्दू है। वास्तविकता यह है कि हिन्दी दलित साहित्य में दलित आंदोलन को कोई स्थान ही नहीं मिला। आर्यसमाज से लेकर गांधी-दर्शन, सनातन धर्म इत्यादि हिन्दी साहित्य का अंग बने किन्तु अम्बेडकरवाद को साहित्य में कोई जगह ही नहीं दी गयी। दलित आंदोलन को प्रतिनिधित्व ही नहीं

[34] सं. सर्राफ, रामकली (2012) दलित लेखन का अन्तर्विरोध, शिल्पायन, दिल्ली, संस्करण, पेज नं.62

दिया गया। इसलिए उसने अपने प्रतिनिधित्व और अस्मिता को लेकर अलग से दलित साहित्य का निर्माण किया।

1.3 हिन्दी दलित साहित्य

जब भारत 1947 में आजाद हुआ तो पूरी जनता के जो सपने थे कि स्वाधीनता के बाद हमें सामाजिक न्याय और सामाजिक बराबरी मिल जायेगी, किन्तु आज़ादी जिन मूल्यों, आदर्शों एवं समानता के सिद्धान्त को लेकर मिलनी चाहिए थी, वे नकार दिए गए। आज़ादी के प्रारम्भिक चालीस वर्ष में सत्ता की बागडोर पूंजीवादी और सामन्ती शक्तियों और उच्च वर्ग के नेताओं के कब्जे में रही, जिन्होंने अपने वर्ग के हितों को ही सुरक्षित करने में जी जान लगा दिया और आज भी ये लोग सत्ता पर वर्चस्व जमाए हुए हैं। 1947 से पहले भारत अंग्रेजी दासता से पराजित था। लम्बे संघर्षों के बाद भारत ने ब्रिटिश शासन से तो मुक्ति पा ली किन्तु इसका अगला चरण ब्राह्मणवाद या सनातनी मूल्यों से मुक्ति पाना था। हांलाकि बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर और उनके अनुयाईयों ने तो 1950 के पहले भी दोनों मोर्चों पर संघर्ष किया था, तभी तो डॉ.अम्बेडकर ने गांधी से कहा था, 'हम तो दोहरी गुलामी में जीने को विवश हैं। एक अंग्रेजों की और दूसरे यहां के हिन्दुओं की।' इस दोहरी गुलामी से भारत का एक ऐसा तबका पीड़ित था जो सदियों से अंग्रेजों और ब्राह्मणवाद के दमन से परास्त था।

एक बार लियो टॉलस्टाय ने कहा था 'मैं एक शख्स की पीठ पर सवार हूं, मुझे उठाते हुए उसका दम निकला जा रहा है लेकिन मैं खुद को और दूसरों को भी यकीन दिलाता हूं कि मुझे उससे सहानुभूति है, और मैं हर मुमकिन तरह से उसका बोझ हल्का करना चाहता हूं। लेकिन उसकी पीठ से उतरे बगैर। इस स्थिति से यह साफ तौर पर पता चलता है कि भारत में सवर्णों और दलितों के बीच भी यही स्थिति बनी हुई है। वह बोझ चाहे व्यक्ति का हो या जाति का या फिर रूढ़ियों और पंरपराओं का भी क्यों न हो, दलित साहित्य उसी बोझ से मुक्ति पाना चाहता है। उसी मुक्ति के लिए उसके भीतर दलित साहित्य का सृजन होता है। इसलिए गुलामी से मुक्ति का साहित्य दलित साहित्य है।'[35] इस पहलू को समझ कर ही हम हिन्दी दलित साहित्य का सही अर्थों में मूल्यांकन कर सकते हैं।

हिन्दी का दलित साहित्य एक ऐसे समय अस्सी और नब्बे के दशक में विकसित हुआ साहित्यिक आंदोलन है जिसमें दलित लेखक आत्मसजगता से आते दिखायी देते हैं और स्वयं को एक

[35] उद्धृत- मोहनदास नैमिशराय: लेख-हिंदी में दलित साहित्य –seminar on Black and Dalit Writings-Some Recent Trends-14-17 October 1997, IIAS, Rashtrapati Nivas, Shimla-171005

अलग साहित्यिक धारा के रूप में स्थापित करने की जद्दोजहद में लगे रहते हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने अपनी जाति के साथ होने वाले भेद-भावों और जुल्मों का वर्णन किया। साहित्य में अपने प्रतिनिधित्व का सवाल भी एक बड़े सवाल के रूप में उभर कर आता है। हिन्दी में दलित साहित्य की आवाज एक आंदोलन के रूप में पहली बार दलित लेखकों ने ही बुलन्द की। दलित साहित्य के चिन्तन और दर्शन के पीछे एक पूरी ऐतिहासिक प्रक्रिया रही है। जाति-विरोध की परंपरा में बुद्ध दर्शन का सामाजिक योगदान, मध्य युग के संतों के सामाजिक-साहित्यिक आंदोलन एवं फुले, अम्बेडकर, पेरियार आदि की विशिष्ट भूमिका रही है। दलित-गैर-दलित लोंगो ने मिलकर जाति के ख़िलाफ़ एक आंदोलन चलाया जो आज दलित-साहित्य के रूप में विकसित है। किन्तु आज प्रश्न यह है कि दलित कौन है, दलित शब्द या दलित साहित्य की अवधारणा क्या है ? हिन्दी दलित साहित्य किसे कहेंगे ? दलित साहित्य कौन लिख सकता है? क्या दलित साहित्य में सहानुभूति और स्वानुभूति का प्रश्न उचित है? आदि इन्हीं प्रश्नों के माध्यम से हम हिन्दी दलित साहित्य के विषय में एक विस्तृत अध्ययन और मूल्यांकन कर सकते हैं।

दलित साहित्य की पारिभाषिक अर्थों में चर्चा आज हम जिन सन्दर्भों में करते हैं; उनमें दलित साहित्य सन् 1960 के आस-पास मराठी भाषा में एक आंदोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ, इसकी बुनियाद महाराष्ट्र में पहले ही डाली जा चुकी थी और 1970 तक मराठी भाषा के साहित्य में उसने केन्द्रीय महत्व प्राप्त कर लिया था। मराठी दलित साहित्य को केन्द्रीय महत्व का दर्जा आज भी प्राप्त है ।

सन् 1980 के बाद अन्य भारतीय भाषाओं में दलित साहित्य की गूंज सुनाई देती है जिसमें कन्नड़, गुजराती, पंजाबी, हिन्दी आदि भाषाएं थीं। मराठी में दलित साहित्य पारिभाषिक रूप में आधुनिक काल में ही प्रचलित हुआ । इस साहित्यिक आंदोलन की वैचारिक प्रेरणा डॉ.भीमराव अम्बेडकर व महात्मा ज्योतिबा फुले आदि के विचारों व उनके द्वारा चलाए गए सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों से मिली। मराठी दलित साहित्य स्वयं अपनी परंपरा को मराठी भक्त कवियों, विशेष रूप से चोखा मेला जो चौदहवीं सदी के प्रमुख मराठी सन्त कवि हुए, से जोड़ता है। साथ ही भक्त नामदेव, एकनाथ, समर्थ रामदास आदि की परंपरा को मराठी दलित साहित्य ने अपनाया । 1980 के बाद हिन्दी साहित्य में जब दलित स्वर की गूंज सुनायी देने लगी तो इन स्वरों ने आधुनिक मराठी दलित साहित्य से प्रेरणा और उत्साह ग्रहण किया ही था, साथ ही उसमें हिन्दी दलित साहित्य

या उत्तर भारत के दलित साहित्य की मध्यकालीन परंपरा भी मौजूद थी । उत्तरी भारत के दलित साहित्य के अग्रदूत के रूप में सन्त कबीर और रैदास का नाम लिया जाता है तथा उत्तरी भारत के दलित साहित्य का आरम्भ कबीर तथा रैदास से माना जाना चाहिए और वहीं से दलित साहित्य का ऐतिहासिक अध्ययन किया जाना चाहिए । देवेन्द्र चौबे के अनुसार-" दलित साहित्य एक साहित्यिक विमर्श ही नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक पद्धति (भारतीय) को समझने की कोशिश भी है जहां सिर्फ जाति के आधार पर एक पूरे समूह को अस्पृश्य मान लिया जाता है ।"[36] दलित साहित्य की उत्पत्ति के साथ-साथ यह जानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि दलित शब्द क्या है और दलित कौन हैं ?

1.3.1 दलित शब्द का आशय

वर्ण-व्यवस्था से शूद्र जातियों-उपजातियों का विकास होता रहा, फिर इनको चाण्डाल, अस्पृश्य, अछूत, हरिजन आदि अनेक नामों से पुकारा जाता रहा । इसके व्यापक अर्थ में जाने पर हम दलित शब्द का शाब्दिक अर्थ पाते हैं-'दबाया हुआ, कुचला हुआ' । समाज में जो वर्ग बहुत दिनों से सताया हुआ है वह दलित वर्ग है । 'दलित वर्ग का प्रयोग हिन्दू-समाज-व्यवस्था के अंतर्गत परंपरागत रूप से शूद्र माने जाने वाले वर्गों के लिए रूढ़ हो गया है । दलित वर्ग में वे जातियां आती हैं, जो निम्न स्तर पर हैं और जिन्हें सदियों से सताया गया है ।'[37] सदियों से जिनके साथ सामाजिक असमानता का व्यवहार किया गया हो, तथा जो वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद से अभिशप्त दलित, शोषित और उत्पीड़ित हों । जिन्हें विभिन्न प्रकार के सामाजिक बंधनों में बांधा गया तथा भूमिहीन, अछूत, दास, गुलाम, बंधुआ, दीन और पराश्रित जीवन जीने पर मजबूर किया गया है । वही दलित हैं ।

भारत में आर्य और अनार्यों के संघर्ष का एक इतिहास रहा है जिससे हमें दलित के उत्पीड़न तथा उनके बीच में युद्ध और विजित-पराजित जाति का बोध होता है, इस संघर्ष की श्रृंखला तथा असलियत की पड़ताल हम यहीं से कर सकते हैं कि कैसे अनार्यों को दलित बनाया गया और उन्हें बाहरी देश का सिद्ध किया गया और इसके साथ ही साथ आर्य कैसे इस देश के मूल निवासी हुए और

[36] देवेन्द्र चौबे (2009) आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राईवेट लिमिटेड, हैदराबाद, प्रथम संस्करण, पेज नं.69

[37] सं.चमनलाल (2012) दलित साहित्य: एक मूल्यांकन, संकलित लेख-माता प्रसाद- दलित साहित्य की पृष्ठभूमि, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली-06, पेज नं.19

उन्होंने स्वयं को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया । भारत में आर्य-अनार्यों में भयानक संघर्षों के बाद आर्य को जीत हासिल हुई तो उन्होंने पराजित जातियों जिनमें अनार्य, दास, असुर, दस्यु आदि थे, उनको शूद्र बना डाला । दमन का यह इतिहास इतना पुराना है कि जिसके बल पर आज विजयी जातियां दमन कर रही हैं । इस तरह से हम देखें तो भारत में 'दलित' जातियां थी ही नहीं वे एक ऐतिहासिक-सामाजिक प्रक्रिया में भारत के मूल निवासियों से ही अप्राकृतिक रूप से क्रूर सत्ता व दमन का प्रयोग कर 'दलित' बनाए गए हैं ।

1.3.2 दलित साहित्य: जद्दोजहद और संघर्ष से निकली एक अस्मिता

प्राचीन काल से जाति-विरोध की परंपरा चली आ रही है, जिसमें तमाम दलित-गैर-दलित भी शामिल थे और मिलकर एक साथ इस जातिवादी व्यवस्था को समूल रूप से नाश करने के लिए संघर्ष कर रहे थे । किन्तु आज जो ब्राह्मणवादी और सवर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त हैं वो इस व्यवस्था को यथा-स्थिति ही बनाए रखना चाहते हैं तथा दलित साहित्य को अपनाने से गुरेज कर रहे हैं । दलित साहित्य जब प्रारम्भ हुआ तथा इसकी चर्चा जोरों-शोरों से होने लगी तो मुख्यधारा के साहित्य में एक हलचल और खलबली मचने लगी कि ये कैसा साहित्य है जिसमें केवल गाली-गलौज और आक्रोश-नकार तथा प्रतिशोध की अभिव्यक्ति है । गैर-दलितों द्वारा यह कहना कि क्या साहित्य को भी अब विभिन्न खेमों और जातियों में बांट कर लिखा और पढ़ा जायेगा ? उनका प्रश्न कि क्या साहित्य का विभाजन जाति के आधार पर होना संभव है ? अब दलित साहित्य का भी सौन्दर्यशास्त्र लिखा जायेगा ? आदि ऐसे प्रश्न जो गैर-दलितों द्वारा उठाए गये तथा दलित साहित्य के विकास में तमाम तरह की अटकलें लगायी गयी । इसके बावजूद भी दलित साहित्य तमाम विरोधों, विमर्शों, आरोपों और षड्यन्त्रों को पार करते हुए आज साहित्य की मुख्यधारा में शामिल हो चुका है । अनेक संघर्षों के बाद इसने एक जीत हासिल की तथा यह साहित्य का विजेता विमर्श भी बना । इसलिए आज दलित विमर्श न केवल साहित्यिक क्षेत्र में बल्कि समाजशास्त्र और मानव-विज्ञान के क्षेत्र में भी पढ़ा और लिखा जा रहा है । दुनिया भर के छात्र इस विषय पर शोध कर रहे हैं तथा संगोष्ठियां आयोजित की जा रही हैं क्योंकि आज दलित विमर्श की सार्थकता है और महत्व भी । इसी रूप में हम दलित साहित्य की अवधारणा पर विचार करेंगे ।

समय और परिवर्तन दुनिया का सार्वभौमिक सत्य है । जिससे न हम आगे चलते हैं और न पीछे; जिसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलना मंजिल को प्राप्त करना है । चाहे कोई सा भी क्षेत्र

हो समय के साथ-साथ उसमें परिवर्तन होता है और वह अपनी यथास्थिति से एक वास्तविक स्थिति में भी आता है। जाति-विरोध की परंपरा से उपजे दलित साहित्य के क्रमिक विकास को भी हम इसी रूप में देख सकते हैं जिसकी एक ऐतिहासिक परंपरा रही है तथा उसके उन्मूलन के लिए विभिन्न आंदोलन और क्रान्तियां हुई। जाति व्यवस्था पर डॉ.अम्बेडकर ने अपने ग्रंथ 'आउट साइड फोल्ड' में लिखा था:-

"एक सवर्ण हमेशा सवर्ण रहता है।

एक अछूत हमेशा अछूत रहता है

एक ब्राह्मण हमेशा ब्राह्मण रहता है।

एक भंगी हमेशा भंगी रहता है

वे ऊंचे रहते हैं, जो ऊंचे पैदा होते हैं।

वे नीचे रहते हैं, जो नीचे पैदा होते हैं

भाग्य के कठोर नियम पर खड़ी है

यह व्यवस्था अपरिवर्तनीय

इसलिए व्यक्ति की योग्यता निरर्थक है

नीतिवान अछूत भी नीचा है, धनहीन सवर्ण से।

धनवान अछूत भी नीचा है धनहीन सवर्ण से।"[38]

जाति की इस असमान और विषमतापूर्ण व्यवस्था ने समाज में ऐसे लोगों को जन्म दिया जो अछूत, अन्त्यज और दास श्रेणी के थे जिन्हें अत्यन्त कठोर और गंदा काम करने के लिए बाध्य किया गया, जिनकी छाया-मात्र से ही सवर्ण अपने को अमंगल और दोषी समझने लगते थे तथा तुरन्त शुद्धिकरण करते थे। जन्म से ही जो अधिकार सवर्णों को प्राप्त थे उन्हीं मानवीय अधिकारों से दलित वंचित थे। किस तरह ब्राह्मणों ने अपने वर्चस्व तले दलितों को दबाकर उनका निरन्तर शोषण किया है। हिन्दू धर्म पर कटाक्ष करते हुए रमाशंकर यादव विद्रोही अपनी कविता में लिखते हैं...'धरम देश से बड़ा है/ उससे भी बड़ा है धर्म का निर्माता/ जिसके कमजोर बाजुओं की रक्षा में / तराशकर गिरा

[38] उद्धृत, कंवल भारती : डॉ.अम्बेडकर की कविताएं (अम्बेडकर-चिन्तन का काव्यानुवाद), बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, 1996, पेज नं.12

देते हैं/ पुरानी पोथियों में लिखे हुए हथियार/ तमाम चट्टानों की छोटी-छोटी बाहें/ क्योंकि बाम्हन का बेटा बूढ़े चमार के बलिदान पर जीता है।'[39] शिक्षा, सम्पत्ति, स्वतन्त्र व्यवसाय, पानी पीने का अधिकार, मंदिर प्रवेश का अधिकार सभी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक अधिकारों से दलितों को दूर रखा गया।

प्राचीन काल में जैन और बौद्ध धर्म ऐसी पहली क्रान्ति थी जो वणिक संस्कृति के विकास और सामाजिक नैतिक मूल्यों के टकराव का ही परिणाम थी, जिससे कालान्तर में धर्म, संस्कृति और विचारों का वैश्वीकरण हुआ। दूसरी बड़ी क्रान्ति भारत में भक्ति आंदोलन की थी, जिसमें मध्यकाल में व्यापारिक शक्तियों के भारत में आने से सामाजिक-नैतिक मूल्य और मान्यताओं का टकराव हुआ। मूल्यों के घात-प्रतिघात से जिन नए मूल्यों का निर्माण हुआ, उन्हीं मूल्यों के रूप में भारतीय जन-मानस ने स्वर्णिम युग का नया सवेरा देखा था। नवजागरण भी यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप भारतीय महाद्वीप में होने वाले आर्थिक, सामाजिक विकास और मूल्यों के संक्रमण का परिणाम था। इस दृष्टि से दलित क्रान्ति को भी आज के वैश्वीकरण का परिणाम माना जा सकता है क्योंकि दलित विमर्श केवल दलितों का विमर्श नहीं है, यह सम्पूर्ण भारतीय समाज और संस्कृति का विमर्श है।

दलित विमर्श के विकास में दलित साहित्यकारों का सराहनीय योगदान रहा है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, आंदोलनों तथा विभिन्न विधाओं में लेखन के माध्यम से दलित साहित्य का मार्ग प्रशस्त हुआ तथा मुख्यधारा के साहित्य में इसको स्थापित किया गया। दलित चेतना आज एक महत्वपूर्ण चेतना के रूप में अपनी सार्थक भूमिका निभा रही है। 'यह साहित्य के माध्यम से भारतीय समाज व्यवस्था में दलितों की स्थिति-परिस्थिति, मुख्यधारा के साथ उनके तालमेल, अस्मिता और पहचान आदि की बात करती है। साहित्य में इसी चेतना की अभिव्यक्ति को हम दलित साहित्य के नाम से जानते हैं।'[40] दलित साहित्य की प्रासंगिकता पर विचार करते हुए हरिनारायण ठाकुर लिखते हैं ; "विचार के क्षेत्र में यह इतना प्रखर और प्रौढ़ हो रहा है कि अन्य विचार इसके सामने सीमित और पुराने से लगने लगे हैं। यह जीवन-यथार्थ के सबसे करीब का साहित्य है। इसलिए इसकी अनुभूति में

[39] उद्धृत, समयांतर, जनवरी, 2016, पेज नं.33

[40] दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पेज न.28

जो ताकत और अभिव्यक्ति में जो सच्चाई है, वह अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती। साहित्य के इस नये सृजन और चिन्तन ने अब तक के बने बनाये समस्त सौन्दर्यशास्त्रीय ढांचे और परंपरागत इतिहास-बोध पर प्रश्न-चिन्ह सा लगा दिया है। इसका कारण भारतीय समाज की अनोखी संरचना, अमिट बनावट और तद्जनित सोच है। मार्क्सवादी साहित्य की तरह समाजशास्त्रीय सरोकारों को लेकर चलने वाले इस साहित्य का सम्बन्ध सीधा समाज से है। इसकी चिन्ता और चिन्तन के केन्द्र में भारतीय समाजव्यवस्था और उसमें अवस्थित व्यक्ति और वर्ग की नियति-प्रकृति है।"[41] इस प्रकार दलित साहित्य समाज के उस यथार्थ-धरातल पर खड़ा है जिसकी बुनियाद सौन्दर्यशास्त्र से अधिक समाजशास्त्र से है।

1.3.3 दलित साहित्य क्या है?

दलित शब्द का व्यापक प्रयोग उनके लिए होता है, जो सामाजिक संरचना और समाज- व्यवस्था में हाशिए पर जीवन यापन कर रहे हैं। वर्ण-व्यवस्था में जिसे अछूत या अन्त्यज समझा गया जिसका शोषण और दलन हुआ, जिसे संविधान ने अनुसूचित किया और जो जन्म से ही अछूत और घृणा के पात्र रहे हैं, वही दलित की श्रेणी में आते हैं। 'दलित' शब्द साहित्य के साथ मिलकर एक ऐसी साहित्यिक धारा का निर्माण करता है, जो मानवीय संवेदनाओं और सामाजिक सरोकारों की यथार्थवादी अभिव्यक्ति कर उसकी विसंगतियों को छिन्न-भिन्न कर देना चाहती है।'[42] शरणकुमार लिम्बाले के अनुसार-"हर एक मनुष्य को स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और भयमुक्त सुरक्षा मिलनी चाहिए; इसी पृष्ठभूमि पर निर्मित एक प्रवृत्ति साहित्य में अभिव्यक्त हो रही है। इस प्रवृत्ति का नाम दलित साहित्य है। दलित साहित्य मनुष्य को केन्द्र मानता है। मनुष्य के सुख-दुख से समरस होता है। मनुष्य को महान मानता है। मनुष्य को सम्यक् क्रान्ति की ओर ले जाता है।"[43] दलित साहित्य जीवन की जिजीविषा का साहित्य है। इसमें दलितों की अपनी पीड़ा, दुःख, वेदना बहुत ही गहरे रूप में अभिव्यक्त है, यह किसी नायिका के सौन्दर्य का बखान नहीं है और नहीं युद्धों तथा आश्रयदाताओं की

---

[41] वही, पेज नं.28

[42] वही, पेज नं.56

[43] शरण कुमार लिम्बाले (2010) दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.43

प्रशंसा का साहित्य है। कल्पना का इसमें लेश-मात्र नहीं बल्कि बेबाक और निर्भीक रूप से यह यथार्थ का चित्रण करता है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस कड़वे जीवन को भोगा है उसकी अभिव्यक्ति ही दलित साहित्य है।

1.3.4 दलित साहित्य की परिभाषा और सीमाएं

दलित साहित्य डॉ.अम्बेडकर की विचारधारा से अपना मूल ग्रहण करता है। डॉ.अम्बेडकर की विचारधारा के केन्द्र में मनुष्य है इसलिए उसकी सीमाओं के दायरे में पूरी मानवता विद्यमान है। आज दलित साहित्य का दायरा एक विस्तृत फलक ले रहा है। वह मूल साहित्य का रूप ले रहा है और 21वीं सदी की चर्चा में वह मूल साहित्य का रूप ले चुका है। डॉ.अम्बेडकर का दर्शन ही दलित साहित्य की मुख्यधारा है। शरणकुमार लिम्बाले के अनुसार "दलित साहित्य अपना केन्द्र बिन्दु मनुष्य को मानता है। बाबासाहब के विचारों से दलित को अपनी गुलामी का अहसास हुआ, उनकी वेदना को वाणी मिली, क्योंकि उस मूल समाज को बाबासाहब के रूप में अपना नायक मिला। दलितों की वह वेदना साहित्य की जन्मदात्री है। दलित साहित्य की वेदना 'मैं' की वेदना नहीं, वह बहिष्कृत समाज की वेदना है।"[44] ओमप्रकाश वाल्मीकि जी का मानना है कि- "लेखन केवल लिखना ही नहीं, एक कार्यवाही है, और बुराई के ख़िलाफ़ मनुष्य के सतत संघर्ष में लेखन को सायास एक हथियार की तरह इस्तेमाल करना चाहिए।"[45] 'बाबूराव बागूल 'दलित' विशेषण को सम्यक् क्रान्ति का नाम मानते हैं जो कि क्रान्ति का हस्ताक्षर है।' 'दलित शब्द दबाए गए, शोषित, पीड़ित, प्रताड़ित के अर्थों के साथ जब साहित्य से जुड़ता है तो विरोध और नकार की ओर संकेत करता है। वह नकार या विरोध चाहे व्यवस्था का हो, सामाजिक विसंगतियों या धार्मिक रूढ़ियों, आर्थिक विषमताओं का हो या भाषा प्रान्त के अलगाव का हो या साहित्यिक परंपराओं, मानदण्डों या सौन्दर्यशास्त्र का हो, दलित साहित्य नकार का साहित्य है जो संघर्ष से उपजा है तथा जिसमें समता, स्वतन्त्रता और बन्धुता का भाव है और वर्ण-व्यवस्था से उपजे जातिवाद का विरोध है।'[46] दलित साहित्य की जितनी

---

[44] वही, पेज नं.43

[45] ओमप्रकाश वाल्मीकि (2009) दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.22

[46] वही, पेज नं.16

परिभाषाएं हैं, उनका एकमात्र स्वर है सामाजिक परिवर्तन । अम्बेडकरवादी विचार ही उसकी एकमात्र प्रेरणा है । बाबूराव बागूल के शब्दों में कहें, "मनुष्य की मुक्ति को स्वीकार करने वाला, मनुष्य को महान मानने वाला, वंश, वर्ग और जाति को श्रेष्ठता का प्रबल विरोध करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है ।"[37]

निष्कर्षतः दलित साहित्य सम्पूर्ण मानवता की बात करता है । दलित साहित्य दलितों के लिए दलितों द्वारा लिखा होने पर भी पूरी मनुष्यता को सम्बोधित करता है । दलित लेखक दलित समाज की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक तीनों स्तरों पर अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना चाहता है ।

1.3.5 दलित साहित्य: स्वरूप और लक्ष्य

1947 में जब भारत आज़ाद हुआ तो भारतीय समाज और जनमानस में राजकीय आकांक्षा का प्रबल होना स्वाभाविक था । हर एक पंचवर्षीय योजना, चुनाव सत्ता का विकेन्द्रीकरण, लोक-कल्याणकारी योजनाएं और शिक्षा के प्रसार से भारतीय जनजीवन में आमूल परिवर्तन हुआ । लोकतांत्रिक शासन पद्धति में प्रत्येक आम-आदमी अपने अधिकार के लिए सजग हो उठा । 'भारत की स्वतन्त्रता' की भावना से स्वातंत्र्योत्तर काल प्रभावित हो गया था । कुछ लोगों के लिए आजादी एक जश्न थी और कुछ लोगों के लिए धोखा 'साफ़-दाग़-दाग़ उज़ाला' यह कुछ लोग आम-आदमी, स्त्री, दलित, आदिवासी पिछड़े थे । आज़ादी से पहले जो समस्याएं और प्रश्न इनके समक्ष मुंह बाएं खड़े थे, आजादी के बाद यह समस्या और विकराल हो गयी थी । कवि दुष्यन्त के शब्दों में:-

'कहां तो तय था मयस्सर चिरांगा हर एक घर के लिए

कहां चिराग मयस्सर नहीं एक शहर के लिए ।'

भारत को जो आजादी मिली उस पूरी आजादी में एक छलावापन था जिसका सबसे ज्यादा शिकार दलित पिछड़े हुए । बेकारी, बेरोजगारी, निर्धनता, जनसंख्या वृद्धि, जातिगत-वैमनष्यता, भ्रष्टाचार, जातिवादी राजनीति, हिन्दुत्ववादी शक्ति का हो-हल्ला, अत्याचार और हमेशा हौवा दिखाने वाली अकाल की परिस्थिति के कारण मनुष्य का स्वतन्त्रता से विश्वास उठ गया और अपने प्रश्नों, समस्याओं के निदानीकरण के लिए उन्होंने एक जन-आंदोलन शुरू कर दिया ।

समाज के अनेक भागों में शिक्षा और जनतंत्र का विचार पहुंचा । अलग-अलग प्रदेशों में रहने वाले लोग, देहात और देहात के बाहर के दलित, यायावर और आदिवासी शिक्षा को ग्रहण करके जागृत और चेतनाशील होने लगे । किसानों, स्त्रियों और श्रमिक वर्ग में भी शिक्षा का प्रसार हुआ । शिक्षा का जनतांत्रीकरण प्रारंभ हुआ । 'एक मनुष्य एक मूल्य' यह विचार चारों ओर फैला, पर सामाजिक परिस्थिति में किसी प्रकार का बदलाव नहीं आया । समता, स्वतन्त्रता, बंधुता और न्याय जैसे मानवीय मूल्यों का ज्ञान हो जाने के कारण राष्ट्र, समाज और व्यक्ति के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन तो हुआ, लेकिन विषम व्यवस्था और उसके विरूद्ध असंतोष के कारण, समाज के मन में वेदना और विद्रोह भी सुलग उठा ।

दलित आंदोलन इसी असंतोष और सामाजिक व्यवस्था की असमानता से उपजा था । दलित आंदोलन में शिरकत करने वाले बहुत से बुद्धिजीवी वर्ग, राजनीतिज्ञ, कार्यकर्ता पिछड़े, दलित और साहित्यकार शामिल थे । दलित आंदोलन को दलित साहित्य के रूप में स्थापित करने में लेखकों और साहित्यकारों ने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । इन लेखकों ने अपनी भाषा, अपना परिवेश, अपनी परिस्थिति और अपने प्रश्न साहित्य में प्रस्तुत किए । इस कारण दलित साहित्य का स्वरूप और लक्ष्य बहुचर्चित हुआ ।

आधुनिक दलित साहित्य बाबासाहब भीमराव अम्बेडकर के (सैद्धान्तिक जीवन) दर्शन पर आधारित है । बाबासाहब ने पूरे दलित समाज के लिए एक आंदोलन खड़ा किया जिसमें उनके अधिकार के लिए सशक्त आवाज थी और उनके अभिशप्त जीवन से छुटकारा । उनके इस कार्य से संपूर्ण दलित समाज प्रभावित हुआ । **'मूकनायक'** से महानिर्वाण 1920 से 1956 तक का समय बाबासाहब अम्बेडकर की कलम और वाणी तथा उनके कार्य से प्रभावित हो गया था । इस काल में जो लेखन हुआ है, वह क्रांति का प्रचार करने वाला है । बाबासाहब के कार्यकाल को दलित आंदोलन तथा उनका धर्मान्तरण तथा निर्वाण से दलित समाज अत्यन्त प्रभावित हुआ । जहां धर्मान्तरण के कारण दलित समाज को एक नई सांस्कृतिक परंपरा प्राप्त हुई वहीं बाबासाहब के निर्वाण से दलित समाज में बहुत बड़ी सांस्कृतिक रिक्तता भी आई । जिससे दलित संगठन तथा दलितों पर भारी बुरा असर पड़ा । बाबा साहब के बाद का नेतृत्व गुटों में विभाजित हो गया । दलितों पर अन्याय-अत्याचार की घटनाएं बढ़ गई । जीने के प्रश्नों के साथ ही शारीरिक दमन तीव्र हुआ । इसलिए दलित समाज में 'हमारा कोई रक्षक नहीं है' ऐसी भावना भी उदित होने लगी ।

स्वतन्त्रता के बाद दलित युवकों ने शिक्षा के कारण बाबासाहब के मूल मंत्र संगठन और संघर्ष के महत्व को भी समझा। भारतीय स्वतन्त्रता और संविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार से उनके प्रश्न हल हो जायेंगे उनकी यह आशा व्यर्थ थी यह उनके सपनों पर पानी फेरना जैसा सिद्ध हुआ। एक ओर ज्ञान-विज्ञान और कानून के कारण दलित समाज में प्रचंड जागृति होने लगी थी लेकिन दूसरी ओर दरिद्रता और जाति व्यवस्था ने दलितों को जर्जरित कर रखा था। शिक्षा का प्रचार, आंदोलन का दबाव और परिस्थिति के विरूद्ध संघर्ष के कारण दलित युवकों ने प्रस्थापित विषम व्यवस्था के विरूद्ध अपने मन में होने वाली 'चिढ़' और 'क्रोध' को अपने लेखन में व्यक्त किया। इस लेखन को ही 'दलित साहित्य' के नाम से संबोधित किया गया है।

दलित साहित्य वर्चस्ववाद, अधिनायकवाद, सामन्तवाद, ब्राह्मणवाद तथा पूंजीवाद का प्रबल विरोधी है। दलित साहित्य एक ऐसे समाज का पक्षधर है जो वर्ग विहीन और वर्ण विहीन है तथा यह भाषावाद और लिंगवाद का भी पुरजोर विरोध करता है। वर्ग विहीन समाज की संकल्पना, आर्थिक समानता और सत्ता संघर्ष के कारण यह मार्क्सवाद के करीब दिखाई पड़ता है। किन्तु दलित चेतना और मार्क्सवादी चिन्तन में पर्याप्त अन्तर है। मार्क्सवादियों की विचारधारा का पूरा आधार वर्ग-संघर्ष है उनके केन्द्र में अर्थ और वर्ग है तो दलित साहित्य के केन्द्र में वर्ण और संस्कृति। दलित साहित्य की मूल चिन्ता मनुवाद का विरोध करते हुए असमानता और अस्पृश्यता का अन्त करना है। मार्क्सवाद के वर्ग-चिन्तन में वर्ण-चिन्तन का सर्वथा अभाव है। उसने भारतीय वर्ण-व्यवस्था को भी वर्ग-व्यवस्था के अन्दर ही देखा। जाति भारतीय समाज की एक ऐसी सच्चाई है जिसका समाधान हम वर्ग के अन्दर नहीं ढूंढ सकते हैं। जन्म लेने से पहले और मृत्यु के बाद तक जातियां कभी भी मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ती मार्क्सवाद ने भारतीय समाज के इस कारूणिक सच्चाई को नहीं समझा। इसी कारण से ओमप्रकाश वाल्मीकि भारतीय वामपन्थी आंदोलन पर आरोप लगाते हैं- "इस आंदोलन ने जाति-भेद को अनदेखा ही नहीं किया, बल्कि अपने बीच किसी दलित नेतृत्व को उभरने नहीं दिया।"[47] कुल मिलाकर दलित साहित्य दलित अस्मिता और अस्तित्व को रेखांकित करता है और यही दलित साहित्य है जिसके केन्द्र में वर्ग के साथ-साथ वर्ण का प्रश्न भी अत्यन्त आवश्यक है।

[47] कल के लिए, दिसम्बर, 1998 में प्रकाशित, ओमप्रकाश वाल्मीकि का लेख, पेज नं.1

साहित्य दलित चेतना की उत्कट और सार्थक अभिव्यक्ति है। यह जिस संवेदना, मानवीय मूल्य और सरोकारों की बात करता है, उसकी जड़ में सामाजिक न्याय जातीय समरसता, समता, बंधुत्व और सम्मान की भावना निहित है। दलित साहित्य का मानना है कि दलित समस्या और सामाजिक सद्भाव की जो बातें अब तक होती रही हैं, वह केवल सैद्धान्तिक थीं। वह सवर्णों द्वारा दलितों को बहलाने की बातें थीं, जिन्हें दलित विद्धान और चिन्तकों ने कब का खारिज कर दिया। दलित अब अपना निर्णय खुद करने लगे हैं। इसलिए विचार के क्षेत्र में दलित केवल कबीर, रैदास आदि दलित सन्त एवं महात्मा फुले, अम्बेडकर, पेरियार आदि दलित विचारकों से ही प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

दलित साहित्य की वैयक्तिक संरचना के मूल में बौद्ध चिन्तन, ज्योतिबा फुले और डॉ.अम्बेडकर के विचार और दर्शन है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह 'नीग्रो साहित्य' से भी प्रभावित है। इस विचारधारा से अपनी राह निकालते हुए दलित साहित्य ने अपनी मंजिल की पूर्वपीठिका तैयार की, जिसका अग्रिम रूप हमें दलित साहित्यकारों तथा उनकी रचनाओं में मिलता है।

1.3.6. दलित साहित्य का समृद्ध साहित्य

अस्सी के दशक में दलित साहित्य की जड़ें और गहरी हुई और इसने आंदोलन का स्वरूप ग्रहण किया । 'पीड़ा जो चीख उठी' भूमिका के अनुसार 'दलित साहित्य के मंच के रूप में 2 अक्टूबर 1981को संस्थापित 'भारतीय दलित साहित्य मंच' हिन्दी दलित कवियों की गतिविधियों का दिल्ली में कदाचित प्रथम केन्द्रीय मंच था, जिसकी स्थापना सोहनपाल सुमनाक्षर, कुसुम वियोगी, कर्मशील भारती, मंसाराम विद्रोही, लक्ष्मीनारायण सुधाकर, रामदास शास्त्री, राजपाल सिंह आदि के संयुक्त प्रयासों से हुई ।' 6 अगस्त 1985 को बाबू जगजीवन राम के सहयोग से डॉ.सोहनपाल सुमनाक्षर ने 'भारतीय दलित साहित्य अकादमी' की स्थापना की । यह अकादमी बाबा साहब अम्बेडकर के निर्वाण दिवस हर 6 दिसंबर को पुण्यतिथि मनाने के साथ-साथ राष्ट्रीय स्तर का दलित साहित्य सम्मेलन भी करवाती है । प्रथम दलित साहित्यकार सम्मेलन में दलित कविता, कहानी, संस्मरण, आत्मकथा, आलोचना, पत्रकारिता और इतिहास पर खुलकर बहस हुई । इस प्रकार धीरे-धीरे दलित लेखन की गति तेज होती गई और इसने एक साहित्यिक आंदोलन का रूप ग्रहण कर लिया । दलित रचनाकारों ने विभिन्न विधाओं के माध्यम से दलित साहित्य को सशक्तता और समृद्धि प्रदान की । कुछ प्रमुख दलित कवियों में भीमसेन संतोष **(शोषित कहे पुकार के),** सुखबीर सिंह **(बयान बहार),** पुरूषोत्तम सत्यप्रेमी **(सवालों का सूरज),** ओमप्रकाश वाल्मीकि **(सदियों का संताप, बस्स बहुत हो चुका, अब और नहीं)**, धर्मवीर **(हीरामन),** श्यामसिंह शशि **(एकलव्य और अन्य कविताएं),** सोहनपाल सुमनाक्षर (**सिन्धु घाटी बोल उठी),** माता प्रसाद **(अछूत का बेटा),** श्यौराज सिंह बेचैन **(क्रौंच हूं मैं**), एन सिंह **(सतह से उठते हुए),** एन.आर.सागर **(आजाद हैं हम),** लालचंद राही **(मूक नहीं हैं मेरी कविताएं),** मनोज सोनकर **(शोषितनामा),** जयप्रकाश कर्दम **(गूंगा नहीं था मैं), मलखान सिंह (सुनो ब्राह्मण)** आदि दलित रचनाकारों के कविता संग्रह हैं, जिसमें दलित पीड़ा की प्रखर अभिव्यक्ति हुई है । डॉ.अम्बेडकर की आत्मकथा '**मी कसा झालो'** (मैं कैसे बना), से प्रेरणा लेकर दलित साहित्यकारों ने आत्मकथा विधा विकसित की है जो समाज को दर्पण दिखाती है कि वह समाज जिसमें हम रहते हैं कितना अमानुषिक है । आत्मकथा ने दलित साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में अपनी पहचान बनाई है । हिन्दी दलित साहित्य में प्रमुख आत्मकथाओं में ओमप्रकाश वाल्मीकि की **'जूठन'**, मोहनदास नैमिशराय की **'अपने-अपने पिंजरे'**, सूरजपाल चौहान की **'तिरस्कृत, संतप्त'**, श्यौराज सिंह बेचैन की '**मेरा बचपन मेरे कंधो पर'** माताप्रसाद की **झोपड़ी से**

राजभवन, तुलसीराम की **'मुर्दहिया तथा मणिकर्णिका',** धर्मवीर का **'मेरी पत्नी और भेड़िया'** आदि प्रमुख हैं। दलित आत्मकथाओं ने दलित साहित्य का फ़लक विस्तृत किया है।

दलित उपन्यासों में मोहनदास नैमिशराय का '**जख्म हमारे'**, क्या मुझे खरीदोगे, 'मुक्ति पर्व' '**बाबासाहब अम्बेडकर'**, 'वीरांगना झलकारीबाई' जयप्रकाश कर्दम का 'करूणा' **'छप्पर'**, अजय नावरिया का **'उधर के लोग',** रूप नारायण सोनकर का **'डंक', 'सूअरदान'** आदि है।

दलित आलोचना ने भी अपनी गहरी जड़ें जमायी हैं। खास तौर से धर्मवीर ने कबीर पर अपनी स्थापनाएं सिद्ध करके सम्पूर्ण हिन्दी जगत को 'कबीर' पर पुनर्विचार के लिए बाध्य किया। उनकी **कबीर के आलोचक**, **कबीर बाज भी कपोत भी, पपीहा भी** आदि पुस्तकों में उन्होंने कबीर विषयक नवीन स्थापनाएं दी हैं। इसके अलावा ओमप्रकाश वाल्मीकि जी ने **सफाई देवता**, **मुख्यधारा और दलित साहित्य**, **दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र**, कंवल भारती की दर्जनों आलोचनात्मक और समीक्षात्मक पुस्तकें हैं, इसी रूप में श्यौराज सिंह बेचैन, तेज सिंह, जयप्रकाश कर्दम, मोहनदास नैमिशराय आदि दलित लेखकों की जमात ने दलित आलोचना और समीक्षा को अपनी लेखनी और रचनात्मकता के माध्यम से समृद्ध किया है। पत्रकारिता के क्षेत्र में मोहनदास नैमिशराय, चन्द्रभान प्रसाद, श्यौराज सिंह बेचैन आदि दलित लेखकों ने सिक्का जमाया है। इस दिशा में श्यौराज सिंह बेचैन का **हिन्दी की दलित पत्रकारिता पर अम्बेडकर का प्रभाव** और चन्द्रभान प्रसाद का **विश्वासघात** अद्यतन जानकारी से युक्त कार्य है। दलित कहानीकारों में भी यही रचनाकार हैं जिनकी कहानियां दलित समाज की सशक्त अभिव्यक्ति हैं।

दलित नाटकों में मोहनदास नैमिशराय की 'अदालतनामा', रूपनारायण सोनकर का 'एक दलित डिप्टी कलेक्टर' कंवल भारती का 'नीरो' इत्यादि प्रमुख है। युवा रचनाकार सर्वेश कुमार मौर्या ने दलित नाटकों और एंकाकी पर श्रेष्ठ काम किया है।

दलित साहित्य से संबंधित लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में दलित लेखक और विचारक लिखते रहे हैं जिससे दलित साहित्य की नींव अत्यधिक सुदृढ़ हुई जिसमें- 'अंगुत्तर', 'मूकनायक', 'बयान', 'हम दलित', 'हाशिए की आवाज़', 'सम्यक् भारत', 'युद्धरत आम-आदमी', 'वंचित जनता', 'दलित साहित्य वार्षिकी', 'कदम', 'अनभै सांचा' इत्यादि है। इन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में दलित लेखकों के तेवर और आक्रोश को सामाजिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ देखा जा सकता है।

समग्रता में देखें तो दलित साहित्य 1980-90 के दशक में हिन्दी साहित्य में एक नई धारा के रूप में उभर कर आया और इसने लगभग हर विधा में अपनी सशक्त पहचान बनाई । प्रारंभ में दलित साहित्य को देखकर नाक-भौं सिकोड़ने वाले लोग बहुत थे किन्तु एक लम्बे संघर्ष और जद्दोजहद के बाद इसने हिन्दी साहित्य में स्वयं को स्थापित किया है। इस संबंध में राजेन्द्र यादव ने कहा था कि- 'दलित साहित्य और महिला साहित्य ही 21वीं सदी का साहित्य होगा।' यह एक मात्र ऐसा अखिल भारतीय आंदोलन है जिसने पूरे विश्व में अपने साहित्य के माध्यम से लोगों के अन्दर चेतना जगाने और अपनी पहचान बनाने का काम किया और मुख्यधारात्मक साहित्य को विचार करने के लिए बाध्य भी किया कि क्या वास्तव में उस साहित्य को साहित्य कहा जाना चाहिए जिसमें पूरे समाज का वह तबका ही हाशिए पर है जो सदैव से संघर्षशील रहा है ? निष्कर्षतः सदियों से उपेक्षित और उत्पीड़ित समाज आज इस स्थिति में है कि उनकी आवाज को अनसुनी नहीं किया जा सकता । जबकि सामाजिक समानता के लिए अभी लम्बा संघर्ष करना बाकी है। इतिहास, यथार्थ और संघर्षों की एक लम्बी परंपरा रही है। दमन, अन्याय और शोषण की इस वृहद परंपरा से सचेत होकर आज के उत्पीड़ित वर्ग ने कलमबद्ध होना शुरू कर दिया है । दलित साहित्य ने जातिव्यवस्था के विरोधस्वरूप आंदोलन छेड़कर हिन्दी दलित साहित्य संघर्ष और जद्दोजहद की एक ऐसी परंपरा विकसित की है, जिसने साहित्य में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करते हुए अस्मिता और अस्तित्व की कवायद स्वयं की है।

दूसरा अध्याय
हिन्दी साहित्य में दलित स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि और अवधारणा

'अग्नि चाहे चन्दन की हो, चाहे दूसरी लकड़ी की उसकी शिखा एक ही सी होती है; इसी भांति मनुष्य चाहे किसी जाति का हो, यदि उसमें पांचों आत्मिक गुण विद्यमान हैं, तो वह उन्नति के पथ पर अग्रसर होने का अधिकारी है ।"[48]-- गौतम बुद्ध'

[48] सं.नन्दकिशोर तिवारी (1927) चांद का अछूत अंक, राधाकृष्ण प्रकाशन

हिन्दी दलित साहित्य में दलित स्त्री विमर्श को एक कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। हालांकि भारतीय साहित्य में इसके बीज हमें बौद्धकालीन थेरीगाथाओं से मिलते हैं। भले ही 60-70 के दशक में शुरु हुए दलित विमर्श और स्त्री विमर्श के बाद से इसने अपनी आवाज़ बुलन्द की हो, किन्तु बौद्धकाल, मध्यकाल और आधुनिककाल में ऐसी महान दलित स्त्रियाँ हुईं जिन्होंने अपने-अपने स्तर पर इस विमर्श को धार देने की कोशिश की। मुख्यधारा के इतिहास ने दलितों के उन महत्वपूर्ण नायक-नायिकाओं को भुला दिया जिनका देश की आज़ादी से लेकर, शिक्षा और देश के संविधान निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इसलिए दलित अपना इतिहास स्वयं रच रहे हैं और उन अमिट नायक-नायिकाओं को अपने साहित्य का वीर पुरुष तथा वीरांगना के रूप में स्थापित भी कर रहे हैं। बद्री नारायण लिखते हैं.."दलितों द्वारा प्रस्तावित इतिहास निष्क्रिय और लोगों से कटे हुए नहीं हैं। अकादमिक इतिहासकारों द्वारा लिखे जाने वाले इतिहासों के विपरीत वे लोगों की स्मृतियों में जिन्दा हैं और उनमें दलितों को प्रभावित और मॉबिलाइज करने की शक्ति है। वर्चस्वशाली ब्राह्मणवादी शक्तियों के ख़िलाफ़ दलित संघर्ष का नेतृत्व करने वाली दलित राजनीतिक शक्तियां विभिन्न दलित समुदायों को मॉबिलाइज करने के लिए और उन्हें एक राजनीतिक छत्र के नीचे लाने के लिए दलित इतिहास और उसके प्रतीकों का सफलतापूर्वक इस्तेमाल कर रही हैं।"[49]

वीरांगना झलकारीबाई, ऊदा देवी, महावीरी देवी, अजीजन बाई से लेकर ज्योतिबाफुले-सावित्रीबाई फुले, दुर्गाबाई इत्यादि प्रतीकों का आज दलित-दलित स्त्री साहित्य अपने लेखन में बहुत उत्साह से उल्लेख कर रहा है। इतिहास की महत्ता हमेशा से रही है और इसी इतिहास ने आज दलितों के भविष्य को निर्मित करने में अपनी प्रमुख भूमिका निभायी है। 'देश में प्रजातंत्र के विकास और सत्ता में हिस्सेदारी के लिए बढ़ती होड़ को देखते हुए इतिहास के माध्यम से दलितों के सशक्तीकरण के ऐसे बहुत-से उदाहरण ढूँढ़े जा सकते हैं। ये नए

[49] बद्री नारायण (2014) दलित वीरांगनाएं एवं मुक्ति की चाह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.115

इतिहास अपने-आपको भविष्य का इतिहास सिद्ध कर सकते हैं, और दक्षिण एशियाई समाजों के दलित, उपेक्षित और दबे-कुचले वर्गों के भविष्य के इतिहास भी ।"[50] दलित स्त्री विमर्श ने इन्हीं महाननायकों को अपना आदर्श मानते हुए दलित स्त्री विमर्श के साहित्य को गढ़ने की कोशिश की है । इस अध्याय में मैं दलित स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि और अवधारणा को केन्द्र में रखकर अपनी बात करूंगी । इस अध्याय में दो चरण होंगे, जिसमें पहले दलित स्त्री विमर्श और संघर्ष को धार देने वाले प्रारम्भ से लेकर वर्तमान तक के प्रमुख ऐतिहासिक नायक-नायिकाओं व व्यक्तित्वों पर चर्चा की जायेगी और दूसरा दलित स्त्री विमर्श की अवधारणा और उसकी सैद्धान्तिकी को समझने का प्रयास किया जायेगा ।

2.1 दलित स्त्री विमर्श : व्यक्तित्व

2.1.1 गौतमबुद्ध और थेरीगाथा : दलित स्त्री विमर्श की पहली यात्रा

"स्त्री संसार की विभूति है क्योंकि उनकी अपरिहार्य महत्ता है । उसके द्वारा ही बोधिसत्व तथा विश्व के अन्य शासक जन्म ग्रहण करते हैं ।"[51]

गौतम बुद्ध ने सर्वप्रथम विभिन्न वर्ग, जाति और धर्म की स्त्रियों की मुक्ति का मार्ग खोला । जिस काल में मनुस्मृति की रचना हुई और इसे उच्च वर्गों तथा वर्णों के द्वारा काफ़ी सराहना मिली, उस समय बुद्ध ऐसे पहले व्यक्ति थे जिसने स्त्री समाज के उद्धार के लिए काम किया । दलित स्त्रियों के लिए ज्ञान और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाले गौतम बुद्ध उनके प्रेरणा स्रोत हैं और प्रणेता भी । गौतम बुद्ध के महत्व को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध दलित आलोचक तेज सिंह लिखते हैं कि- "यह बुद्ध की शिक्षाओं का ही असर था कि उन्होंने शूद्रों और नारियों को सामाजिक क्रांति की दहलीज पर लाकर खड़ा कर दिया । आदिम-साम्यवादी व्यवस्था के बाद

[50] वही, पेज नं.116

[51] डॉ.अम्बेडकर (2013) हिन्दू नारी का उत्थान और पतन, अनु.शीलप्रिय बौद्ध, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली,पेज नं.22

पहली बार बौद्धकाल में नारी ने आज़ादी और समानता का अनुभव किया और खुली हवा में सांस लिया।"[52]

हिन्दू समाज एक ऐसा समाज है जिसमें अनेक जटिलताएं हैं। यह परंपराओं, रूढ़ियों, नियम-कायदे-कानूनों का एक ऐसा पुलिन्दा है जिसकी सबसे ज़्यादा शिकार स्त्री है। दासता का जीवन जीने वाली केवल निम्न और दलित वर्ग की स्त्रियाँ ही नहीं थीं बल्कि राजघराने और ब्राह्मण कुल की भी स्त्रियाँ अपने महलों में दासता का जीवन जी रही थीं, भले ही उनकी समस्याएं कुछ अलग रहीं हों। महलों में भी उनका जीवन कष्टमय और नारकीय था किन्तु सामाजिक अवमाननाएं केवल दलित स्त्रियों को सहनी पड़ती थीं। इस प्रकार महिलाओं का जीवन एक ऐसे वृक्ष के समान हो गया था जिसके सभी पत्ते पीले और सूखे होते जा रहे थे और उनमें हरियाली का कोई नामोनिशान नहीं था। उन्होंने अपने जीवन में सुख और स्वतन्त्रता की कल्पना की आशा भी त्याग दी थी। इन महिलाओं के जीवन में आशा का अंकुर तब फूटा जब गौतम बुद्ध ने उनको संघ में शामिल होने की आज्ञा दी। बौद्ध काल से पूर्व इन स्त्रियों का जीवन घर तक ही सीमित था। वे समस्त अधिकारों से विहीन मात्र पुरुष की भोग्या के रूप में देखी जाती रहीं। गौतम बुद्ध की विचारधारा तार्किक, वैज्ञानिक और क्रांतिकारी थी। गौतम बुद्ध से पहले का समाज जातियों, धार्मिक कर्मकांडों, पाखंडों तथा अन्धविश्वासों में जकड़ा था। ऐसे समय में गौतम बुद्ध ने मानवता का संदेश देकर सभी दुःखी मनुष्यों को सहारा दिया। नारी की स्थिति तो और भी अधिक शोचनीय थी। उस पर अनेक प्रकार के अत्याचार किये जाते थे। बौद्ध धर्म के उदय और स्त्रियों के लिए बौद्ध धर्म की महत्ता को स्थापित करते हुए रामधारी सिंह दिनकर बहुत ही स्पष्ट ढंग से लिखते हैं- "बौद्ध धर्म का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब नारी पुरुष के अत्याचारों से दबी जा रही थी, शास्त्रकारों ने जिसे कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं दी, उसके लिए बौद्ध काल में अमर संवेदना का संदेश मिला।"[53] वास्तव में गौतम बुद्ध ने स्त्री मुक्ति के सवाल को अपने समय में ही वैश्विक पटल पर लाकर खड़ा किया। दलित स्त्री विमर्श की ऐतिहासिक जड़ें हमें यहीं से प्राप्त होती हैं जहां पर भारी संख्या में स्त्रियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया तथा भिक्खुणीसंघ में शामिल होकर 'अर्हत' पद की प्राप्ति की।

---

[52] सं. वेद प्रकाश (2012) अम्बेडकरवादी विचारधारा इतिहास और दर्शन : तेज सिंह, लोकमित्र प्रकाशन, पेज नं.231

[53] रामधारी सिंह दिनकर (2010) संस्कृति के चार अध्याय, पेज नं.-155

इतिहास में दलित स्त्री विमर्श के संघर्ष यह एक ऐसा बिगुल था, जिससे ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था की चूलें हिल गयीं। बौद्ध काल में स्त्रियों का तमाम प्रकार की वासनाओं से ऊपर उठकर, सामाजिक यातनाओं से मुक्ति पाना तथा प्रव्रज्या ग्रहण करना ब्राह्मणवादी सत्ता और सामंतवादी पितृसत्ता पर एक गहरी चोट थी। इसके साथ ही उन्हें पुरुषों के बराबर ज्ञानार्जन का अधिकार मिला तथा अपने अंतर में विद्यमान आध्यात्मिक तेज को पहचानने और बांटने का अधिकार भी। इस प्रकार जिस तरह की पारंपरिक गुलामी का वे अब तक सामना कर रहीं थीं उससे उन्हें मुक्ति मिली। बुद्ध काल में खेमा, महाप्रजापति गौतमी, यशोधरा, कुंडलकेशा, पटाचारा, दानशूर विशाखा, अम्बपाली, धम्मदिना, उत्पलवर्णा, किसा गौतमी आदि अनेक स्त्रियाँ प्रख्यात विदुषी और धर्मशास्त्र पारंगत भिक्खुणी के रूप में बौद्धकालीन इतिहास में प्रसिद्ध हुईं। इन लोगों ने अपने प्रारंभिक जीवन (जो कष्टमय और यातनाकारी था) और बौद्ध धर्म ग्रहण करने के बाद का आनन्दकारी, शांतिपूर्ण व स्फुर्तिदायक जीवन का गाथाओं के रूप में वर्णन किया है। इसीलिए इन्हें आद्य कवयित्रियों की श्रेणी में गिना गया। हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम थेरीगाथा में दलित स्त्री विमर्श के स्वर सुनाई पड़ते हैं।

गौतम बुद्ध विश्व के पहले ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने स्त्री जाति के प्रति सम्मान व समानता की भावना प्रकट करते हुए धम्म के समक्ष उन्हें बराबर समझा और भिक्खुणीसंघ की स्थापना की। भिक्खुणीसंघ में ऐसी 73 भिक्खुणियां थीं, जिन्हें अर्हत पद प्राप्त था, जिनकी चर्चा थेरीगाथा[54] नामक ग्रन्थ में की गई है। इस ग्रन्थ में थेरियों[55] के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का संक्षिप्त रूप में वर्णन मिलता है। बुद्ध ने वेदों में प्रदत्त नारी को पशु के समान समझने वाली विचारधारा को समाप्त किया तथा स्त्री जाति को पुरुष के बराबर समाज में दर्जा देकर समस्त नारी जाति के सम्मान और गरिमा के लिए एक महानतम सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। गौतम बुद्ध द्वारा स्त्रियों को संघ में शामिल करने के इस महान कार्य को डॉ. अम्बेडकर इतिहास में स्त्रियों की स्वतन्त्रता के लिए महत्वपूर्ण और अनिवार्य मानते हैं। वे लिखते हैं कि- "बुद्ध ने औरत को भिक्षुणी बनने की आज्ञा देकर न केवल एक ओर उनकी आज़ादी का मार्ग

---

[54] थेरीगाथा नामक ग्रन्थ बौद्ध त्रिपिटक साहित्य का अति महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। थेरीगाथा में गौतम बुद्ध की समकालीन भिक्खुणियों के जीवनानुभव उन्हीं की वाणी में व्यक्त अभिव्यक्ति का अनुपम संग्रह है। थेरीगाथा काल के पहले भारतीय इतिहास में नारी को अपनी व्यथा को इतनी स्वतंत्रता के साथ प्रकट करते नहीं देखा जा सकता था। वास्तव में यह नारी स्वतंत्रता को प्रकट करने वाला प्रथम ग्रन्थ है।

[55] बौद्धकाल में वे स्त्रियाँ जिन्होंने अर्हत धारण(प्रव्रज्या प्राप्त/ ज्ञान) किया था उन्हें 'थेरी' कहा गया। इन्होंने स्त्री-मुक्ति के जो गीत गाये उसे 'थेरीगाथा' कहा गया।

खोल दिया बल्कि उन्हें सैक्स से मुक्त गरिमा पाने की अनुमति दी तो दूसरी ओर स्त्री को भिक्षुणी बनने की आज्ञा देकर उसके लिए पुरुष के साथ समानता का मार्ग खोल दिया ।"[56] गौतम बुद्ध ने पुरुषों और स्त्रियों में किसी प्रकार का भेद नहीं किया । भिक्खुणीसंघ में किसी भी प्रकार के भेदभाव की भावना उत्पन्न न हो, इसलिए उन्होंने महाप्रजापति गौतमी और यशोधरा जैसी महारानियों और प्रकृति जैसी मेहतरानियों (चाण्डालकन्या) को संघ में प्रव्रज्या देने के उपरान्त एक पंक्ति में बिठाया । ये भिक्खुणियां बुद्ध के दर्शन से अत्यन्त प्रभावित थीं अतः वे बुद्ध के बताए हुए मार्ग पर चलीं । बुद्ध का दर्शन यह कहता है कि जीवन में दुःख है, इसे स्वीकार करो और उसे दूर करने का रास्ता है, उसे समझो । थेरियों ने अपने दुःख को समझा तथा उसे व्यक्त किया और उस दुःख से मुक्त होकर जो शान्ति प्राप्त की उसकी भी अभिव्यक्ति की । 'भिक्षुणी संघ' में शामिल होकर वे बहुत ही सरस, सरल ढंग से और निर्भिकतापूर्वक अपने मनुष्य होने के अहसास को कथा-कविताओं के माध्यम से बयान करती हैं । स्त्री-मुक्ति की कामना करती हुई ये थेरियां कविता, कहानियों द्वारा इतिहास रचती हैं । मन, तन, वचन की पीड़ा से मुक्त जाति, वर्ण, लिंग व समाज के बंधनों से स्वतन्त्र हो वे गा उठती हैं-

"यहां इस शिला पर बैठी

मैं पूर्ण मुक्ति का अनुभव कर रही हूं

स्वाधीनता का वातावरण

मेरी आत्मा व शरीर को

आच्छादित किए हुए है ।"[57]

थेरीगाथा केवल जीवनानुभवों का काव्य मात्र नहीं है, बल्कि इसमें प्राचीन भारतीय समाज में नारी की स्थिति, नारी के प्रति देखने का समाज का दृष्टिकोण आदि कई बातों का वर्णन मिलता है । थेरियां समाज के केवल निम्न वर्ग से ही नहीं अपितु बहुत सी संख्या में ब्राह्मण कुल से भी थीं, जिनमें मुक्ता भिक्खुणी, मेक्तिका, अपराउत्तमा इत्यादि और शाक्य कुल,

[56] उद्धृत, अनिता भारती (2013) समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.56

[57] विमलकीर्ति (2008) थेरीगाथा, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, पेज नं.56

वैश्य कुल तथा कुलीन घरों, वेश्यालयों से थीं, इसलिए सभी का दुःख एक जैसा नहीं है । सामाजिक व्यवस्था से सभी प्रताड़ित थीं । भिक्खुणी बनने से पहले सभी दुःखी थीं किन्तु संघ में दीक्षा लेने के बाद सबका जीवन नूतन आशाओं से भर गया । बुद्ध के वचनों का इन पर इतना प्रभाव पड़ा कि ये संघ में शामिल होकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने लगीं ।

भिक्खुणियों ने थेरीगाथा में कहा है कि 'मैं बुद्ध कन्या हूं, बुद्ध की पुत्री हूं, उनके मुख से उत्पन्न हूं, उनके हृदय से उत्पन्न हूं ।' नारी जीवन का बुद्ध ने बहुत सम्मान किया और नारी जीवन की प्रतिष्ठा बढ़ाई । जिस समय नारी को पुरुष प्रधान समाज में किसी प्रकार का अधिकार नहीं था, उसको सभी प्रकार के अधिकारों की अधिकारिणी बनाना, ज्ञान प्राप्त करने की और ज्ञान का उपदेश देने की और निर्वाण, परमशान्ति को प्राप्त करने की अधिकारिणी घोषित करना, बहुत क्रान्तिकारी बात थी ।

गौतम बुद्ध ने नारी को कभी भी उपभोग की वस्तु नहीं माना । पुरुष के समान उन्होंने नारी में भी पुरूषार्थ, पूर्ण व्यक्तित्व को देखा । उन्होंने नारी के सामने विकल्प रखा कि चाहे तो वे गृहस्थ जीवन का पालन करें या चाहे तो प्रव्रजित होकर पुरूषार्थ के साथ परमशान्ति को प्राप्त करें । वे नारीत्व को ज्ञान की अर्हत्व की प्राप्ति में, परमशान्ति निर्वाण की प्राप्ति में, बुद्धत्व की प्राप्ति में अवरोधक नहीं मानते थे । इस सन्दर्भ में भिक्खुणी संघा कहती है कि-

'समूलं तण्हमब्बुय्ह, उपसन्तास्मि निब्बुता ति' ॥18॥[58] (तृष्णा को समूल नष्ट कर अब मैंने निर्वाण की परम शान्ति का अनुभव किया है । निर्वाण का अनुभव करके मैं परम शान्त हो गई हूँ) भिक्खुणी संघा थेरी की तरह ही सुमंगलमाता त्रासद जीवन की मुक्ति की गाथा को बयान करती है । भिक्खुणी सुमंगलमाता सावत्थी के एक दरिद्र परिवार से थी । तरूणावस्था में उसका किसी छाता बनाने वाले से विवाह हुआ था । वह गरीबी और स्त्री समस्याओं के कटु अनुभव से पीड़ित थी । बुद्ध के संघ में शामिल होकर सुमंगलमाता ने प्रव्रज्या ग्रहण की सभी समस्याओं से मुक्ति प्राप्त की । अपने भिक्खुणीपूर्व कष्टों तथा दारिद्र्यपूर्ण जीवन का वर्णन करते हुए वो कहती है कि –

[58] वही, पेज नं.63

'सुमुत्तिका सुमुत्तिका, साधुमुत्तिकाम्हि मुसलस्स । अहिरिको मे छत्तकं वा पि, उक्खलिका मे देड्डुभं वा ति' ॥ 23 ॥[59]

(अहो ! मैं मुक्त नारी ! मेरी मुक्ति कितनी धन्य है !
पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज उससे मुक्त हुई
मेरी दरिद्रावस्था के वे छोटे-छोटे बर्तन !
जिनके बीच में मैं मैली-कुचली बैठती थे,
और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उन छातों से भी
तुच्छ समझता था,
जिन्हें वह अपनी जीविका के लिए बनाता था ।
अब उस जीवन की आसक्तियों और मलों को
मैंने छोड़ दिया ।
मैं आज वृक्ष-मूलों में ध्यान करती हुई
जीवन-यापन करती हूं ।
अहो ! अब मैं कितनी सुखी हूं !)

समाज में पितृसत्ता की मार एक स्त्री के लिए कितनी घातक हो सकती है ये तो थेरियों की दशा से ही पता चल जाता है । लैंगिक शोषण आधुनिक काल की देन नहीं है । प्राचीन काल में भी यह उतना ही जड़ जमाए हुए था जिसकी मुक्ति का द्वार गौतम बुद्ध खोलते हुए नजर आते हैं । अतः दलित स्त्री विमर्श के लिए बौद्धकालीन 'थेरीगाथा' अद्वितीय ग्रन्थ है । इस प्रकार बौद्धकालीन थेरियों ने दलित स्त्री मुक्ति का आगाज करते हुए दलित स्त्री विमर्श को जन्म दिया ।

2.1.2 मध्यकालीन दलित सन्त कवयित्रियां-: दलित स्त्री विमर्श का दूसरा पड़ाव

मध्ययुग में साहित्य चिन्तन पर पुरुषों का एकाधिकार रहा और स्त्रियों को जनानखाना तक सीमित कर दिया गया था जहां से वे एक कैदी की तरह चिलमनों के पीछे से केवल ताक-झांक कर सकती थीं किन्तु पुरुष बैठकों में उन्हें आने का अधिकार नहीं था । यही अहं प्रवृत्ति साहित्येतिहासकारों ने भी स्त्री-साहित्य-चिन्तन लेखन से जुड़ी प्रतिभाओं के प्रति दिखाई । हालांकि महिला-लेखन की एक अविच्छिन्न धारा भारतीय भाषाओं में मिलती है । स्वतन्त्रता के पश्चात् सन् 1950 से भारतीय-साहित्येतिहास अध्येताओं की प्रवृत्ति में अन्तर तो दिखाई पड़ता

[59] समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.58

है पर इससे पूर्व की भारतीय साहित्य, लेखिकाओं की खोज-खबर लेने की बात कम ही दिखाई देती है। साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की यह बड़ी विशिष्टता है कि आज समुद्र में खोये इन अमूल्य मोतियों को महिला रूपी गोताखोरों ने खोजना शुरू कर दिया है।

दलित स्त्री विमर्श की दूसरी कड़ी में मध्यकाल से पूर्व की कुछ दलित संत कवयित्रियां हैं जिनमें संत ललदेह, जनाबाई, रामी चन्डीदास इत्यादि नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने मध्यकाल में जाति-प्रथा, धार्मिक-कट्टरता, छुआछूत तथा सामाजिक रूढ़ियों और पितृसत्तावादी व्यवस्था पर प्रहार किया।

चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर में संत ललदेह हुईं, जिन्हें कश्मीरी कविता का जनक भी कहा जाता है। कश्मीरी साहित्य का प्रारम्भ सन्त कवयित्री ललदेह से होता है, परन्तु उनके समकालीन इतिहासकारों ने उनके और उनके साहित्य को नज़रअन्दाज किया। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में इतिहासकारों ने ललदेह के बारे में लिखा जिससे उनके रचित सामग्री का पता चल पाता है। सर्वप्रथम फ्रांसीसी इतिहासकार ग्रियर्सन ने 1920 में पं. मुकन्दराम शास्त्री की सहायता से 'ललवाक्यानि' नाम से ललदेह के वाखों का संग्रह किया था। कुछ स्त्री साहित्यकारों और आलोचकों ने ललदेह को अपनी रचनाओं में जगह दी है। जिनमें से सुमन राजे और अनिता भारती के नाम प्रमुख हैं। सुमन राजे उनकी साम्यता सन्त कबीर से बताती हैं क्योंकि ललदेह के पदों में निर्गुण भक्ति का पुट देखा जा सकता है। सुमन राजे 'डॉ. शिबनकृष्ण रैणा' (द्वारा रचित 'कश्मीरी कवयित्रियां और उनका रचना संसार, भूमिका; 3') का हवाला देते हुए लिखती हैं कि- "ललदेह पर भी गंगायमुनी छायाएं पड़ी हैं। कबीर से इनकी अद्‌भुत समानता बार-बार दिखती है। भक्त कवयित्रियों में कोमल अनुभूतियां अधिक होती हैं लेकिन ललदेह के सम्बन्ध में यह रेखांकित किया जाना चाहिए कि उनमें प्रखर सामाजिक सरोकार मौजूद हैं। 'दीन वटा दीवर वटा' में वे कहती हैं, देव भी पत्थर देवल भी पत्थर। रे पण्डित तू किसे पूजता है ? मन और प्राण को एकीकृत कर उसी में जीवन का सार है।' कबीर की तरह, वे भी अक्षर ज्ञान को निरर्थक मानती हैं। 'परान-परान ज्यव फोजिम' में उनका कथन है, पढ़ते-पढ़ते मेरी जीभ व तालु फट गये, सुमिरिनी फेरते उंगलियां घिस गयीं, पर मन की द्वैत अवस्था

दूर न हुई।"[60] कबीर की ही तरह ललदेह हिन्दू और मुसलमानों दोनों में सम्मानित हैं। ललदेह की कविताओं में सूफियों का समर्पण और सादगी तथा शैवमत के त्रिकदर्शन का समन्वित रूप मिलता है।

ललदेह के जीवन के संबंध में विचारकों के विभिन्न मत हैं। कुछ विचारकों का मानना है कि वे ब्राहमण कुल से थीं और कुछ विचारकों का कि वे निम्न जाति से थीं। सुमन राजे ने 'आधा इतिहास' में उन्हें पाम्पोर के निकट सिमरापुरगांव में एक ब्राह्मण किसान के यहां से बताया है। उनका विवाह भी बचपन में उसी गांव के सोन पण्डित नामक व्यक्ति के साथ हुआ था। बहुत से विचारकों का भी मानना है कि ललदेह ब्राह्मण कुल की थीं। इसके विपरीत परशुराम चतुर्वेदी (उत्तरी भारत की परंपरा, पेज 101-103) का मानना है कि- ''लल्ला या लाल कश्मीर की रहने वाली एक ढेढवा मेहतर जाति की स्त्री थी जो सामाजिक दृष्टि से निम्न स्तर वाले परिवार की होकर भी बहुत उच्च विचार रखती थी। इनके विषय में प्रसिद्ध है कि यह शैव सम्प्रदाय का अनुसरण करने वाली एक भ्रमणशील भंगिन थी।"[61] ललदेह का जीवन भी थेरियों के प्रारम्भिक जीवन की तरह कष्टकारी था। उनके संबंध में ऐसा बताया जाता है कि उनका पारिवारिक जीवन सुखी नहीं था, पति और सास दोनों उन्हें प्रताड़ित करते थे, जिसकी वजह से उन्होंने घर त्याग दिया। बचपन से ही उनका जीवन वैरागियों जैसा था। अपने गुरू सिद्धमोल से उन्हें अक्षर ज्ञान के साथ आध्यात्मिकता भी मिली थी। उनको लेकर विवाद चाहे जो भी हो किन्तु उनके वाखों से यह ज्ञात होता है कि वह बहुत प्रगतिशील कवयित्री थीं, जिन्होंने जाति-प्रथा, धार्मिक कट्टरता, छुआछूत के ख़िलाफ़ बहुत ही स्पष्ट, सरल व सीधी भाषा में वाख (पद) लिखे हैं। उन्होंने मूर्ति-पूजा तथा स्वर्ग और नरक की अवधारणा को एक सिरे से खारिज किया। अपनी अस्मिता तथा अस्तित्व को वह पुरजोर शब्दों में बयां करती हैं-

[60] राजे, सुमन (2006) हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, पेज नं.216

[61] उद्धृत, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.289

"हम ही थे, होंगे हम ही आगे भी

अविगत कालों से चले आ रहे हम ही

जीना मरना न होगा समाप्त प्राणी का

आना और जाना सूर्य का धर्म है यही"[62]

सन्त ललदेह का यह वाख दलित महिलाओं की उच्च जीवनी-शक्ति का द्योतक है। जिस अविगत काल की तरफ कवयित्री संकेत करती है उससे स्त्रियों की सत्ता और महत्व का पता चलता है। मध्यकालीन सन्त स्त्रियों में ललदेह कबीर की ही तरह धर्माडम्बर और जातिगत भेदभावों पर कटाक्ष करती हैं। इस प्रकार वे मध्यकालीन स्त्री सन्त साहित्य में अपनी एक विशिष्ट छाप छोड़ती हैं।

मध्यकाल में मराठी भाषा की एक प्रख्यात दलित सन्त कवयित्री हुई जिनका नाम है- जनाबाई। यह सन्त नामदेव की दासी थीं। महान दलित सन्त कवयित्रियों के विषय में उल्लेख करते वक्त सुमन राजे ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में जनाबाई का भी उल्लेख किया है। वे 'कृष्णलाल शरसोदेजी के "मराठी साहित्य का इतिहास' से हवाला देते हुए जनाबाई को दलित सन्त कवयित्री नहीं मानती। सुमन राजे के अनुसार– "जनाबाई का जन्म गोदावरी के किनारे बसे गंगाखेड़ नामक गांव में एक गरीब परिवार में हुआ था। अनाथ हो जाने के बाद उन्होंने नामदेव के परिवार में आश्रय लिया। नामदेव का पालन-पोषण उन्होंने ही किया था। इसी परिवार में उन्हें भक्ति और काव्य के संस्कार मिले। उन्हें अक्षर ज्ञान नहीं था और वे जीवनभर अविवाहित रहीं। उनके अभंगों में नामदेव की आर्तता और ज्ञानेश्वर की योगानुभूति का सुन्दर संगम है। जनाबाई की काव्य-सरिता के एक तट पर भक्ति का माधुर्य दूसरे तट पर योग का गुन्जन और दोनों तटों के बीच प्रासादिक प्रेम का प्रवाह है।"[63] उक्त वक्तव्य से जनाबाई के काव्य के महत्व का तो पता चलता है किन्तु कहीं भी यह नहीं पता चलता कि वो एक दलित सन्त कवयित्री हैं। हालांकि इस वक्तव्य से पहले सुमन राजे ने नामदेव के परिवार उनके वंश तथा उनके शिष्यों के विषय में विस्तार से बताया है और तीन शब्दों में जनाबाई का उल्लेख किया है। सुमन राजे लिखती हैं- "नामदेव ज्ञानेश्वर के शिष्य थे

[62] वही, पेज नं.289

[63] उद्धृत, हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, कृष्णलाल शरसोदेजी के मराठी साहित्य का इतिहास, पेज नं.92

और उन्होंने समाज और साहित्य पर एक व्यापक प्रभाव छोड़ा । उनका पूरा परिवार ही कवि था । उनके चार पुत्र जो कि सभी कवि थे-नारायण, बिठोवा, गोविन्द, महादेव । उनकी पत्नियां भी सभी कवयित्रियां थीं । माँ गोमाई और पत्नी राजाई भी कविता लिखती थीं । दासी जनाबाई भी कवि, नामदेव की बहन आऊबाई भी कवि थीं, यद्यपि उनकी अधिक रचनाएं उपलब्ध नहीं हैं । संसार के साहित्येतिहास में यह बेजोड़ कुटुम्ब था ।''[64] यहां नामदेव की वंश-परम्परा और उनके परिवार का जितने सधे ढंग से सुमन राजे ने वर्णन किया है उतना जनाबाई के विषय में नहीं किया है जबकि जनाबाई मध्यकाल की ऐसी मराठी भाषी दलित सन्त कवयित्री हैं जिन्होंने उस समय के भक्तिकाल की धारा के ख़िलाफ़ जाकर अलग तरह की भक्ति धारा को चलाया । ऐसी धारा जिसमें ईश्वर ईश्वर नहीं रह जाता वरन् वह एक साधारण मनुष्य बन जाता है । जनाबाई कहती हैं –

"जनी फर्श बुहार रही है

और भगवान कूड़ा इकट्ठा कर रहे हैं

अपने सिर पर रखकर दूर ले जा रहे है

भक्ति से विजित

ईश्वर नीचा काम कर रहे है

जनी बिढोबा से कहती है

मैं तुम्हारा कर्ज कैसे उतारूंगी ।"[65]

यहां दलित सन्त कवयित्री ईश्वर को पारलौकिक सत्ता से लौकिक धरातल पर खींच लाती है । उनके यहां भगवान कोई असाधारण व्यक्ति नहीं महज एक साधारण मनुष्य है । अनिता भारती ने अपनी पुस्तक 'समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध' में उनके पद को बहुत ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है । जबकि सुमन राजे ने जनाबाई के विषय में केवल तीन शब्द और कृष्णलाल शरसोदेजी के मराठी साहित्य का इतिहास के हवाले से ही काम चला लिया है । क्या कारण है कि सुमन राजे के 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में

---

[64] वही, पेज नं.213

[65] उद्धृत, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.290

जनाबाई आधा पेज भी जगह नहीं घेर पाई हैं ? सवर्ण महिला रचनाकारों की यह साजिश है कि वो दलित स्त्री रचनाकारों को अपने साहित्य में जगह ही नहीं देना चाहती हैं। साथ ही जब वे जगह देती भी हैं तो उन पर ज़्यादा बात नहीं करना चाहती हैं। यह हम सुमन राजे के साहित्येतिहास में देख सकते हैं। इसके इतर दलित आलोचक अनिता भारती ने जनाबाई पर विस्तृत चर्चा करते हुए उनके काव्य और व्यक्तित्व के महत्व को बखूबी रेखांकित किया है।

जनाबाई ने मध्यकाल में सामाजिक रूढ़ियों, कुरीतियों तथा धार्मिक अन्धविश्वास, आडम्बरों के ख़िलाफ़ मुहिम छेड़ी। उन्हें एक ऐसी सन्त कवयित्री के रूप में देखा जा सकता है जिन्होंने भक्ति को अधिकार के रूप में देखा। उनकी भक्ति उपकार, मोक्ष-स्वर्ग की अवधारणा से कोसों दूर थी। भक्ति के सन्दर्भ में जनाबाई की मान्यता थी कि यह उपकार या स्वर्ग पाने का माध्यम नहीं है। यदि ऐसा कोई सोचता है तो वह रूढ़िवादी और अज्ञानी कहलायेगा। उनके अनुसार ईश्वर की भक्ति पर किसी एक जाति या व्यक्ति का विशेष अधिकार नहीं है। मध्यकाल में जनाबाई ने स्त्रियों के ऊपर लादे गये तमाम शिकंजे और वर्जनाओं को दूर फेंक कर स्वतन्त्र जीवन जीने का मार्ग दिखाया। ईश्वर की भक्ति-आराधना के अधिकार के साथ-साथ वह समाज द्वारा बनाये गये अभेद्य दीवार को तोड़कर पूरे अधिकार और साहस के साथ बिना किसी लोक-लाज के निर्भयता पूर्वक बाहर निकलना चाहती हैं। उनके अनुसार –

"सारी शर्म छोड़ दो और बेच डालो खुद को भरे बाजार

केवल तभी

तुम उम्मीद कर सकते हो

ईश्वर को पाने की

जाऊंगी भरे बाजार

हाथ में मंजीरा

और कन्धे पर वीणा लिए

मैं जाऊंगी भरे बाजार

कौन रोक सकता है मुझे

मेरी साड़ी का पल्लू गिरता है

तब भी मैं जाऊंगी भीड़ भरे बाजार

बेपरवाह, बिना सोचे, बिना विचारे।" [66]

एक पूरे स्वतन्त्र व्यक्तित्व और प्रगतिशील विचार के साथ सामाजिक वर्जनाओं की चौहद्दियों को लांघते हुए सन्त जनाबाई बाजार में प्रवेश करती हैं। दलित सन्त कवयित्रियां मन्दिर में प्रवेश की लड़ाई के साथ-साथ ईश्वर के उस छिपे रूप को पहचान गई थीं जिसमें वह केवल सवर्णों को मन्दिर में प्रवेश का अधिकार देता है। जनाबाई के अतिरिक्त ज्ञानेश्वर की बहिन मुक्ताबाई, संत चोखामेला की पत्नी- राजाई, माँ-गोणाई, बहन-आडवाई तथा कन्या-लिबाई ने अपनी वाणी में जाति प्रथा, वर्ग-भेद आदि का विरोध कर सच्ची मानवता के आदर्श को लोकमानस के सम्मुख प्रस्तुत किया। मुक्ताबाई ने अभंगों के माध्यम से सद्विचारों का प्रचार किया। जनाबाई के भी लगभग तीन सौ अभंग छन्द मिलते हैं जिनमें माधुर्य भाव से उपास्य को प्राप्त करने का सन्देश दिया गया है।

[66] उद्धृत, सं.अनिता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी, (2013) यथास्थिति से टकराते हुए : दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कविताएं, लोकमित्र प्रकाशन, पेज नं.11

मराठी सन्त कवयित्रियों में प्रेमा बाई, बहिणाबाई, कान्होपात्रा, वेणाबाई, सखू बाईए, बया बाई का नाम भी आता है । इन सभी संत कवयित्रियों ने समाज की उपेक्षा को झेला था । डॉ.पद्मजा घोरपड़े का कहना है कि इन सभी सन्त कवयित्रियों के काव्य में "भावना के विस्फोट, कारूण्य, वात्सल्य, दीन-जीवन से उद्धार की माँग का सुर मुखर हुआ है ।"[67] इन सन्त कवयित्रियों की वाणी में आध्यात्मिक गूढ़ता जनभाव के साथ स्पष्ट की गई है ।

महाराष्ट्र के साथ-साथ गुजरात में भी जन-भक्ति आंदोलन हमें एक नये रूप में मिलता है । गुजरात में जैन धर्ममत अधिक हावी था । यहां की भक्त कवयित्रियों में मीरा की गणना अधिक होती है । इस क्षेत्र में जैन साध्वी हेमश्री ने सोलहवीं शती में अपनी मान्यताओं से जनमानस को प्रभावित किया । जनमानस से जुड़ी सन्त परम्परा में यहां रमाबाई, गंगा बाई, जनी बाई, नानी बाई, रतन बाई का नाम आता है । गुजरात की गवरी बाई का सन्त परम्परा में विशेष योगदान है । गवरी बाई ने चित्त, शुद्धि, सत्संग, संयम, नाम जप के उपदेश को महत्ता देते हुए अपनी वाणी में पाखंडों का विरोध किया है ।

मध्यकालीन सन्त कवयित्रियों की तरह ही बंगाल के धोबी समाज की रामी चण्डीदास भी एक प्रसिद्ध दलित कवयित्री थीं । रामी चण्डीदास के संबंध में सुमन राजे लिखती हैं कि 'रामी राजकिनी महाकवि चण्डीदास की प्रिया कही जाती हैं, वे स्वयं भी कवि थीं ।'[68] बंगाल के ही वैष्णव कवि चण्डीदास से रामी विवाह करना चाहती थीं । उस सामन्ती समाज में रूढ़िवादी और जातिगत भेदभाव कम न था । रामी विवाह मण्डप में न पहुंच सके इसलिए समाज के लोगों ने उनके सामने अनेक रूकावटें और अड़चने डालीं ताकि उनका विवाह चण्डीदास से न हो सके किन्तु तमाम बाधाओं को पार करते हुए रामी वैष्णव कवि चण्डीदास से विवाह करने में सफल हो जाती हैं । रामी समाज द्वारा हुए अत्याचार और दुर्व्यवहार तथा अपनी पीड़ा को बहुत ही मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करते हुए कहती हैं -

---

[67] कश्फ़' भारतीय चिन्तन में अल्पचर्चित महिलाएं, वर्ष सम्पूर्ण-11/ पंजी-2 अंक-2 दिसम्बर-2012, मार्च-2013, पेज नं.76

[68] हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पेज नं.22

"तूफ़ान को उन लोगों के सिर पर गिर जाने दो

जो अपने घरों में छिपे, अच्छे लोगों को कोसते हैं

मैं और ज़्यादा इस अन्याय की भूमि पर

नहीं रह सकती

मुझे वहां जाना है

जहां यातनाएं न हों।"[69]

इस धरती पर स्त्री और ऊपर से दलित स्त्री को जीने का अधिकार नहीं है । इसका आकलन हम वर्तमान समय में हो रही नृशंसनीय घटनाओं से लगा सकते हैं। मध्यकालीन युग में दलित स्त्रियों पर अत्याचार अधिक हिंसक और उत्पीड़नकारी होते होंगे इसकी जानकारी हमें रामी के पदों में अभिव्यक्त मार्मिक वेदना से मिलती है। उनकी चिन्ता यह थी कि कोई ऐसा देश हो जहां अन्याय न हो। वे ऐसे देश में जाना चाहती हैं जिनके शरीर में हृदय हो। इस भारत भूमि में तरह-तरह के अमानवीय लोग बसते हैं जिनके ऊपर रामी चण्डीदास का करूण हृदय चित्कार कर उठता है और उन्हें धिक्कारते हुए कहता है-

[69] उद्धृत, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.291

"अन्याय की इस भूमि पर

अब नहीं रहूंगी मैं

उस देश जाऊंगी मैं, जहां नहीं होंगे हृदयहीन धूर्त

जो दूसरों को नकटा कहने के लिए

काटते हैं

अपनी ही नाक

कोई डर नहीं रामी को

वह वफ़ादार है अपने खुद के प्रति ।"[70]

सामाजिक विषमताओं का दंश रामी चण्डीदास ने बहुत ही गहरे स्तर पर झेला था जिसकी पीड़ा उनके गीतों में सुनाई देती है । उन्होंने अधिकतर अपनी बात को 'राधा' के माध्यम से कही है किन्तु कभी-कभी कहीं पर वो अपनी ही आवाज़ में अभिव्यक्ति करती नजर आती हैं । चण्डीदास सामाजिक भय से रामी को छोड़कर अपने ब्राह्मणवर्ग में वापस पलायन कर जाते हैं, तब रामी राधा का सहारा लेकर 'मादुर' गाती हैं:-

"कहां चले गये तुम मेरे प्रियतम

अपनी दासी को छोड़

तुम्हारा मुखड़ा न देख

मेरा हृदय फटता है

अब और नहीं सहा जाता मुझसे ।"[71]

दलित सन्त कवयित्री रामी चण्डीदास का दुर्भाग्य यह है कि उनके दुर्लभ पद आज उनके नाम से नहीं मिलता यदि कहीं मिल भी जाते हैं तो वह उनके पति वैष्णव कवि चण्डीदास के पदों में समाहित हैं ।

---

[70] हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, पेज नं.220

[71] वही, पेज नं.-220

जन-भक्ति आंदोलन की इस यात्रा में हिन्दी भाषी संत कवयित्रियों का भी महत्वपूर्ण योगदान है । यह आंदोलन सम्पूर्ण लोक शक्ति का आलोड़न करते हुए और सामाजिक विडम्बनाओं से उसे सावधान करते हुए मानवता का मार्ग प्रशस्त करता है । इस रूप में योग और ज्ञान से परिचित 'उमा' का नाम आता है जिन्होंने सतगुरू के महत्व को स्पष्ट करते हुए मानवीय चेतना को आगे बढ़ने का संकेत दिया । स्वामी रामानंद के बारह शिष्यों में 'पद्मावती' नामक एक शिष्या भी थी जिनका उल्लेख 'रहस्यमयी' में मिलता है । सन्त कवयित्री पद्मावती ने कबीर, रैदास आदि की परम्परा में समाज सुधार के लिए भक्तिभाव को माध्यम बनाया ।

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल की संत परम्परा में पुरुष संत ही नजर आते हैं महिला संत में केवल एक मीरा का ही नाम आता है वह भी सगुण काव्यधारा के अन्तर्गत । जबकि साहित्य के पुनर्लेखन के बाद ऐसी बहुत सी महिला भक्त हैं जिनका मुख्यधारा के साहित्य में कहीं नाम नहीं मिलता । हाशिए के साहित्य लेखन ने ऐसी साधिकाओं को खंगालने का अभियान शुरू कर दिया है और उनका सही मूल्यांकन करने का प्रयास भी हो रहा है ।

स्वामी रामानंद के बाद उत्तरी भारत में संतमत के विविध सम्प्रदायों का विकास हुआ । प्रायः इन सभी में संत साधकों के साथ-साथ साधिकाओं ने भी मत-प्रचार व मानवीय संवेदना को पुष्ट करने के लिए समर्थ-वाणी द्वारा योगदान दिया है । कबीर पंथ में 'कमाली' का नाम आता है । प्रसिद्ध है कि 'कमाली' ने 'सरायकी' (पंजाबी) में 'काफियों' की रचना की, जिसमें समाज को उचित दिशा में चलने का संकेत दिया गया है ।

चरणदासी सम्प्रदाय में सहजोबाई और दयाबाई का नाम प्रसिद्ध है । सहजोबाई और दयाबाई दोनों के सतगुरु चरनदास थे । दोनों ने अपने गुरु के चलाए गये निर्गुण भक्तिधारा के विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी । सहजोबाई ने 18 वर्ष की उम्र में ही 'सहज प्रकाश' की रचना की । सहजोबाई ने दिल्ली क्षेत्र में सतगुरु के उपदेश को आगे बढ़ाने का कार्य किया, लेकिन दयाबाई का कार्यक्षेत्र उत्तर-प्रदेश था । दयाबाई की बानी दो भागों में है- 'दयाबोध और विनय मालिका' । चरनदासी संप्रदाय में इन दोनों सन्त कवयित्रियों को विशेष

स्थान प्राप्त है। सहजोबाई की वाणी में जहां प्रेम-भावना प्रधान है वहीं दयाबाई की वाणी में वैराग्य भाव प्रधान है। सिख पंथ की उदासी परम्परा में संत सुवचना दासी का उल्लेख भी मिलता है।

संत-साधना में बावरी साहिब के उपदेशों में नारी हृदय की सहज सुकुमारता, शील, संकोच तथा संत जीवन के प्रति अटूट श्रद्धा का भाव मिलता है। इस परम्परा में आगे चलकर 'भुड़कुड़ा' सम्प्रदाय की अलग से स्थापना हुई। उत्तर-प्रदेश के फैजाबाद जनपद में सांई-पंथ/ सम्प्रदाय की स्थापना मानवता के कल्याण के लिए मोहनशाह द्वारा हुई। इनकी शिष्या विजनशाह ने नौली दमौली को अपनी साधना का क्षेत्र बनाया। उनके उपदेशों में मानव चेतना के उद्धार का संकेत मिलता है। इसी परम्परा में मीठेगांव की धोबिन सचनाशाह का नाम भी आता है। इनकी वाणी में गुरू-निष्ठा के साथ-साथ सहज जीवन को पाखंडों से मुक्त करने का सन्देश मिलता है।

राजस्थान के परची साहित्य में भी फूलांबाई और पुली बाई की परची मिलती है। 'इनकी वाणी से स्पष्ट होता है कि दोनों ने बड़ी स्पष्टवादिता से सांसारिक माया जन्य आड्म्बरों से मुक्त हो सच्चे मानवीय भावों के माध्यम से कल्याण मार्ग पर चलने का संकेत दिया है।'[72]

भारत के प्रत्येक भाग की भांति आन्ध्र प्रदेश में भी समय-समय पर दलित स्त्री संत हुईं हैं। यहां संत दोतुलम्मा बंजारा जाति की थीं। वह अपने पति की आज्ञा लेकर अवधूत बन गयी। ऐसे रूप में उन्होंने समाज कल्याण के लिए जो ज्ञान बोध दिया वो मौखिक परम्परा में आज भी बन्जारा समाज में प्रचलित है। महार जाति की लखम्मा श्रमिक परिवार की कन्या थीं। इन्होंने योग साधना करते हुए अपने गांव में विपत्तियां आने पर सेवा द्वारा सामाजिक जीवन को सुस्थिर बनाया और समाज में सेवा के महत्व को स्थापित किया।

इस प्रकार मध्यकाल में और भी अनेक दलित सन्त कवयित्रियां हुई हैं जिनमें बहुत सी अपने नाम से नहीं जानी जाती हैं और वे इसी तरह अतीत में गुमशुदा हैं। आज हाशिए के

[72] विनोद तनेजा : भारतीय संत परम्परा की साधिकाएं- कश्फ़, विभोर प्रकाशन, पेज नं.79-78

साहित्य तथा दलित स्त्री विमर्श के अथक प्रयासों द्वारा ऐसी दलित सन्त कवयित्रियों को अतीत के गर्भ से खोज कर निकाला जा रहा है और जो बची रह गयी हैं उनके लिए प्रयास जारी है। मेहनतकश दलित स्त्री लेखिकाएं मध्यकाल की दलित स्त्री साहित्यकारों को काल के गर्त से ढूंढने में प्रयासरत हैं। वो दिन दूर नहीं जब दलित स्त्री विमर्श का मध्यकाल का समृद्ध लेखन हिन्दी दलित साहित्य के ऐतिहासिक पटल पर छा जायेगा।

2.1.3 1857 प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम का बिगुल बजाती ये क्रांतिकारी दलित वीरांगनाएं : दलित स्त्री विमर्श की तीसरी यात्रा

दलित महिला संतों की जो धारा भक्तिकाल में विकसित हुई थी वो आगे का रूख करती हुई भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में अपने संघर्ष और बलिदान को दर्ज करती है। साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन होने से यह ज्ञात होता है कि भारत के स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में दलित वीरांगनाओं का संघर्ष ओजपूर्ण था। दलित वीरांगनाओं ने अंग्रेजों के समक्ष घुटने न टेकते हुए ईंट का जवाब पत्थर से दिया था। हम इस बात को नकार नहीं सकते कि भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन चाहे वह 1857 का प्रथम स्वाधीनता संग्राम हो या गांधी के नेतृत्व में किया गया स्वतन्त्रता आंदोलन हो, इनमें दलित समाज की महिलाओं की अधिक भागीदारी रही। बिरसा मुंडा के क्रांतिकारी आवाह्न और अंग्रेजों से उनके संघर्ष में आदिवासियों तथा दलित महिलाओं ने अंग्रेजी सेना से डटकर मुकाबला किया था। इतिहास को यदि खंगाला जाय और उसकी ईमानदारी से जांच-पड़ताल की जाय तो दलित महिलाओं के अतुलनीय बलिदान को भुलाया नहीं जा सकता, इतिहास में ऐसे बहुत से विवरण मौजूद हैं जिनसे हमें पता चलता है कि दलित और शोषित समाज की महिलाओं ने अपने-अपने गाँव, कस्बों, शहरों में ब्रिटिश सेना से जमकर मोर्चा लिया। अनिता भारती इन वीरांगनाओं के संदर्भ में लिखती हैं "दलित-आदिवासी महिलाओं ने समाज परिवर्तन से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति के संघर्ष में क्रांतिकारी भूमिका निभाई है। बुद्ध काल से लेकर अब तक सामाजिक मुक्ति से लेकर राजनीतिक मुक्ति की ऐसी कोई विचारधारा दलित-आदिवासी महिलाओं के योगदान को गिने बिना अधूरी व एकपक्षीय ही समझी जायेगी। इन दलित-आदिवासी स्त्रियों ने जहां स्वतंत्रता के सही मायने को समझते हुए देश में सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक गुलामी के ख़िलाफ़ आज़ादी की लड़ाई लड़ते हुए अपने पति व बच्चों की जान की परवाह न करते हुए अपने प्राणों की भी बलि दे दी। इनकी मूक

शहादत के कारण ही हमारा देश 1947 को आज़ाद हुआ । इन दलित-आदिवासी क्रांतिकारी महिलाओं में अनेक नाम अभी भी गुमनाम हैं, परन्तु गुमनाम होने से उनके संघर्ष की महत्ता कम नहीं आंकी जा सकती है ।"[73] वर्चस्ववादी समाज और साहित्य ने किस तरह से दलित-आदिवासी महिलाओं के संघर्ष और बलिदान को इतिहास से ही गायब करने की कोशिश की और उनके महान बलिदान को भुलाने का भी प्रयास किया किन्तु दलित स्त्री विमर्श आज हिन्दी साहित्य की पड़ताल करता हुआ अपने प्रखर गौरवशाली क्रांतिकारी वीरांगनाओं और नायिकाओं की भी खोज कर रहा है । क्रांतिकारी वीरांगनाएं जिनमें झलकारी बाई, महावीरी देवी, उदादेवी पासी, शिरोमणि, सिनगी दई, कइली दई, बिरसा मुंडा की सहयोगी चंपी और मातादीन की पत्नी लाजो 'जगरानी पासी' अनेक दलित-आदिवासी स्त्रियाँ हैं जिन्होंने पीठ पर बच्चे लादे, हाथों में तीर कमान, भाले, बरछी, दरातें, गड़ासे संभाले अंग्रेजों का कड़ा मुकाबला किया । इनके वीरतापूर्ण संघर्ष का योगदान निम्नलिखित है-

झलकारीबाई

सन् 1857 की क्रांति में दलित पुरुषों की अपेक्षा नारियों का योगदान भी कुछ कम नहीं है । क्योंकि इस समय की दलित नारियों ने भी क्रांतिवीरों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर स्वतन्त्रता संग्राम में लड़ाई लड़ी थी, जिन्हें इतिहासकारों ने उपेक्षित भाव से देखा है । 1857 के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में अभी तक लक्ष्मीबाई का ही नाम इतिहास के पन्नों में पढ़ने और सुनने को मिलता है । मुख्यधारा के इतिहासकारों ने लक्ष्मीबाई के गुणों और साहस की चर्चा अपने इतिहासग्रंथों में किया तथा अंग्रेजों से लोहा लेने और सैनिकों को पराजित करने वाली झलकारीबाई को विस्मृत कर दिया । यह इतिहास के पुनर्मूल्यांकन या फिर कहें कि हाशिये के लोगों के संघर्ष की महान उपलब्धि है जिसने अपनी महान वीरांगना झलकारीबाई की खोज की । वीरांगना झलकारीबाई बचपन से ही वीर एवं स्वभाव से बहादुर प्रकृति की थीं । उनमें नेतृत्वशीलता, उत्साह जैसे गुणों का अद्‌भुत संगम था । उनका जन्म अछूत वर्ग की कोरी उपजाति में हुआ था । उनके पति पूरन कोरी, राजा गंगाधर राव के राजदरबार में एक मामूली सिपाही थे । झलकारीबाई ने झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की सेना में भर्ती होकर न केवल झांसी

[73] समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.167

की रक्षा की बल्कि रानी लक्ष्मीबाई की वेशभूषा में लक्ष्मीबाई की रक्षा के लिए भी दुश्मन अंग्रेजों से लड़ते हुए अपने प्राणों की आहुति दी।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि जितना यश और ख्याति झांसी की रानी लक्ष्मीबाई को मिला उतना झलकारीबाई को नहीं। कारण यह था कि झलकारीबाई निम्न जाति से थीं इसीलिए वर्चस्ववादी साहित्यकारों ने झलकारीबाई पर कलम भी नहीं चलाई। किन्तु दलित साहित्य और दलित स्त्री विमर्श के आने से झलकारीबाई के महत्व का मूल्यांकन किया गया और हो भी रहा है। उनके चरित्र को लेकर दलित कवियों ने काव्य रचनाएं भी की हैं। दलित कवि आचार्य गुरू प्रसाद ने झलकारीबाई पर एक कविता लिखकर उनकी सार्थक उपलब्धि गिनायी है और किस तरह से लक्ष्मीबाई को इतिहास प्रसिद्ध तथा झलकारीबाई को नगण्य बना दिया गया, इसको भी रेखांकित किया है –

"बुन्देले हर बोलों ने, गढ़ दई थी झूठी कहानी को।

झलकारी रण में जुंझी, पर गाया लक्ष्मी रानी को॥

रणचण्डी बनकर जो रण में अंग्रेजों पर किलकारी थी।

गोली से छलनी हुई गिरी, वह लक्ष्मी नहीं झलकारी थी॥

जाने कितनी वीरांगनाएं इतिहास से गायब की गयीं।

खंघालों मथो विगत को, मिलेंगी मणियां छविमयी॥"[74]

वास्तव में जिस यश, शौर्य, साहस, पराक्रम और बुद्धिमानी की अधिकारिणी झलकारीबाई कोरिन थीं, उसे इतिहासकारों, उपन्यासकारों, कवियों ने रानी लक्ष्मीबाई को देकर अमर बना दिया और वास्तव में अंग्रेजों से लोहा लेने वाली दलित वीरांगना झलकारीबाई कोरिन को भुला दिया गया। डॉ.आर.सी.मजूमदार ने लिखा है कि "प्राप्त तथ्यों में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसके आधार पर कहा जा सके कि लक्ष्मीबाई विद्रोह की नेत्री थी।"**[75]** इतिहास और साहित्य में झलकारीबाई के साथ जाति के दंभता के कारण सवर्णों ने अन्याय किया। मोहनदास नैमिशराय ने 'वीरांगना झलकारीबाई' नामक उपन्यास लिखकर साहित्य और समाज में उनके महत्वपूर्ण बलिदान की उपलब्धि को गिनाया है।

---

[74] प्रतिकार, बाबूलाल चांवरिया (2011) भारतीय दलित साहित्य अकादमी राजस्थान प्रदेश, जोधपुर, पेज नं.164

[75] हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेन्ट, डॉ.आर.सी. मजूमदार, पेज नं.164

महाबीरी देवी भंगी

सन् 1857 की क्रांति में ऐसी ही वीरांगना महाबीरी देवी भंगी थी, जो भंगी जाति में पैदा हुई थी । उनका जन्म ग्राम मुंड भर-भाजू, तहसील कैरोना, जिला मुजफ्फरनगर, उत्तर प्रदेश में हुआ था। समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव और असमानता का उन्होंने डटकर मुकाबला किया । उनकी महानता इस बात में थी कि उन्होंने अपने समाज की नारियों का एक संगठन बनाया जिसका उद्देश्य था- घृणित कार्यों में लगी महिलाओं व बच्चों को अमानवीय काम से मुक्त करना । सम्मान के लिए जीना और सम्मान के लिए मरना उनका मूल मन्त्र था।

मुजफ्फरनगर को अपने अधिकार में करने के लिए जब अंग्रेजों ने उस पर हमला किया तब महाबीरी देवी ने बाईस महिलाओं की एक टोली लेकर अंग्रेजों की सेना पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया। महाबीरी देवी की टोली में नारियों के हाथों में कांते और गंड़ासे थे। इन्हीं हथियारों के बूते वे तेईस वीर नारियां अपने मान-सम्मान-स्वाभिमान और मातृभूमि की रक्षा के लिए अंग्रेजों की सेना से जा भिड़ीं । घमासान युद्ध को देखकर अंग्रेज आश्चर्यचकित रह गये । अनेक अंग्रेज महाबीरी देवी के हाथों मारे गये किन्तु अंग्रेज ये सब देखकर हैरान थे और उन्होंने महाबीरी देवी की टोली को तीनों तरफ से घेरकर उन्हें गोलियों से भून दिया, जिसमें महाबीरी देवी के साथ 22 वीर बालाएं भी मातृभूमि की रक्षा की खातिर शहीद हो गईं ।

दलित-आदिवासी महिलाओं ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया और अपने पिता, पति, भाई के साथ कंधे से कंधा मिलाकर अप्रत्यक्ष रूप से मदद की । प्रसिद्ध पत्रकार व लेखिका बासवी ने अपने लेख 'उलगुलाम की औरतें' लेख में 14 शहीद औरतों के नाम गिनाएं हैं-फूलो झानो, मुंडा की पत्नी, धीमी, नागी, लेम्बु आदि । जिनमें फूलो और झानो, माकी, बनकन जो संथाल विद्रोह के चार नायक सिद्धों, कान्हो, चांद और बहिरव की बहने थीं । इन बहनों में वीरता कूट-कूट कर भरी हुई थी । इन्होंने संथाल विद्रोह में अंग्रेजों का डटकर मुकाबला किया, जिसकी बहुत ही खूबसूरत व्याख्या निर्मला पुतुल की कविता में देखी जा सकती है – आदिवासी कवियित्री निर्मला पुतुल अपनी कविता 'उसे मत कुछ कहो सजोनी किस्कू' में स्त्री शोषण के इतिहास को उल्लिखित करती हैं-

"वे भूल गये/ सन्थाल-विद्रोह के समय

जब छोड़ गये थे तुम पर सारा घर-बार

तुम्हीं ने किये थे तब हल जोतने से लेकर

फसल काटने तक के सारे कार्य-व्यापार"[76]

ऊदादेवी पासी

1857 की क्रांति में एक और प्रख्यात नाम ऊदादेवी पासी का भी है। 1857 में चिनहट में अंग्रेजों से लोहा लेते वक्त कई सैनिक मारे गए। इनमें ऊदादेवी के पति मक्का पासी भी थे। पति की मृत्यु का बदला लेने के लिए ऊदादेवी 16 नवंबर 1857 को घर से निकलीं। इन्होंने 36 अंग्रेज सैनिकों को मारकर अपने पति का बदला लिया किन्तु एक अंग्रेज अधिकारी कैप्टन डासन द्वारा गोली लगने पर इनकी मृत्यु हो गयी। लेफ्टिनेंट कर्नल गार्डेन एलेक्जेंडर ने लिखा है कि– 'सिकंदरबाग को बचाने के लिए इस शहर की महिलाएं जंगली बिल्लियों की तरह झपट-झपटकर अंग्रेजों से लड़ रही थीं। इन महिलाओं का नेतृत्व वीरांगना ऊदादेवी कर रही थीं।' बाद में ऊदादेवी के नाम पर लखनऊ के सिकंदरबाग चौराहे पर 24 मई 1998 को तत्कालीन मुख्यमंत्री कल्याणसिंह ने वीर बाला ऊदादेवी की एक प्रतिमा स्थापित की तथा 16 नवंबर 2000 को वीरांगना ऊदादेवी के नाम पर एक डाक टिकट जारी किया गया।

आशा देवी :

आशा देवी दलित वर्ग की वीरांगना थीं। वह गुर्जर जाति की महिला थीं, जिन्होंने युवतियों की एक छोटी सी सेना बना रखी थीं। चारू गुप्ता के अनुसार, "वीरांगना आशा देवी ने 8 मई 1857 को कई युवतियों का नेतृत्व करते हुए अंग्रेजी सेना से संघर्ष किया और शहीद हुईं। आशा देवी का साथ देने वाली वीर महिलाओं में वाल्मीकि महावीरी देवी, रहीमी गुर्जरी, भगवानी देवी, भगवती देवी, हबीबा गुर्जरी, इन्द्र कौर, कुशल देवी, नाम कौर, राज कौर, रनवीरी वाल्मीकि, सहेला वाल्मीकि और शोभा देवी थीं। इन युवतियों ने बहादुरी के साथ अंग्रेजी सेना

[76] निर्मला पुतुल- अपने घर की तलाश में (काव्य संग्रह)

पर हमला किया और लड़ती हुई मारी गयीं ।"[77] आशा देवी का मानना था कि देश की आज़ादी की लड़ाई में केवल सैनिकों का लड़ना पर्याप्त नहीं है अपितु समाज के हर व्यक्ति को कंधे से कंधा मिलाकर लड़ना चाहिए । इसी सोच ने उन्हें महिलाओं की सेना बनाने के लिए प्रेरित किया ।

वीरांगना अजीजन बाई

आज़ादी की लड़ाई में स्त्रियों के योगदान को बहुत ही कम याद किया जाता है और उसमें भी यदि वेश्याओं की बात की जाए तो उनका नामो-निशान नहीं मिलता । जैसा कि वेश्याओं को बहुत ही घृणा की दृष्टि से समाज में देखा जाता है । आधुनिक भारत में वीरांगना अजीजन बाई एक ऐसी ही महिला थीं, जिसने स्वतन्त्रता आंदोलन के प्रथम महासंग्राम 'सिपाही विद्रोह' में अपनी अद्‌भुत वीरता से अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे । उनके विषय में प्रसिद्ध है कि.."अजीजन बेगम 1887 के महासंग्राम की एक महत्वपूर्ण कड़ी थी । उसने साबित कर दिखाया कि वह घुंघरूंओं से झनकार निकालना ही नहीं जानती, बल्कि तलवार से चिनगारियां निकालना भी जानती है । उसने युवतियों की एक टोली बनायी थी, जो कि मर्दाना वेश में रहती थी । वे सभी घोड़ों पर सवार होकर हाथ में तलवार लेकर नौजवानों को आज़ादी के संग्राम में हिस्सा लेने के लिए आमन्त्रित करती थीं ।"[78] अजीजन बाई ने अंग्रेजों के ख़िलाफ़ अपनी महिला शक्ति के बल पर मोर्चा साधा । वह कानपुर के क्रान्तिकारियों से मिलकर जिसमें नाना साहब, बाला साहब, तात्या टोपे, सूबेदार टीका सिंह, शमसुद्दीन खां, अजीमुल्ला खां आदि शामिल थे, आदि ने अंग्रेजों की 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के शासन को उखाड़ फेंकने का सौगन्ध लिया ।

16 अगस्त 1857 को अंग्रेजी सेना और क्रान्तिकारियों के बीच भीषण युद्ध में पुरुष क्रान्तिकारी भाग खड़े हुए जबकि अजीजन बाई पुरुष वेश में अपनी स्त्री सेना के साथ लड़ती रहीं । अन्ततः अंग्रेजों द्वारा उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया । किन्तु उन्होंने अंग्रेजों के समक्ष घुटने नहीं टेके और फिर अंग्रेजी जनरल द्वारा उन्हें गोलियों से भून दिया गया । अजीजन बाई वेश्या होने के बाद भी स्वतन्त्रता संग्राम में अपने महान बलिदान के लिए जानी जायेंगी, यह

[77] चारू गुप्ता – लेख-मर्दों से आगे थीं मर्दानी महिलाएं, 'हिन्दुस्तान', 9 जनवरी, 2007

[78] डॉ.सुधांशु द्विवेदी के एक लेख से, 'हिन्दुस्तान', 12 सितम्बर 2006

बड़े दुःख की बात है कि अभी तक मुख्यधारा के साहित्य ने उनके इस अद्वितीय बलिदान को उपेक्षित कर दिया था। इस प्रकार झलकारीबाई से लेकर उदादेवी पासी, महाबीरी देवी, अशा देवी इत्यादि वीरांगनाओं ने समाज में व्याप्त असमानता और अत्याचार के ख़िलाफ़ विद्रोह किया तथा 1857 जैसी क्रांति में अंग्रेजों को मात देते हुए शहीद हुईं। दलित वीरांगनाओं ने देश के लिए जो बलिदान दिया उसकी उपेक्षा करके आज दलित साहित्य की सही समझ नहीं विकसित की जा सकती।

2.1.4 महात्मा फुले और सावित्रीबाई फुले: स्त्री शिक्षा की प्रथम पाठशाला- दलित स्त्री विमर्श की चौथी मंजिल

आधुनिक काल में दलित स्त्री विमर्श की बागडोर को खींचने वाले राष्ट्रपिता ज्योतिबा फुले 19वीं सदी के केवल महाराष्ट्र के ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारत के सामाजिक क्रांति के प्रणेता हैं। 'गुलामगिरी' जैसी प्रसिद्ध रचना करके उन्होंने ब्राह्मणवाद और जाति के ख़िलाफ़ सशक्त विद्रोह किया तथा दलितों और पिछड़ों को गुलाम भरी ज़िन्दगी से मुक्त होने के लिए उनमें ऊर्जा का संचार किया। '19वीं सदी में सुधारवादी आन्दोलनों ने हिन्दू धर्म की खामियों को खत्म करने की बजाय उसको ढकने का प्रयास किया और यही कारण है कि आज भी वे सामाजिक कुरीतियां अपने प्रचण्ड रूप में मौजूद हैं जबकि ज्योतिबा फुले ने हिन्दू धर्म की सामाजिक कुरीतियों का खुलकर विरोध किया।'

19वीं सदी के सामाजिक सुधार आंदोलन के पुरोधाओं में हिन्दूवादी नेता अधिक थे। उनका पूरा जोर हिन्दू धर्म की रक्षा ही करना था जबकि उस समय महात्मा फुले ने समाज के हाशिए पर जीने वाले दलितों और स्त्रियों की मुक्ति के लिए सामाजिक आंदोलन खड़ा किया। कंवल भारती ज्योतिबा फुले के महत्व के विषय में लिखते हैं.."वे शूद्रों, अतिशूद्रों और स्त्रियों का अज्ञान दूर करके उनकी गुलामी की जंजीरें तोड़ना चाहते थे। उन्होंने ब्राह्मणी शास्त्रों, पुरोहितवाद और जाति-प्रथा पर कठोर प्रहार किया, आगे चलकर वही डॉ.अम्बेडकर की किताब 'जाति का उन्मूलन' का आधार बना।"[79] भारत में सामाजिक और धार्मिक दासता के विरूद्ध सर्वप्रथम क्रांतिपुरुष महात्मा ज्योतिबा फुले ने झंडा बुलन्द किया। वास्तव में वह सामाजिक असमानता और दासता के उन्मूलन कर्ता थे। उनकी पत्नी सावित्रीबाई फुले ने भी

[79] दलित विमर्श की भूमिका ,पेज नं. 52

स्त्री शिक्षण, अस्पृश्योद्धार के कार्य में उनका भरपूर सहयोग दिया। महात्मा फुले ने हिन्दू धर्म का गहन अध्ययन किया और स्त्रियों, शूद्रों, अस्पृश्यों की अवनति का मूल कारण उन्होंने हिन्दू धर्म को ही माना और उसके विरूद्ध लड़ाई लड़ने का निर्णय लिया।

राष्ट्रपिता ज्योतिबा फुले दूरदृष्टि तथा साहसी गुणों से सम्पन्न थे। उन्होंने न केवल ब्राह्मणी समाज-व्यवस्था बनाम हिन्दू धर्म व्यवस्था बनाम जाति व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह किया, वरन् ब्राह्मणी धर्म शास्त्रों की सत्यता को चुनौती दी, जिससे इस समाज व्यवस्था का निर्माण होता है। उन्होंने ब्राह्मणों को इस बात के लिए दोष दिया कि उन्होंने अपनी श्रेष्ठता को बनाए रखने के लिए तथा शूद्र-अतिशूद्रों पर अपना वर्चस्व जमाए रखने के लिए ही धर्मशास्त्रों के नाम पर मनगढ़न्त झूठी कहानियों की रचना की और इसीलिए ही उन्होंने शूद्रों से शिक्षा का अधिकार छीन लिया ताकि वे इन धर्मशास्त्रों की असलियत को जान न सकें। राष्ट्रपिता फुले का यह मानना था कि शूद्रों के विनाश का मुख्य कारण उनमें फैली अशिक्षा और अज्ञानता है। इसलिए उन्होंने अज्ञानता के विरूद्ध क्रान्तिकारी पहल की और शूद्रों व स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया था। इस संदर्भ में उनकी यह कविता आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। महामना ज्योतिबा फुले लिखते हैं-

"विद्या के अभाव से, मति (सोचने-समझने की शक्ति) नष्ट हुई,

मति के अभाव से नीति (नैतिकता) नष्ट हुई,

नीति के अभाव से गति (परिवर्तनशीलता) नष्ट हुई,

गति के अभाव से वित्त (अर्थव्यवस्था) नष्ट हुई,

और वित्त के अभाव से शूद्रों का पतन हुआ।

अकेले अज्ञान के कारण ही यह सब कुछ हुआ।" [80]

इसलिए राष्ट्रपिता फुले शूद्र-अतिशूद्रों के बहुजन समाज में व्याप्त अज्ञान तथा धर्मान्धता को दूर करके उन्हें गुलामी की जंजीरों से आज़ाद करना चाहते थे और यही कारण है कि उन्होंने अपने समय में बड़ी बहादुरी के साथ इस समाज के लिए सदियों के बन्द ज्ञान के द्वार खोल दिए

[80] यशकायी डी.के.खापर्डे- सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रांति के प्रणेता, राष्ट्रपिता जोतीराव फुले एवं क्रांति ज्योति सावित्रीबाई फुले, समग्र वांड्मय भाग-5 पेज नं.-26

। राष्ट्रपिता फुले जी के आंदोलन का लक्ष्य था भारतीय समाज की पुनर्रचना करके समानता, न्याय, बंधुता के आधार पर एक नए समाज व्यवस्था का निर्माण करना।

राष्ट्रपिता फुले ने जिस प्रकार शूद्र-अतिशूद्रों के उत्थान के लिए प्रयास किया, उसी प्रकार उन्होंने स्त्री मुक्ति के लिए भी संघर्ष किया। क्योंकि हिन्दू समाज-व्यवस्था ने स्त्रियों को भी निम्न मान कर उनकी अवहेलना की। शूद्रों के शोषण स्त्रियों के शोषण पर हिन्दू समाज में कोई भी प्रतिबंध नहीं था। चार्तुवर्ण्य-व्यवस्था से स्त्री को मुक्त किए बगैर उसे सही स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकेगी ऐसा उनका मानना था। इसलिए स्त्री को दासता में रखने वाले पुरुष-प्रवृत्ति पर उन्होंने जम कर कुठाराघात किया। स्त्री की प्रगति और उनके उत्थान के लिए उन्होंने पाठशालाएं खोलीं और पाठशाला हेतु शिक्षक न मिलने पर उन्होंने अपनी पत्नी सावित्रीबाई फुले को अपने मित्र के.सी.भास्कर से प्रशिक्षण दिलवाकर शिक्षित किया। उन्होंने ब्राह्मणी विधवाओं के लिए अनाथालय की स्थापना की। राष्ट्रपिता फुले ने जिस सामाजिक क्रांतिवाद का आह्वान किया उसमें स्त्री मुक्ति विचारों का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने अपने जीवन में दलितों, पिछड़ों और स्त्रियों को यह उपदेश दिया कि 'जातिभेद, विषमता नष्ट करके समाज परिवर्तन हेतु हिन्दू धर्म ग्रंथों को फेंक दो, अंधश्रद्धा छोड़ दो, पढ़-लिख कर आँख वाले बनो, स्त्रियों पर अन्याय, अत्याचार मत करो, अस्पृश्यों के साथ समानता का व्यवहार करो,' राष्ट्रपिता ज्योतिबा फुले के जीवन का यह प्रमुख सूत्र था।

सावित्रीबाई फुले: स्त्री शिक्षा की प्रथम भारतीय अध्यापिका

आधुनिक भारत की सामाजिक क्रांति के इतिहास में राष्ट्रपिता ज्योतिबा फुले के समान उनकी पत्नी सावित्रीबाई फुले का भी उतना ही स्थान है। सावित्रीबाई फुले के संबंध में आज तक केवल इतना ही कहा गया कि वह केवल ज्योतिबा फुले की पत्नी थी, फुले ने उनको शिक्षित बनाया, अध्यापिका बनाया और बाद में सावित्रीबाई ने अपने पति द्वारा स्थापित विद्यालयों में अध्यापन कार्य किया। किन्तु सावित्रीबाई फुले का राष्ट्रपिता फुले के क्रांतिकारी आंदोलन में केवल इतना साधारण योगदान नहीं है। स्वयं ज्योतिबा फुले ने उनके योगदान के संबंध में कहा था- 'अपने जीवन में जो कुछ भी कर सका, इसमें मेरी पत्नी का बहुत बड़ा योगदान है।'

यह बहुत ही आश्चर्य की बात है कि उन्नीसवीं सदी की प्रतिभा सम्पन्न स्त्री के रूप में पण्डिता रमाबाई का नाम जितना चर्चित है उतना उनसे दो दशक पहले जन्मी सावित्रीफुले जो किसी भी दृष्टि से कम नहीं थीं, उनका नाम तक नहीं लिया जाता । यह सवर्ण ब्राह्मणवादी मानसिकता ही है कि उनके महत्वपूर्ण और अतुलनीय योगदान की उतनी चर्चा नहीं की जाती जितना कि अन्य सवर्ण लेखिकाओं और व्यक्तित्वों की । दलित स्त्रीवादी आलोचक अनिता भारती इस संबंध में लिखती हैं कि –"सावित्रीबाई फुले का नाम इतिहास से गायब है या गायब कर दिया गया, कारण जो भी हो पर उसकी पड़ताल होना आवश्यक है । महिला आंदोलन इतिहास लेखन में सवर्ण कुमारी देवी से लेकर सरला देवी घोषाल, मैडम भीकाजी, रूस्तमकामा, ऐनी बेसेंट, कमला देवी चट्टोपाध्याय, सरोजिनी नायडू, अरूणा आसफ अली आदि अनेक उच्च वर्गीय संभ्रांत सामाजिक कार्यकर्ताओं की पूरी कहानी व उनके कार्यों का ब्यौरा होता है, पर दलित महिलाओं के नाम व योगदान पर गहरी चुप्पी साध ली जाती है । सावित्रीबाई फुले से लेकर झलकारीबाई, फुलो और झानो, फातिमा बेगम, उदादेवी पासी जैसी प्रसिद्ध दलित स्त्रियों तक के नाम को भुला दिया जाता है ।' वह आगे राधा कुमार की पुस्तक का जिक्र करते हुए लिखती हैं कि –"राधा कुमार अपनी इतिहास पुस्तक में पंडिता रमाबाई और ज्योतिबा फुले का भी उदाहरण दो-तीन जगह देती हैं पर तब भी वे सावित्रीबाई फुले के योगदान को याद नहीं करती हैं । आखिर इस घोर उपेक्षा का कारण क्या है ? क्या सावित्रीबाई का नाम इतिहास से इसलिए हटा दिया गया कि वो शूद्र जाति की थीं और दलित/ शूद्र स्त्रियों की उन्नति के लिए कार्य कर रही थीं जिनका उच्च वर्ग की संभ्रांत लेखिकाओं और नारीवादियों की दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है ।"[81]

यह स्पष्ट है कि वर्चस्ववादी सवर्णों ने हमेशा से ही इतिहास से लेकर साहित्य पर अपना आधिपत्य जमाया हुआ है । यही कारण है कि मुख्यधारा के साहित्य में शूद्रों-अतिशूद्रों व स्त्रियों का अपना कहीं चेहरा तक नहीं दिखायी देता है किन्तु शिक्षा ने जो रोशनी दलितों को दी उससे उन्होंने अपने इतिहास और साहित्य को खंगालना शुरू किया । उन्हें भी यह पता चल गया था कि शिक्षा पर ब्राह्मणों का एकछत्र आधिपत्य है जिसके अभाव में ही शूद्रों और स्त्रियों का शोषण सदियों से होता रहा है । विद्या के बगैर किसी भी प्रकार का विकास संभव नहीं, यह जानकर

[81] समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.175

महात्मा ज्योतिबा फुले ने समाज की सबसे पतित शूद्र-अतिशूद्र जातियों तथा नारी वर्ग को शिक्षा देने के कार्य से अपने क्रांतिकारी आंदोलन की शुरूआत की। उसमें भी उन्होंने स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया। स्त्री को शिक्षित बनाने का कार्य सर्वप्रथम होना चाहिए, ऐसा प्रतिपादन करने वाले राष्ट्रपिता ज्योतिबा फुले पहले भारतीय हैं। सही मायने में देखा जाये तो राष्ट्रपिता फुले के कार्य से ही सावित्रीबाई फुले के जीवन-कार्य का शुभारम्भ हुआ। महात्मा फुले आदर्श पति के साथ ही साथ आदर्श गुरू भी थे। सावित्रीबाई फुले जिस प्रकार महात्मा ज्योतिबा फुले के जीवन की हमसफर थीं उसी प्रकार वह उनके क्रांतिकारी आंदोलन की भी हमसफर रहीं।

क्रांति ज्योति सावित्रीबाई फुले महात्मा ज्योतिबा फुले के समान ही धैर्यवान, समर्पण की भावना से युक्त तथा दूरदर्शी थीं। विभिन्न सामाजिक अवमानना, संकटों का जितना सामना ज्योतिबा फुले ने किया, उनके साथ सावित्रीबाई फुले ने भी लोगों की निन्दा, स्वयं के परिवार द्वारा भी अपशब्द सुने किन्तु दोनों दम्पत्ति ने कभी हार नहीं मानी। सावित्रीबाई के प्रेरणास्रोत महात्मा फुले थे। पति के कार्य में अपनी सहभागिता दर्ज करते हुए उन्हें खुशी मिलती थी। अपने पति के कार्यों के प्रति उनके मन में अत्यधिक सम्मान की भावना थी। एक बड़े आदमी की पत्नी के रूप में सिर्फ सभा-समारोह में भाग लेने का कार्य उन्होंने नहीं किया बल्कि सही मायने में ज्योतिबा फुले के आंदोलन तथा विचारों के साथ सावित्रीबाई फुले पूर्ण रूप से एकरूप हो गई। समाज के शोषित वर्गों के उत्थान में दोनों की समान आस्था थी।

सावित्रीबाई फुले के जीवन की सही शुरूआत उनके अध्यापन प्रशिक्षण के बाद ही हुई। सन् 1848 में अंग्रेज शासक लार्ड डलहौजी ने भारत में डाक, रेलवे तथा शिक्षा-कार्य की शुरूआत की थी। महात्मा ज्योतिबा फुले ने भी 1 जनवरी 1848 को पूना में बालिका विद्यालय की स्थापना की। यह किसी भारतीय द्वारा स्थापित पहला कन्या विद्यालय था। विद्यालय का संचालन पूना बुधवार पेठ में तात्या साहेब भिडे नामक एक ब्राह्मण व्यक्ति के बड़े मकान में होता था। सावित्रीबाई फुले इस विद्यालय की प्रथम शिक्षिका बनीं। इस विद्यालय को चलाने के लिए उन्हें कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। इस विद्यालय में ब्राह्मण छात्राओं की संख्या अधिक थी, जिससे ब्राह्मणों ने सारे शहर में कोलाहल मचा दिया था। क्योंकि मनुवादी ब्राह्मणवादी संस्कृति के अनुसार स्त्रियों को शिक्षा का अधिकार नहीं था। तत्कालीन समय के अनुसार फुले दम्पत्ति का यह प्रयास धर्मविरोधी आचरण था। लड़कियों की पाठशाला की सफलता को देखकर फुले दम्पत्ति ने 15 मई 1848 को पूना शहर की अछूत बस्ती

में अछूतों के लड़के-लड़कियों के पाठशाला की स्थापना की। उनकी यह पाठशाला भी अछूतों के बच्चों की देश की पहली पाठशाला थी। बहुत ही कम समय में फुले दम्पत्ति ने पुणे और उसके नजदीक के गांवों में लगभग 18 विद्यालय खोले।

फुले दम्पत्ति के इस क्रांतिकारी कार्य में जिस प्रकार अनेक शिक्षित सुधारवादी तथा प्रगतिशील विचारों के ब्राह्मणों ने सहयोग दिया उसी प्रकार एक मुस्लिम महिला फातिमा शेख ने भी महत्वपूर्ण सहयोग दिया। फातिमा ज्योतिबाफुले के मित्र उस्मान शेख की बहन थीं। सावित्रीबाई फुले ने 1849 में पूना में ही उस्मान शेख के यहां मुस्लिम स्त्री-बच्चों के लिए प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र खोला। इसी समय पूना, सतारा व अहमद नगर जिले में पाठशाला खोलीं। सावित्रीबाई फुले और फातिमा शेख मिलकर एक अछूत बच्चों के स्कूल का संचालन करती थीं। उन्नीसवीं सदी की पहली मुस्लिम अध्यापिका फातिमा शेख ही हैं।

भारत की पहली अध्यापिका के रूप में सावित्रीबाई फुले जो कि शूद्र स्त्री थी, को सम्मान प्राप्त होना, यह एक क्रांतिकारी घटना है। ज्योतिबा फुले के परममित्र मामा परमानन्द ने सावित्रीबाई के साहस की प्रशंसा करते हुए एक लेख में कहा कि, "ऐसे विपरीत समय में एक शूद्र व्यक्ति अपनी पत्नी को सुशिक्षित बनाता है और उसके द्वारा ब्राह्मणों की लड़कियों को शिक्षा देने का प्रयत्न करता है वह भी किस स्थान पर ? ब्राह्मणों के गढ़ में ! महार, माँग, अछूतों की पाठशाला की स्थापना करना और उन लोगों के साथ बराबरी का बर्ताव करना, इस का मतलब है, शेर की गुफा में जाकर उसे पकड़ना। इस कार्य के लिए उनकी पत्नी की जितनी तारीफ की जाए, उतनी कम ही है। उनकी योग्यता के बारे में क्या कहना है ? अपने पति को उन्होंने पूर्ण सहयोग दिया और उसके साथ रहकर सारे दुख संकट सहन किये।"[82] यहां एक घटना का जिक्र करना ज़्यादा महत्वपूर्ण होगा जो सम्पूर्ण भारतीय सामाजिक व्यवस्था में अछूत छात्रा द्वारा एक साहस भरा कदम था। 'हिन्दू मनिहार (चूड़ी विक्रेता) चूंकि कलाई छूए बगैर चूड़ी नहीं पहना सकता था और वह अछूत महिलाओं के छूने को पाप मानते थे। इसलिए यह काम मुसलमानों ने किया। इस काम में हिन्दुओं ने समझदारी दिखाई। 1851 में महात्मा ज्योतिबा फुले के स्कूल में एक 14 वर्ष की अछूत छात्रा ने अपने मौलिक निबन्ध में यथार्थ को

[82] सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रांति के प्रणेता, राष्ट्रपिता जोतीराव फुले एवं क्रांति ज्योति सावित्रीबाई , पेज नं.26

इन शब्दों में उजागर किया। 'पेशवा के समय में हिन्दू अछूत लड़कियों को जहर देकर बिल्डिंग में गाड़ देते थे। अच्छा वस्त्र धारण करने पर उसे चोरी किया हुआ बताकर मारते-पीटते थे। इस सब से बचने के लिए छात्रा ने आवाहन किया कि "जैसे भी हो पढ़ो और ज़ुल्म का प्रतिकार करो।" यहां से आगे राजनीतिक-सामाजिक अधिकारों के प्रति तीव्र जागृति का युग शुरू होता है।"[83] सावित्रीबाई फुले का योगदान केवल शिक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं था बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

सन् 1852 में सावित्रीबाई फुले ने 'महिला मंडल' का गठन किया। इस महिला मंडल ने बाल-विधवा विवाह होने के कारण स्त्रियों पर किये जा रहे जुल्मों के ख़िलाफ़ स्त्रियों को तथा अन्य समाज को मोर्चाबंद कर सामाजिक बदलाव के लिए संघर्ष किया। विधवाओं के सर मुंडने जैसी कुरीतियों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए सावित्रीबाई फुले ने नाइयों से विधवाओं के "बाल न काटने" का अनुरोध करते हुए आंदोलन चलाया जिसमें काफ़ी संख्या में नाइयों ने अपनी भागीदारी जतायी तथा विधवा स्त्रियों के बाल न काटने की प्रतिज्ञा ली।' सामाजिक बदनामी से बचने के लिए विधवा गर्भवती महिलाओं के पास आत्महत्या तथा अपने अवैध बच्चे को मारने के अतिरिक्त अन्य कोई रास्ता नहीं था। इसको रोकने के उद्देश्य से सन् 1863 में सावित्रीबाई फुले ने भारत का पहला 'बाल हत्या प्रतिबंधक गृह' की स्थापना की थी। उस गृह में लगभग 100 विधवाओं ने तीन चार वर्षों में अवैध बच्चों को जन्म दिया। आदर्श सामाजिक कार्यकर्ता का जीवन अपनाते हुए स्वयं सावित्रीबाई फुले ने एक विधवा स्त्री के बच्चे को गोद लिया तथा उसे शिक्षा देकर एक योग्य डॉक्टर बनाया। इस आश्रम की सम्पूर्ण व्यवस्था का कार्य-भार सावित्रीबाई फुले ही संभालती थी। सावित्रीबाई फुले जीवन-पर्यन्त अंतर्जातीय विवाह आयोजित व संपन्न कर जाति व वर्गविहीन समाज की स्थपना के लिए प्रयासरत रहीं। उन्होंने लगभग 48 वर्षों तक दलित, शोषित, पीड़ित स्त्रियों को सम्मान से जीवन जीने के लिए प्रेरित किया, उनमें शिक्षा का दीप जलाया। सावित्रीबाई फुले ने ऐसे समय में घर से बाहर निकल कर दलित और गैर-दलित बालिकाओं को पढ़ाना शुरू किया, जब औरत का घर से बाहर निकलना अपराध माना जाता था। ब्राह्मणवादी लोगों द्वारा तमाम प्रकार के विरोध सहकर भी उन्होंने

[83] श्यौराज सिंह बेचैन : बाबासाहब आंदोलन की जान थीं दलित वीरांगनाएं, दलित प्रक्रिया, मार्च-95, पेज नं.11

महिलाओं के लिए शिक्षा की प्रथम पाठशाला खोली जिसमें न केवल दलित महिलाएं थीं बल्कि किसी भी जाति, वर्ग की महिलाएं शिक्षा ग्रहण करती थीं। सावित्रीबाई फुले ने सवर्ण, निम्न, गरीब, दलित आदि समस्त महिला जाति की मुक्ति के लिए शिक्षा को जरूरी समझा। भारतीय समाज में दलित महिलाओं की कारूणिक दशा को देखकर सावित्रीबाई फुले ने अपना पूरा जीवन उनके उद्धार में लगा दिया। खासतौर से दलित महिलाएं जो सामाजिक व्यवस्था में हाशिए की स्थिति पर थीं उनको अपने पैरों पर खड़ा होने तथा अधिकारों के प्रति सजग और प्रेरित करते हुए वे लिखती हैं कि-

"जाओ जाकर पढ़ो लिखो

जाओ, जाकर पढ़ो लिखो

बनो आत्मनिर्भर बनो मेहनती

काम करो ज्ञान धन इकट्ठा करो

ज्ञान के बिना सब खो जाता है

ज्ञान के बिना हम जानवर बन जाते हैं

इसलिए खाली ना बैठो, जाओ जाकर शिक्षा लो.....

तुम्हारे पास सीखने का सुनहरा मौका है

इसलिए सीखो और जाति के बंधन तोड़ दो

ब्राह्मण के ग्रंथ जल्दी से जल्दी फेंक दो।" [84]

भारत में स्त्री शिक्षा की प्रथम पाठशाला और स्त्री-शिक्षा का द्वार खोलने वाली प्रथम महिला सावित्रीबाई फुले ही थीं। उन्होंने महात्मा ज्योतिबा फुले के आंदोलन तथा क्रांतिकारी कार्यों में प्रत्येक स्तर पर महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, परंतु फुले के आंदोलन में उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान तब हुआ, जब उन्होंने अपने पति के निधन के बाद, सत्यशोधक समाज का सन् 1891 से लेकर सन् 1897 तक नेतृत्व किया। इन सात वर्षों के लम्बे समय में,

[84] सं.सुनील: सामयिक वार्ता, उद्धृत, लेख-अनिता भारती, मार्च 2014, पेज नं. 58

सावित्रीबाई फुले ने सत्यशोधक समाज के अनेक सभा-सम्मेलनों में भाग लेकर, कार्यकर्ताओं का मार्ग दर्शन किया, उनको क्रांतिकारी विचार दिये तथा उनका सफल नेतृत्व भी किया।

भारत की प्रथम शिक्षिका, समाज सुधारक होने के साथ-साथ सावित्रीबाई फुले बुद्धिमान लेखिका तथा प्रतिभा सम्पन्न कवयित्री भी थीं। उनके लेखन से उनकी विचारधारा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उनका कविता संग्रह "काव्यफुले" सन् 1854 में प्रकाशित हुआ। शूद्र-अतिशूद्रों के उद्धार, उत्थान के प्रति उनकी आस्था इन कविताओं से प्रकट होती है। शिक्षा के लिए जागृत होने का संदेश देते हुए, सावित्रीबाई फुले एक कविता में कहती हैं,

"उठो बंधुओं, अतिशूद्रों,

जागृत हो उठो,

परम्परा की गुलामी

नष्ट करने के लिए उठो।

बंधुओं, शिक्षा के लिए उठो।"[85]

उनके विचार तत्कालीन समय में बहुत ही प्रगतिशील थे। उनके विचारों की प्रखरता का ज्ञान उनके दिये गये ओजस्वी भाषणों से मिलता है। सावित्रीबाई फुले स्त्री समाज के लिए शिक्षा के दरवाजे खोलकर, भारत की स्त्री मुक्ति आंदोलन की प्रणेता बन गयीं। उन्होंने जिस स्त्री मुक्ति आंदोलन की शुरूआत की, उसके परिणामस्वरूप आज अनेक उच्च और संभ्रांत वर्ग की महिलाएं, पुरुषों के साथ बराबरी के ऊंचे पदों पर पहुंची हैं परंतु हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि हिन्दू स्त्री चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र उसे मुक्त करने का गौरव एक शूद्र स्त्री को प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार स्त्री शिक्षा की प्रथम पाठशाला खोलने वाली क्रांतिज्योति सावित्रीबाई फुले ही थीं। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन शोषित-सर्वहारा वर्ग- किसान, गरीब तथा मजदूरों के उत्थान के लिए समर्पित किया था। नये आचार-विचारों की एक महान परम्परा उन्होंने अपने

[85] राष्ट्रपिता जोतीराव फुले एवं क्रांति ज्योति सावित्रीबाई फुले, पेज नं.-26

कार्यों से शुरू की ।' आज नारीवादियों द्वारा स्त्री आंदोलन का जो झंडा फहराया जा रहा है, उसकी सफलता का श्रेय, वो पश्चिमी और कुछ सवर्णवादी नारीवादी विचारकों को देती हैं किन्तु सावित्रीबाई फुले का नाम उनकी ज़ुबान पर नहीं आता । यह सरासर बेईमानी ही है कि जिसकी वजह से आज भारत की तमाम महिलाएं शिक्षित हुईं, उनका ही नाम भूल गई । आज चाहे दलित स्त्रीवादी आंदोलन हो या फिर दलित आंदोलन ऐसे विलक्षण दम्पत्ति के सराहनीय योगदान को भुलाकर वह अपने साहित्य की महिमा का बखान नहीं कर सकता । इसलिए दलित स्त्रीवादी लेखन अपने साहित्य का प्रेरणास्रोत राष्ट्रपिता ज्योतिबा फुले तथा सावित्रीबाई फुले को मानता है ।

पण्डिता रमाबाई : स्त्री अधिकारों के लिए सतत प्रयत्नशील

19वीं सदी की एक ऐसी हिन्दू ब्राह्मण महिला जिसने ब्राह्मणवाद और पितृसत्ता को खुलेआम चुनौती दी, वह थीं पण्डिता रमाबाई । रमाबाई एक ऐसे परिवार से थीं जिनके पिता अनंत शास्त्री स्त्री शिक्षा के विशेष पक्षधर थे । वे स्वभाव से बहुत प्रगतिशील थे और अपने बच्चों में भी वही गुण डालना चाहते थे । रमाबाई ने संपूर्ण भारत में स्त्रियों की दशा को अपनी आंखों से देखा और महसूस किया कि शिक्षा से ही इन स्त्रियों के जीवन में नई संभावनाओं का द्वार खोला जा सकता है । उन्होंने अपने समय में असम के कायस्थ (जिसे शूद्र समझा जाता था) विपिन बिहारी से अंतर्जातीय विवाह किया, जिसके लिए उन्हें तमाम उलाहने भी सुनने को मिली और अपने समाज से उन्हें बहिष्कृत कर दिया गया किन्तु उसके बावजूद भी उन्होंने हार नहीं स्वीकार किया ।

भारत की स्त्रियों को समर्पित करते हुए उन्होंने 'स्त्री धर्म नीति' 1882 में अपनी पहली पुस्तक लिखी । उन्होंने स्त्री की प्रगति के लिए आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता दो आधार गुण बताये । "स्त्रियों को भाषा, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि के अलावा गणित, भूगोल, राजनीति, अर्थशास्त्र, चिकित्सा-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान-- जैसे विषयों का भी ज्ञान होना चाहिए । पारंपरिक पाक-कला में भी निपुण होना चाहिए । चरित्र में गहराई, अपनी सीमा का बोध, संयम, सतर्कता, नैतिकता, विनम्रता, आदर वगैरह जो गुण स्त्री में खोजे जाते हैं, वे अपना सम्मानजनक स्थान बनाए रखने के लिए ज़रूरी हैं ।....स्त्रियों को उनका हक़ दो, तभी

वे और उनकी संतान मुकम्मल इंसान बन पाएगी ।"[86] 1887 में उनकी दूसरी पुस्तक 'द हाई कास्ट हिन्दू वूमेन' प्रकाशित हुई जिसमें हिन्दुस्तानी विधवाओं की समस्याओं को सामने लाया गया । रमाबाई का मानना था कि हिन्दुस्तान में सामाजिक रीति-रिवाजों को जाति-व्यवस्था और पितृसत्ता ने उन्हें विकृत कर दिया है । प्राचीन काल में स्त्रियों पर रीति-रिवाजों की ऐसी बंदिशें नहीं थीं । धीरे-धीरे धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों से उनकी आज़ादी छीन ली । ज्ञान के भंडार को स्त्रियों की पहुंच में आने से रोक दिया गया जबकि स्त्री को पूरा अधिकार है कि धर्मशास्त्रों के नियमों के आधार पर होने वाले धार्मिक निरंकुश आचरण को चुनौती दे । इसके लिए स्त्री को लिखने-पढ़ने-बोलने का अधिकार हासिल करना होगा । खुद धर्मशास्त्र पढ़कर जानना होगा ।'[87] इस प्रकार 19वीं सदी में ज्योतिबाफुले-सावित्रीवाई फुले की समकालीन पं.रमाबाई ने स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनने की प्रेरणा दी । उन्होंने हिन्दू विधवाओं के लिए एक ऐसे आश्रम का नक्शा तैयार किया जहां वे बिना किसी भेदभाव के रह सकें । उन्होंने देश की स्त्रियों को पददलित अवस्था से ऊपर उठाकर लाने का प्रयास किया । दलित स्त्री विमर्श उनके सामाजिक योगदान को याद करता है और अपने साहित्य लेखन के लिए उनसे प्रेरणा लेता है ।

मुक्ताबाई : दलित-स्त्री-शिक्षा में एक और महत्वपूर्ण कदम

सावित्रीबाई फुले के स्त्री स्कूल से शिक्षित होकर उनके साथ काम करने वाली दलित महिलाएं बहुत कम थीं फिर भी कुछ महिलाएं थी जिन्होंने बाद में सावित्रीबाई फुले की स्त्री-शिक्षा आंदोलन में अपनी विशेष भूमिका निभाई जिनमें मुक्ताबाई का नाम लिया जा सकता है । मात्र 14 वर्ष की उम्र में ही उन्होंने नवजागरण के उस आरम्भिक काल में भारतीय समाज की दुर्दशा पर लेख लिखे । 1855 ई. में महाराष्ट्र के 'ज्ञानोदय' अखबार में उनका प्रसिद्ध आलेख प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने ब्राह्मणों को फटकार लगाते हुए कहा था कि-

[86] पण्डिता रमाबाई (2006) हिन्दू स्त्री का जीवन, अनु.शंभू जोशी, संवाद प्रकाशन, मेरठ, पेज नं.108

[87] वही, पेज नं.113-14

'ऐ पढ़े-लिखे पण्डितों,

अपने खोखले ज्ञान को तोतारटन्त शैली में

दोहराना छोड़ दो

और सुनो, जो मैं कहना चाहती हूं।'

अपने इस पत्र में मुक्ताबाई ने पेशवाओं के शासन में दलितों (माँग और महार जाति के लोगों) पर ढाये जाते जुल्म का वर्णन किया था। किस तरह पेशवाओं के जमाने में दलितों को लाल सीसा/ सिन्दूर पिला दिया जाता था और उनको हवेलियों की बुनियाद में गाड़ दिया जाता था। उनकी छाया से भी घृणा की जाती थी। 'उसने यह भी जोड़ा था कि आज भी दलित छात्र 'शिकायत नहीं कर सकते भले ही ब्राह्मण बच्चे उन्हें पत्थर से मारे और उन्हें घायल कर दें। वे चुपचाप सब बर्दाश्त करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उन्हें फिर ब्राह्मणों के दरवाजे पर ही बचा-खुचा अन्न माँगने जाना पड़ेगा।"[88] दलित स्त्री-संघर्ष का इतिहास समृद्ध है, बस ज़रूरत इस बात की है कि उन्हें साहित्य में उचित स्थान मिले।

दुर्गाबाई –हिन्दी पट्टी में दलितों की अछूत शिक्षिका

दलितों के इतिहास को गायब करने के पीछे ब्राह्मणवादियों का बड़ा हाथ रहा है। उसमें भी एक स्त्री जो कि दलित हो तो उसे लैंगिक भेदभाव का भी सामना करना पड़ता है। इसी सवर्णवादियों के जातिगत व पितृसत्तात्मक प्रहार से दलित स्त्रियों का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया। दलित समुदाय में सावित्रीबाई फुले की तरह दलितों की शिक्षिका दुर्गाबाई भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। दुर्गाबाई अछूतानन्द की पत्नी थीं। इतिहास में इनका नाम खोजने से भी नहीं मिलता। 'स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका' अपनी पुस्तक में श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं कि "अछूत शिक्षिका दुर्गाबाई-अछूतानन्द हिन्दी क्षेत्र की सावित्रीबाई थीं। महात्मा ज्योतिबा फुले की पत्नी सावित्रीबाई महाराष्ट्र में पहली स्त्री शिक्षिका मानी जाती हैं।

[88] सुभाष गाताडे का आलेख, 1857 : निरन्तरता और परिवर्तन, पेज नं.284, उद्धृत- हरिनारायण ठाकुर, दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, पेज नं.499-500

परन्तु हिन्दी क्षेत्र में दलितों में वैसा त्याग सेवा करने वाली दलित महिलाओं की खोज की जानी चाहिए।"[89]

1915-1922 में स्वामी अछूतानन्द की सहायता से दुर्गाबाई ने सिरसागंज में विद्यालय की स्थापना की। दुर्गाबाई ने समाज से चन्दा इकट्ठा करके तथा अपने गहने बेचकर इस विद्यालय की स्थापना की थी। श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं "स्वामी अछूतानन्द की जीवन संगिनी श्रीमति दुर्गाबाई दलित महिलाओं की आदर्श बेशक हैं पर उनकी सेवाएं अब तक विस्मृतियों और अज्ञानता के अंधेरे में विलुप्त रही हैं। कुछ दलित महिलाएं भी अपनी जड़ों की ओर झांकने के बजाय सुविधाभोगी सवर्ण महिलाओं की चमक के पीछे दौड़ने लगती हैं। परन्तु अब जब इतिहास खोजा-खंगाला जा रहा है और आगे भी खोजा जायेगा तो ऐसे में असीम आदर के साथ उन महान त्यागी महिलाओं को याद किया जाना हमारा ऐतिहासिक कर्तव्य है।"[90] यह दलित विमर्श की क़वायद है कि वह इतिहास के गर्त में छुपे सारगर्भित मूल्यवान चीजों को खोज कर ला रहा है। अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए स्थापित व्यवस्था से उसका संघर्ष भी जारी है। इस प्रकार दलित स्त्री संघर्ष के इतिहास में इन दलित नायिकाओं का उत्कृष्ट योगदान है।

2.1.5 बाबा साहेब अम्बेडकर और दलित महिला आंदोलन:-दलित स्त्री विमर्श की पांचवीं सशक्त आगाज

दलित महिला आंदोलन की मुकम्मल शुरूआत करने वाले बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर थे। बौद्धकाल में थेरियों द्वारा बड़े स्तर पर संघ में शामिल होना और स्वतन्त्रता का जीवन जीना यह दलित स्त्रियों की चेतना का ही परिचायक था, जिसके पूर्ण विकास को हम बाबासाहेब अम्बेडकर के समय में देखते हैं। बाबासाहेब द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पीछे सबसे बड़ा कारण उसकी मानवता और करूणा का सिद्धान्त था। इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि बुद्ध के समय में जिस दलित स्त्री चेतना का रूप दिखायी देता है वह अचानक कहां लुप्त हो जाता है? यह ग़ौरतलब है कि बुद्ध के बाद ब्राह्मणवादी शक्तियों ने धीरे-धीरे अपना वर्चस्व स्थापित किया। बौद्ध धर्म को सुचारू रूप से चलाने और जातिगत व्यवस्था को पूरी तरह से जड़ से उखाड़ने का गौतमबुद्ध ने भरसक प्रयत्न किया किन्तु बौद्धकाल में जातिवादी ताकतें अपना वर्चस्व इस

[89] श्यौराज सिंह बेचैन- 'स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका' साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण, 2012, पेज नं.140

[90] वही, पेज नं.141

कदर जमाए हुए थीं कि बौद्ध धर्म ज़्यादा दिनों तक नहीं टिक पाया और धीरे-धीरे इसका अस्तित्व खत्म होता रहा। सातवीं शताब्दी के शुरूआती दौर में ही बौद्ध मत अपनी मातृभूमि से लगभग गायब हो गया। कई कारणों में से एक कारण ब्राह्मण मतानुयायी राजाओं की क्रूरतापूर्ण कार्रवाइयां भी थीं।

ब्राह्मणवादी शक्तियों ने समाज में व्याप्त अन्याय, शोषण और कुरीतियों की शिकार स्त्री को बनाया। मनुवादी पितृसत्तावादी समाज ने स्त्री को घर की चारदीवारी में कैद कर उसे वस्तु बना दिया। पर्दाप्रथा, बाल-विवाह, अनमेल विवाह, सती-प्रथा, दहेज प्रथा, जौहर प्रथा आदि कुरीतियों के नाम पर उनकी बलि चढ़ाई जाने लगी। आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक स्त्रियों की दशा पर कोई विचार नहीं किया गया। आधुनिक काल में सुधारवादी लोगों ने स्त्रियों की स्थिति पर विचार किया किन्तु किस तबके की स्त्रियों के विषय में किया, यह सोचने की बात है। समस्त स्त्री समाज की शिक्षा और उनकी शोचनीय स्थिति एवं उनके उत्थान के संदर्भ में सर्वप्रथम कार्य करने वाले फुले दम्पत्ति ही थे। उन्होंने जिस दलित महिला आंदोलन की नींव डाली उसको और मजबूत बनाने का कार्य डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने किया। विशेषरूप से दलित स्त्रियों के अधिकार विहीन जीवन और उनकी दयनीय तथा कारूणिक स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का श्रेय बाबासाहेब अम्बेडकर को जाता है।

दलित महिलाओं के मुद्दे उनके अधिकार, उनकी इच्छाएं, दुःखमय जीवन के बारे में किसी ने इतनी गंभीरता और मानवीय दृष्टिकोण से नहीं सोचा था, जितना बाबासाहेब अम्बेडकर सोच रहे थे। 'डॉ.अम्बेडकर स्त्री-शिक्षा और उनके स्वतन्त्र विकास के प्रबल हिमायती थे। वह स्त्री को परिवार की 'धुरी' मानते थे। स्त्री की स्वतन्त्रता के बिना समाज की स्वतन्त्रता अधूरी है। उन्होंने अपना संपूर्ण जीवन दलितों और दलित महिलाओं के लिए अर्पित कर दिया।' डॉ.भीमराव अम्बेडकर के अनुसार अगर घर में एक पुरुष पढ़ता है तो केवल वही पढ़ता है और यदि घर में स्त्री पढ़ती है तो पूरा परिवार पढ़ता है। डॉ.अम्बेडकर ने भारतीय साहित्य में प्राचीन से लेकर आधुनिक साहित्य के साथ-साथ विदेशी साहित्य का भी अच्छी प्रकार से अध्ययन मनन किया था। साहित्य अध्ययन के दौरान शिक्षित व स्वतन्त्र स्त्रियों उदाहरण के रूप में उनके सामने बुद्ध की थेरियों से लेकर सावित्रीबाई फुले थीं इसके अलावा उनकी कई महिला मित्र ऐसी थीं जिन्होंने पढ़-लिख कर समाज परिवर्तन के लिए काम किया। इसलिए वे दलित स्त्री को शिक्षित करने के लिए प्रतिबद्ध थे।

बाबासाहेब अम्बेडकर के काल में शुरू हुए सामाजिक आंदोलनों में हजारों, लाखों शिक्षित, अशिक्षित, घरेलू, गरीब, मजदूर, किसान व दलित शोषित स्त्रियों ने हिस्सा लिया। स्त्री तथा समाज की उन्नति को वो शिक्षा के द्वारा ही संभव मानते थे। रमाबाई भी डॉ. अम्बेडकर के मुक्ति संघर्ष से जुड़ी रहीं। रमाबाई ने अपने पति डॉ.अम्बेडकर के साथ कन्धा से कन्धा मिलाकर दलित आंदोलन तथा दलित हितों के लिए काम किया। पुरुषों के साथ स्त्री को भी समानता व स्वतन्त्रता मिले, उसे सामाजिक आज़ादी के साथ आर्थिक आज़ादी भी प्राप्त हो, परिवार में उसका दर्जा पुरुष के समान हो, इसके लिए उन्होंने दलित, गैर-दलित स्त्रियों को भी समाज परिवर्तन के आंदोलन में सक्रिय रूप से जुड़ने का आवाह्न किया।

बाबासाहेब अम्बेडकर ने 1920 में 'दलित महिला आंदोलन' की शुरूआत की। हालांकि 1913 में दलित स्त्री आंदोलन के स्वर सुनायी देने लगे थे। 1920 में 'भारतीय बहिष्कृत परिषद्' की सभा कोल्हापुर नरेश छत्रपति शाहूजी महाराज की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इस सभा में पहली बार दलित महिलाओं ने हिस्सा लेकर अपनी सक्रिय भागीदारी निभाई। इस सभा के माध्यम से तुलसाबाई बनसोडे तथा रूक्मणीबाई द्वारा पहली बार दलित स्त्रियों को शिक्षा का महत्व बताया गया 'लड़कियों की असली शक्ति शिक्षा ही है' देश भर में चल रहे 1920 में शुरू हुआ दलित महिला आंदोलन जैसे-जैसे आगे बढ़ रहा था वैसे-वैसे उसमें दलित महिलाओं की भागीदारी बढ़ती जा रही थी। दलित महिलाएं अपने अधिकारों के लिए पूरे जोश के साथ प्रतिक्रियाएं व्यक्त कर रही थीं।

20 जुलाई 1924 को मुम्बई में स्थापित 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' की स्थापना की गयी जिसका उद्देश्य अस्पृश्यता के ख़िलाफ़ जंग छेड़ने के अलावा दलित बस्तियों में स्कूल व छात्रावास खोलने संबंधी प्रयास कर दलित समाज में जागृति व चेतना पैदा करना था। इसकी अधिकांश सभाएं गावों तथा देहातों में आयोजित होती थीं। यहां स्त्रियाँ समाज व परिवार से मिली पीड़ा को सार्वजनिक रूप से अभिव्यक्त करते हुए मुक्ति की माँग करती थीं। 1924 में ही दलित महिला जाईबाई चौधरी द्वारा दलित स्त्रियों की शिक्षा के लिए विद्यालय की स्थापना की गयी, जिसके प्रभाव से दलित महिला आंदोलन की सक्रियता और अधिक बढ़ जाती है। जाईबाई सम्पूर्ण दलित समाज की जागृति के लिए समर्पित थीं जो कि बाद में सशक्त दलित

महिला के रूप में स्थापित हुईं । 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' के माध्यम से बाबासाहेब अम्बेडकर ने वेश्याओं की मुक्ति का भी आंदोलन चलाया ।

1920 से 1924 तक दलित महिला आंदोलन ने स्त्री शिक्षा और अस्पृश्यता के मुद्दों पर विशेष कार्य किया । 1927 में बाबासाहेब के महाड़ आंदोलन और 1930 का नासिक के कालाराम मन्दिर प्रवेश तथा मनुस्मृति दहन में शामिल होकर दलित महिलाओं ने बड़ी संख्या में अपनी भागीदारी निभायी और हिन्दू धर्म के स्त्री विरोधी कानून और नियमों को मानने से इंकार किया । सभा में उपस्थित दलित महिलाओं को देखकर बाबा साहेब अम्बेडकर ने उनके पक्ष में भाषण देते हुए कहा– "स्त्रियों को गृहलक्ष्मी क्यों होना चाहिए मन में ऊंची आकांक्षा रखे । ज्ञान और विद्या पर केवल पुरुषों का अधिकार नहीं है वह स्त्रियों के लिए भी अति आवश्यक है.... तुम्हें लड़कों के साथ-साथ लड़कियों को भी शिक्षा देनी होगी । घर में पति अगर मरे हुए जानवर का माँस लाए तो उससे कहो कि ये सब मेरे घर में नहीं चलेगा । गले में इतनी वजनी मालाएं और हाथों में कोहनी तक के कड़े और कंगन यह सब तुम्हें अस्पृश्य करके पहचानने की निशानी है ।"[91] इस भाषण से वहां उपस्थित सभी दलित महिलाओं पर तीव्रता से असर हुआ ।

बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर ने दलित महिलाओं के मान-सम्मान और समानता के अधिकार के लिए संघर्ष किया । दलित महिलाओं के मुद्दे जिसमें फैक्ट्रियों और खेत-खलिहानों में उनको कम वेतन देना तथा वर्कर न मानना अर्थात उनके श्रम की अवहेलना करना, गर्भावस्था की हालत में उन्हें नौकरी से निकाल दिया जाना था । उनके काम के घंटे निश्चित न करना आदि प्रमुख मुद्दे थे । 28 जुलाई 1928 को मुम्बई विधान परिषद् में कारखाना व अन्य सरकारी / गैर-सरकारी संस्थानों में कार्यरत मजदूर महिलाओं के पक्ष में प्रसूति अवकाश सुविधा संबंधी बिल पर अपने सशक्त विचार रखते हुए डॉ.अम्बेडकर ने कहा कि "महिलाओं को प्रसूति अवकाश व पूरा वेतन प्राप्त करना राष्ट्रीय हित में एक महत्वपूर्ण कदम है । मैं इस बात से सहमत हूं कि इससे शासन पर भारी आर्थिक बोझ पड़ेगा लेकिन फिर भी मैं वेतन कटौती का पक्षधर नहीं हूं । यह महिलाओं का उनका अपना अधिकार है जिसकी प्राप्ति उन्हें होना चाहिए

[91] उद्धृत, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध -डॉ.अम्बेडकर, लाइफ एंड मिशन, धनंजय कीर

।"[92] इस प्रकार बाबासाहेब अम्बेडकर ने दलित महिला आंदोलन में मजदूरों के मुद्दों को भी शामिल किया।

1928 में मुंबई में 'महिला मंडल' की स्थापना की गई और इस 'महिला मंडल' की प्रथम अध्यक्षा के रूप में 'रमाबाई अम्बेडकर' को चुना गया। इस संस्था ने दलित महिलाओं के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति को सुदृढ़ करने तथा उसे सफल बनाने में अपना बहुमूल्य योगदान दिया।

दलित अस्मिता के निरन्तर चल रहे संघर्ष में जो महत्वपूर्ण मोड़ आता है वह बाबासाहेब अम्बेडकर द्वारा चलाया गया मंदिर प्रवेश आंदोलन है, जिसमें दलित महिलाओं ने अपनी सक्रिय भागीदारी निभायी। 12 अक्टूबर 1929 को डॉ.अम्बेडकर तथा दलित महिला नेता तानुबाई के नेतृत्व में पुणे के पार्वती मंदिर में प्रवेश हेतु आंदोलन किया गया जिसमें नानाबाई कांबले ने भी हजारों महिलाओं के साथ भाग लिया। दलित महिलाओं के ऐसे साहसपूर्ण नेतृत्व से सवर्ण खलबला उठे तथा उन्होंने मंदिर प्रवेश के लिए दलित महिलाओं का विरोध किया। किन्तु सवर्णों द्वारा इस प्रकार के अत्याचार और प्रहार से वो तनिक भी विचलित नहीं हुईं और उन्होंने अपना आंदोलन जारी रखा।

बाबासाहेब अम्बेडकर के नेतृत्व में चलाये गये 'दलित महिला आंदोलन' के लिए 1930 से 1934 तक का समय बहुत ही उपलब्धिपूर्ण रहा। यह काल दलित स्त्री चेतना का प्रखर काल भी है। उदाहरण स्वरूप 1अप्रैल 1930 को कालाराम मन्दिर प्रवेश के दौरान एक पुजारी द्वारा दलित महिलाओं को धक्का मारने पर एक दलित महिला ने पुजारी के गाल पर सनसनाता थप्पड़ जड़ दिया। ऐसी घटना दलित स्त्री चेतना तथा सदियों से मनुपुत्रों ब्राह्मणों तथा सवर्णों द्वारा छीने गये दलितों और स्त्रियों के मानवता और समानता के अधिकार को समान रूप से सबके लिए लागू हो, की तरफ लक्षित करता है।

1930 में बाबासाहेब ने नागपुर में 'अखिल भारतीय शेड्युल्स कास्ट फेडरेशन' की स्थापना की। इसके साथ ही उन्होंने 'दलित महिला परिषद्' की सभा भी आयोजित की। इस

[92] डॉ.मंजू सुमन, दलित महिलाएं, उद्धृत लेख-महिला आंदोलन में दलित महिलाओं का योगदान-मोहनदास नैमिशराय, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पेज नं.143-144

सभा में दस हजार महिलाओं ने हिस्सा लिया । इस सभा की अध्यक्षा सुलोचना डोगरे तथा स्वागताध्यक्षा कीर्ति पाटिल और मुख्य सचिव इंदिरा पाटिल थीं ।

नागपुर में 8 से 10 अगस्त 1930 को 'भारतीय दलित कांग्रेस' का 'प्रथम अधिवेशन' हुआ जिसमें जाईबाई चौधरी ने दलित महिलाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा कि लड़कियों को भी लड़कों के समान पढ़ने के पूरे-पूरे अवसर उपलब्ध कराने चाहिए । दलित महिला परिषद् के आयोजन में अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में सगुणाबाई गावेकर ने दलित महिलाओं की शिक्षा पर विशेष बल दिया ।

1931 में बाबासाहेब ने लन्दन में गोलमेज सम्मेलन के अंतर्गत अछूत (स्त्री-पुरुष) को पृथक मतदान देने के अधिकार दिलाने हेतु आवाज़ बुलन्द की । 1932 में डॉ.अम्बेडकर ने पूना-पैक्ट के अंतर्गत अछूत (स्त्री-पुरुष) को संसद, विधानसभा एवं नौकरियों में आरक्षण दिलाने हेतु आंदोलन किया । 1932 में जो समझौता गांधी जी और डॉ.अम्बेडकर के बीच दलितों के पृथक निर्वाचन को लेकर हुआ उसे पूना-पैक्ट के नाम से जाना जाता है । गांधी जी ने मुस्लिमों के लिए पृथक निर्वाचन हो, इसमें अपनी सहमति भर दी थी किन्तु वो किसी भी तरह से दलितों के अलग नेतृत्व और निर्वाचन के लिए तैयार नहीं थे । पूना पैक्ट समझौते के तहत गांधी जी ने दलित समाज के लिए कुछ वायदे किए थे किन्तु सभी वायदे झूठे सिद्ध हुए । 'अखिल भारतीय दलित फेडरेशन' की तरफ से भारतीय विधान मंडल के सामने सत्याग्रह का फैसला लिया गया । इस सत्याग्रह में दलित महिलाओं ने देश के विभिन्न राज्यों से हिस्सा लिया । सत्याग्रह में सीताबाई, गीताबाई गायकवाड़ आदि दलित महिलाओं ने अपनी विशिष्ट भूमिका निभाई । दलितों के इस प्रकार के सत्याग्रह को देखकर कुछ कांग्रेसियों तथा अहिंसक गांधीवादियों ने आंदोलनकर्मियों पर लाठी भी बरसाई जिससे उनको गम्भीर चोटें आयीं । दलित दमन के इस रूप को देखकर दलित सत्याग्रहियों ने जेल भरो आंदोलन शुरू कर दिया । दलित महिलाओं तथा छोटे बच्चों की पूरी निर्भीकता और अटूट साहस ने कांग्रेसियों को भी हिला दिया । 30 दिसम्बर 1933 को नागपुर में महार-माँग समाज की सभा में एक महार विधवा महिला ने सरकार द्वारा किये गये भेदभावपूर्ण और अन्यायरूपी तथा अलोकतान्त्रिक कदम का घोर विरोध किया । जिसमें सरकार ने कांग्रेस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था । यहां दलित स्त्रियों की सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता स्पष्ट रूप से दिखायी देती है ।

1930 के बाद दलित स्त्रियों में जिस तरह की सामाजिक और राजनीतिक चेतना का विकास दिखायी देता है वह काबिले तारीफ है। दलित स्त्रियाँ समाज के विभिन्न मुद्दों और सवालों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाती हैं। सन् 1933 में नागपुर में आयोजित 'राष्ट्रीय सामाजिक परिषद् में 'अस्पृश्यता और अस्पृश्यता निवारण की गोष्ठी में दलित महिला वेणुबाई भटकर जातिगत भेदभाव और सामाजिक वैमनष्यता पर अपनी राय रखती हैं- 'मैं वैसे तो अनपढ़ हूं लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि जब तक अस्पृश्यों को स्पृश्य नहीं किया जाता तब तक स्वराज मिलना कठिन है। ....मैं जात में रहकर जात को सुधारना चाहूंगी उसके लिए जी जान से प्रयत्न करूंगी।' सामाजिक असमानता का दंश किस तरीके से दलित स्त्रियों को सहना पड़ता है वेणुबाई के वक्तव्य से यह बात निकलकर सामने आती है। दलित स्त्रियों में स्वाभिमान और गरिमा का विकास तभी होगा जब वह शिक्षित होंगी। जाति में रहकर जाति सुधारने की बात दलित स्त्री चेतना को प्रतिलक्षित करता है। शिक्षा के अभाव में दलित स्त्रियाँ पहले भी पिछड़ी थीं और ग्रामीण इलाकों में आज भी पिछड़ी हैं। प्रसिद्ध कथा लेखिका मैत्रेयी पुष्पा भी मानती हैं कि "दलित स्त्रियों की स्थिति इतनी बुरी है कि उन्हें सवर्ण स्त्रियों की तरह शिक्षा की मोहलत भी नहीं मिल पाती है।"[93]

दलितों में शिक्षा का प्रचार-प्रसार फुले दम्पत्ति ने किया था। डॉ.अम्बेडकर ने ज्योतिबा फुले से आदर्श और प्रेरणा ग्रहण कर दलित स्त्रियों के उत्थान में अद्भुत कार्य किया। स्त्री शिक्षा पर विशेष बल देते हुए वे कहते हैं कि 'नारी राष्ट्र की निर्मात्री है, हर नागरिक उसकी गोद में पलकर बढ़ता है, नारी को जागृत किए बिना राष्ट्र का विकास संभव नहीं है।' उन्होंने नारी को शिक्षित करने और राष्ट्रीय उन्नति में भागीदार बनाने का आवाह्न किया। उनका कहना था कि 'शिक्षा शेरनी का दूध है, शिक्षा के बिना जीवन व्यर्थ है। कुछ सोचने, समझने एवं चिन्तन करने की ताकत शिक्षा से ही संभव है।' शिक्षा ही एकमात्र शस्त्र था जिसने दलित स्त्रियों में चेतना जगाने का काम किया। 'सामाजिक क्रांति एवं परिवर्तन में नारी वर्ग को पुरुष वर्ग की सहयोगी बनाना होगा। समाज के आधे अंग को जागृत किए बिना, समाजिक क्रांति संभव नहीं है।' इस तरह बाबासाहेब देश और समाज के उत्थान में नारी और पुरुषों को समान रूप से सम्मिलित होने के लिए आवाह्न करते हैं। क्योंकि यह सही भी है कि इस सृष्टि का निर्माण स्त्री-पुरुष के

[93] हंस, लेख: मैत्रेयी पुष्पा मान न मान, मैं तेरा मेहमान, जून-2003, पेज नं.60

सहयोग से बना है और सामाजिक परिवर्तन में जब तक दोनों की भूमिका समान नहीं होगी तब तक किसी भी प्रगति और विकास की कल्पना झूठी सिद्ध होगी।

1935 में अस्पृश्य परिषद् द्वारा कमलाबाई की अध्यक्षता में दलित स्त्रियों की शिक्षा को और अधिक प्रोत्साहित करने के लिए दलित बच्चियों के पठन-पाठन तथा शिक्षा पर मुख्य रूप से ध्यान देने के लिए विशेष प्रस्ताव पारित किया गया। डॉ.अम्बेडकर द्वारा धर्मपरिवर्तन भारतीय इतिहास में प्रमुख रहा और उनसे प्रेरणा लेकर बहुत से दलितों ने धर्मान्तरण किया। 16 जून 1936 में बम्बई के दामोदर हाल में बाबा साहेब अम्बेडकर ने धर्म परिवर्तन पर अपना व्याख्यान दिया। बाबासाहेब के इस विचार से बहुत से लोग प्रभावित हुए। इस सभा में जोगिनी और वेश्याएं अधिक थीं क्योंकि सामाजिक भेदभाव से सबसे अधिक वे ही उत्पीड़ित थीं। बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित होकर उन्होंने हिन्दू धर्म को छोड़कर स्त्री मुक्ति आंदोलन में जुड़ने का निर्णय लिया। बाबासाहेब का कहना था कि 'अपनी गृहिणी अच्छे परिवार से आएं ऐसी आशा सभी रखते हैं किन्तु जब तक उनके लिए स्वस्थ परिवारों का निर्माण नहीं होगा तब तक अच्छी गृहिणी का निर्माण नहीं होगा। नारी की उन्नति के साथ ही परिवार की उन्नति का प्रश्न जुड़ा हुआ है। अतः नारी के महत्व को स्वीकारा जाना चाहिए।' बाबासाहेब अम्बेडकर ने नारियों में अत्मसम्मान की भावना जगाते हुए दलित महिलाओं का आवाह्न किया, 'आप साहसी रहो, स्वाभिमान से रहो।' स्वाभिमान के बिना जीना पशुओं के तुल्य जीना है। आप भी इंसान की तरह जिओ, स्वाभिमान के साथ सिर ऊंचा करके जिओ।' समाज के प्रत्येक तबके और वर्ग के प्रति बाबासाहेब चिन्तित थे और उसमें सुधार के लिए लालायित थे। दलित स्त्री आंदोलन ने बाबासाहेब के मार्ग पर चलकर समाज के विभिन्न मुद्दों पर काम किया।

1936 में बाबासाहेब अम्बेडकर ने बम्बई के पुरन्दर हाल में 'महार परिषद्' आयोजित की। इसमें भागीरथी ताई और कुमारी रमाबाई के वक्तव्य से प्रभावित दलित महिलाओं का विकसित नजरिया, प्रगतिशीलता, तथा निर्भीकता स्पष्ट रूप से प्रतिलक्षित होता है। दलित स्त्रियाँ सामाजिक कुरीतियों के साथ-साथ परिवार में व्याप्त पितृसत्तात्मक जनित कुरीतियों के ख़िलाफ़ लड़ती हुई दोहरे मोर्चे पर जंग लड़ रही थीं। जब बाबासाहेब ने बौद्ध धर्म में जाने की बात रखी तब वहां उपस्थित दलित स्त्रियों ने उनकी इस घोषणा का स्वागत करते हुए कहा कि वह उसी धर्म का चयन करें जिसमें स्त्री मुक्ति का संदेश निहित हो। सभा में उपस्थित भागीरथी

ताई ने अपने भाषण में कहा, "जो धर्म हमें बंधु वर्ग की तरह समाज में स्वतन्त्रता से आने-जाने देगा वही धर्म हमें स्वीकार होगा । धर्मान्तरण में हम डॉ.अम्बेडकर के साथ जरूर हैं पर नए धर्म में परदा या गोशा रखने की प्रथा हमें मंजूर नहीं है । जो धर्म हमें हमारे भाइयों के साथ स्वतन्त्रता से रहने देगा, वही धर्म हमें मंजूर होगा । जिस धर्म में सत्य, प्रेम, समता और स्वातन्त्र्य है, जिसमें शौर्य है पर क्रूरता नहीं हो, जिसमें शिष्टता व योग्यता होगी, जो धर्म रूढ़ि-परंपराओं में बंधा न हो, ऐसे धर्म में बाबा साहब हमें ले जाएं ।"[94] सभा में उपस्थित अधिकतर महिलाओं ने बाबासाहेब अम्बेडकर का समर्थन करते हुए बौद्धधर्म में जाने की घोषणा की । सदियों से दबायी गयी और उत्पीड़ित दलित महिलाओं को बौद्ध धर्म में जाने से ही मुक्ति मिल सकती थी क्योंकि बौद्ध धर्म समता, करूणा, मानवता, स्वतन्त्रता और बन्धुता पर आधारित था । दलित स्त्रियों की यह स्त्री चेतना ही थी कि उन्होंने हिन्दू धर्म को त्यागकर उस धर्म में जाने का निर्णय किया जहां स्त्री-पुरुष, जाति-पांति, वर्ग-वर्ण का भेद-भाव न हो । दलित स्त्रियों में धर्म के संबंध में उनके क्रांतिकारी विचार तथा स्त्री चेतना का स्वरूप देखा जा सकता है । इस प्रकार बाबासाहेब के धर्मान्तरण से प्रभावित होकर दलित स्त्रियों ने धार्मिक, सामाजिक और लैंगिक असमानता के ख़िलाफ़ विद्रोह किया ।

जून 1936 को मध्यप्रान्त के बराई क्षेत्र में दलित छात्राओं का सम्मेलन हुआ । इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य विभिन्न दलित छात्राओं को एकत्रित कर उनके आपसी विचारों, समस्याओं और समाधानों का आदान-प्रदान किया जा सके, था । इसी के आस-पास दलित युवक-युवतियों को सामाजिक समस्याओं से अवगत कराने तथा उनमें जागृति उत्पन्न करने के लिए दलित महिला संगठनों द्वारा अलग से विद्यार्थी संगठन की स्थापना की गई ।

1936 में ही मध्यप्रान्त में अनुसूयाबाई रंगाल की अध्यक्षता में 'दलित महिला परिषद' का आयोजन किया गया । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्षेत्र में पिछड़ी दलित महिलाओं ने अपने अधिकारों की माँग की तथा बाद में इस सभा में कुछ प्रस्ताव भी पारित किए गये जिनमें प्रांतीय सरकार में दलित लड़कियों के लिए सरकारी विद्यालय द्वारा मुफ्त शिक्षा, छात्रावास तथा छात्रवृत्ति प्रदान की जाए, कपड़ों की फैक्ट्रियों में महिलाओं के वेतन में कटौती न की जाए,

[94] उर्मिला पंवार, मीनाक्षी मून, हमने भी इतिहास गढ़ा है, पेज नं.80

लड़कियों को शारीरिक शिक्षण के साथ जब तक वह शिक्षा ग्रहण कर रही हों उनकी शादी न की जाए, राज्य सरकार की तरफ से एक ऑनरेरी मजिस्ट्रेट दलित महिलाओं के लिए चयनित हो आदि । इस प्रकार दलित समाज की स्त्रियों में जागरूकता फैलाने का अटूट साहस दिखायी देता है । यही अटूट साहस और हौंसला दलित स्त्री आंदोलन को सशक्त बनाने का काम कर रहा था ।

23 जून 1938 में मुम्बई में डिलाईट रोड पर दलित महिलाओं के द्वारा दलित आंदोलन में सक्रिय भागीदारी को लेकर विशाल सभा आयोजित हुयी जिसमें दलित महिला कार्यकर्ताओं के सामाजिक कार्य की समस्याओं को लेकर बात की गयी । इन समस्याओं को दूर करने के लिए एक ऐसा प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें वृद्ध महिलाओं और पुरुषों को जागृत किया गया जो अपने परिवार की महिलाओं को लोक-लाज तथा सामाजिक डर से घर से बाहर नहीं जाने देते थे । दलित महिलाओं को दलित समाज में अज्ञानता की वजह से पनपी गरीबी, अशिक्षा, कुपोषण और सफाई जैसे मुद्दों पर प्रशिक्षण दिया गया । उन्हें आत्म-सम्मान से जीवन जीने की शिक्षा भी दी गयी । इस प्रकार दलित स्त्री चेतना की एक सार्थक पहल इस सभा के माध्यम से सामने निकलकर आती है जिसने अपने आंदोलन में शिक्षा, सम्मान और स्वाभिमान से जीने का अधिकार तथा दलित महिलाओं का स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता आदि विभिन्न मुद्दों को शामिल किया ।

दिसम्बर 1937 में 'अखिल भारतीय महिला परिषद्' के अधिवेशन में सवर्ण हिन्दू महिलाओं द्वारा दलित महिलाओं के साथ खान-पान में भेदभाव और ऊंच-नीच का बर्ताव किया गया जिसमें दलित समाज की प्रसिद्ध लेखिका व दलित महिला नेता जाईबाई चौधरी को इसका शिकार होना पड़ा तथा उन्हें अपमानित किया गया । इस भेदभाव से रूष्ट होकर दलित महिलाओं ने 1 जनवरी 1938 को नागपुर में एक बड़ी सभा का आयोजन किया । इसमें हजारों की संख्या में दलित महिलाओं ने भाग लिया । दलित स्त्री अंजनीबाई और सखूबाई ने हिन्दू महिलाओं की कड़े शब्दों में आलोचना की । सवर्ण महिलाओं द्वारा इस प्रकार के भेदभाव और छुआछूत के रवैये का कड़ा विरोध करते हुये दलित महिलाओं को स्वाभिमान पूर्वक अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए जीने की शिक्षा दी गयी । इसी परिषद् में रमाबाई अम्बेडकर द्वारा महिला संघ स्थापित किया गया ।

जुलाई 1942 में नागपुर में बाबासाहेब द्वारा 'अखिल भारतीय शेड्युल्ड कास्ट्स फेडरेशन' की स्थापना हुई थी। उसी समय 29 जुलाई 1942 को डॉ.भीमराव अम्बेडकर की उपस्थिति में आयोजित 'अखिल भारतीय दलित महिला सम्मेलन' में पूरे भारत वर्ष से लगभग 25 हजार महिलाओं ने भाग लिया। इस सम्मेलन की अध्यक्षता सुलोचना डोगरे ने की तथा सभा की मुख्य सचिव इंदिरा पाटिल थीं। 1942 में 'अखिल भारतीय दलित महिला फेडरेशन' द्वारा दलित महिलाओं की सामाजिक और राजनीतिक स्थिति पर एक अधिवेशन रखा गया। इस अधिवेशन की मुख्य सचिव इंदिरा पाटिल ने दलित महिलाओं की समाज में खराब स्थिति पर अपनी बात रखते हुए कहा कि- "अपने पुरुष साथियों द्वारा अधिकारों की लड़ाई में हमें पीछे नहीं रहना है। हमें उनके साथ रहना है। सामान्यतः घर के कामकाज महिलाओं के हिस्से में आते हैं, पर हमें उससे चिपटे नहीं रहना चाहिए। पुरुषों जैसी ही स्वतन्त्रता पाने के लिए हम बेचैन हैं और वह हमारा अधिकार है। इस अधिकार को हम आंदोलन और अपने प्रयास से ही पा सकते हैं। साथ ही हम अपनी अनपढ़, अनाड़ी बहनों की मदद से अस्पृश्यों के हक के लिए हमारे नेता बाबासाहेब अम्बेडकर के नेतृत्व में हम अपने प्राणों का बलिदान देकर लड़ाई के लिए तैयार रहेंगी। हमें अपना पिछड़ापन नष्ट करने के लिए संगठित होकर कार्य करने हैं।"[95] इस परिषद की सफलता को देखकर बाबासाहेब अम्बेडकर बहुत प्रसन्न हुए।

हिन्दू धर्म दलितों की उन्नति और विकास के लिए कितना बड़ा अवरोधक था इसको बाबासाहेब ने बहुत अच्छी तरह समझ लिया था। डॉ.भीमराव अम्बेडकर का मानना था कि – 'हिन्दू समाज उस बहुमंजिला इमारत की तरह है जिसमें प्रवेश के दरवाजे बन्द है तथा जो व्यक्ति जिस मंजिल पर जन्म लेता है उसे उसी में मरना होता है।' बाबासाहेब के आंदोलन से प्रभावित हुई दलित महिलाओं ने भी हिन्दू धर्म में स्त्रियों के शोषण को भांप लिया था। दलित महिलाओं ने बाबासाहेब के आदर्शों पर चलकर हिन्दू धर्म की जटिलताओं से अपने आपको मुक्त किया। बाबासाहेब द्वारा चलाए गये महिला आंदोलन में दलित महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर भागीदारी जतायी। दलित स्त्रियों के बढ़ते कदम व उनके स्वतन्त्रतापूर्वक विचार-विमर्श से डॉ.अम्बेडकर अत्यन्त प्रभावित हुए। वे दलित स्त्रियों में दलित स्त्री चेतना को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उनकी प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं- "महिलाओं में जागृति आई तो वह अस्पृश्य

[95] वही, पेज नं.80

समाज के लिए बड़ी क्रांति हो सकती है । महिलाओं की संगठित संस्था हो इस पर मेरा अटूट विश्वास है । सामाजिक कुरीतियां नष्ट करने में महिलाओं का बड़ा योगदान हो सकता है । मैं अपने अनुभव से यह बता रहा हूं कि जब मैंने दलित समाज का काम अपने हाथों में लिया था तभी मैंने यह निश्चय किया था कि पुरुषों के साथ महिलाओं को भी आगे ले जाना चाहिए । इसलिए ही अपनी परिषद् के साथ-साथ ही महिला परिषद् भी ली जाती है । महिला समाज ने कितनी मात्रा में प्रगति की है, इसे मैं दलित समाज की प्रगति में गिनती करता हूं । इस परिषद् में महिलाओं की बड़ी भारी संख्या में शामिल होने की स्थिति देखकर मुझे तसल्ली हुई है व खुशी भी हो रही है कि हमने प्रगति की है ।"[96] डॉ.अम्बेडकर ने महिलाओं में आत्मसम्मान की प्रेरणा को जगाते हुए कहा कि घर में पति की दासी बनकर नहीं पति की दोस्त बनकर बराबर के रिश्ते से जिएं ।

6 जनवरी 1945 को मुम्बई में तीसरा 'भारतीय अस्पृश्य महिला सम्मेलन' हुआ । इस आंदोलन में बहुत सी दलित महिलाओं ने निर्णय लिया कि वे हिन्दू धर्म का त्याग इसलिए करेंगी क्योंकि इस धर्म के तहत उनका शोषण और उत्पीड़न होता है । घूंघट, लाज, शर्म ये सारे विधान सिर्फ स्त्रियों के ऊपर लादे गये हैं जो उन्हें अंधविश्वासों और दासता में जकड़े रखता है, जिसकी वजह से वे समाज में सिर उठाकर स्वाभिमान के साथ जी नहीं सकती । दलित महिलाओं ने इन प्रतिमानों को तोड़कर आत्मविश्वास के साथ जीवन जीने का निर्णय लिया । इन तीनों सम्मेलनों की विशेषता यह थी कि इनमें डॉ.अम्बेडकर मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित रहे । महिलाएं उनके सुझावों से लाभान्वित होती रहीं ।

1946 में अनेक दलित महिलाओं ने सत्याग्रह में भाग लिया । इसी वर्ष नागपुर में कई आंदोलनकारी महिलाओं को 200 रूपया प्रति महिला दण्ड देने पड़े । इससे पहले उ.प्र. में बहुत सी महिलाओं ने असेम्बली पर सत्याग्रह किया था । इस सत्याग्रह में कानपुर, अलीगढ़, आगरा और नागपुर क्षेत्र की महिलाएं अधिक थीं । 'अगस्त 1946 के 'पूना सत्याग्रह' में दलित महिलाएं भारी तादाद में जेलों में गईं ।"[97] 1946 में शेड्यूल्डकास्ट फेडरेशन के जनरल सेक्रेटरी पी.एन.राज भोज की पत्नी रूक्मणीबाई और उनकी ज्येष्ठ पुत्री शान्ताबाई लक्ष्मण चौहान ने

[96] वही, पेज नं.78

[97] श्यौराज सिंह बेचैन : बाबासाहेब के आंदोलन की जान थीं, दलित वीरांगनाएं, दलित प्रक्रिया, मार्च-95 पेज नं.11

दलित सत्याग्रह में अपनी सक्रिय भागीदारी निभायी । पी.एन.राज भोज जो 'दलित बन्धु' के सम्पादक भी थे । अपने पत्र में दलित विषयक लेख प्रकाशित करने पर उन्हें 1948 में जेल जाना पड़ा । उनकी पत्नी 'रूक्मणि बाई' ने मासूम बच्चों के साथ विरोधियों के पत्थर खाये और अपने पत्रकार पति को घायल होने के बावजूद मंच से भागने को रोकते हुए चिल्लाकर कहा था- 'मैं स्त्री हूं, नादान बच्चों का साथ मेरी कमजोरी है, पर मैं अपनी जगह से हिल तक नहीं रही ।' इसी के साथ महाराष्ट्र की महिला परिषद् जी.आई.पी. रेलवे परिषद् के मंडप में ही 'दलित महिला परिषद्' की सभा भी हुई थी, जिसमें रेणुबाई जादव, मनाबाई, मुक्ताबाई, सोनूबाई प्रमुख दलित नेता थीं । इन्होंने बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर के आंदोलन में बहुत ही बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया तथा त्याग पूर्ण संघर्ष भी किया । 1950 में मुम्बई इलाके में दलितों की ओर से छुआछूत विरोध विषयक सत्याग्रह हुआ था जिसके 1150 सत्याग्रहियों में 128 महिलाएं थीं । इस सत्याग्रह में करीब 50 युवतियां, स्कूली छात्राएं और पढ़ी-लिखी घरेलू महिलाएं थीं । इस प्रकार 1920 से 1950 तक का दौर डॉ.अम्बेडकर के सान्निध्य में शुरु हुआ दलित महिला आंदोलन का दौर है । जिसमें अनेक महिलाओं ने घर-बार की चिंता छोड़ कर सामाजिक परिवर्तन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी ।

बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर ने भारतीय संविधान (26 जनवरी, 1950) का निर्माण कर दलित स्त्रियों के हितों की रक्षा की और उनके लिए संवैधानिक अधिकार सुनिश्चित किए । 24 नवम्बर 1949 को संविधान सभा में वे अपने भाषण में कहते हैं 'संविधान सभा में मैं क्यों आया ? केवल दलितों के हितों की रक्षा के लिए, इससे अधिक कोई मेरी आकांक्षा नहीं थी ।' डॉ.भीमराव अम्बेडकर समाज में व्याप्त असमानता को अपने कटु जीवन के अनुभव से पहचान गये थे इसलिए वे कभी नहीं चाहते थे कि दलितों का किसी भी प्रकार का शोषण हो । भारत के संविधान का निर्माण इतना आसान काम नहीं था जिसके लिए बाबासाहेब अम्बेडकर को नियुक्त किया गया । अपनी दूरदर्शिता और भारत में असमान सामाजिक व्यवस्था की वजह से उन्होंने दलितों, स्त्रियों और पिछड़े वर्गों के हितों को ध्यान में रखा । भारतीय संविधान में डॉ.अम्बेडकर ने नारी वर्ग को पुरुषों के समान सभी अधिकार आरक्षित किये । वे स्वतन्त्र भारत के ऐसे प्रथम नेता थे जिन्होंने दलित स्त्री को सामाजिक-आर्थिक सम्पत्ति में अधिकार और

राजनीतिक अधिकार सुनिश्चित किया । आभालता चौधरी के शब्दों में "भारत के इतिहास के लिए वह ऐतिहासिक दिन था जब विधि के प्रकांड विद्वान और महान विधिवेत्ता बाबा साहेब को संविधान प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनाया गया । भारत के महान सपूत, भारतीय संविधान के मुख्य शिल्पी बाबा साहेब सामाजिक न्याय के प्रबल पक्षधर थे, उन्होंने समता, स्वतन्त्रता, न्याय एवं बंधुता के आधार पर समाज का निर्माण कर आधुनिक भारत के सपने को साकार करने के लिए देश में संसदीय लोकतन्त्र को अपनाया और सभी वर्गों के स्त्री-पुरुष को समान रूप से मत देने का अधिकार सुनिश्चित किया, जो नारियों की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए महत्वपूर्ण योगदान था ।"[98] किन्तु यह घोर विडंबना ही कही जायेगी कि भारतीय संविधान में जिन लोकतान्त्रिक मूल्यों की बात की गयी उसका एक प्रतिशत भी सही रूप में संचालन नहीं हो पाया है । आज भी देश के संचालन में मनुस्मृति की अलोकतान्त्रिक व्यवस्थाएं हावी हैं । यही कारण है कि राष्ट्र में भीषण असमानता और टकराव उसी रूप में मौजूद है ।

बाबासाहेब अम्बेडकर भारतीय संविधान में जिन चीजों को शामिल नहीं कर पाये थे, उसको पूरा करने के लिए उन्होंने एक बिल 1951 में प्रस्तावित किया जिसे 'हिन्दू कोड' बिल के नाम से जाना जाता है । यह बिल न सिर्फ दलित स्त्रियों के लिए था बल्कि प्रत्येक स्त्री समाज के लिए था । बाबासाहेब डॉ.भीमराव अम्बेडकर द्वारा हिन्दू कोड बिल(1951-1954) का निर्माण स्त्री के मौलिक अधिकार की पूर्ति के लिए था । हिन्दू कोड बिल भारतीय स्त्री-मुक्ति आयाम में एक क्रांतिकारी कदम था । डॉ.अम्बेडकर का कहना था कि "किसी भी सभ्य जाति-सम्प्रदाय के अथवा समाज के लिए यह लज्जा और विस्मय की बात है कि उसका कोई भी पर्सनल लॉ न हो । हिन्दू प्रायः घमण्ड से यह कहते नहीं थकते कि हमारी संस्कृति बहुत प्राचीन और हर प्रकार से पूर्ण है । किन्तु उन्हें यह गर्व का अनुभव करते हुए कभी महसूस नहीं हुआ कि वह एक बगीचे या वाटिका की भांति नहीं है, बल्कि खुदरा (स्वयं उगे खत-पतवार) उगी जंगली जड़ी-बूटी और झाड़ियों की तरह है । हिन्दू समाज एक बीहड़ जंगल की तरह है । इसे किसी भी माली ने कांट-छांटकर उद्यान की भांति नहीं बनाया है ।"[99]

'स्त्रियाँ परिवार की धुरी होती हैं' यह मानने वाले डॉ.अम्बेडकर हिन्दू समाज में महिलाओं के शोषण को खुली आंखों से देख रहे थे । समाज में लैंगिक शोषण को सहने वाली

[98] सं.तेज सिंह (2011)अम्बेडकरवादी स्त्री चिन्तन, लेख; नारी स्वतंत्रता और अम्बेडकर, स्वराज प्रकाशन, पेज नं.63

[99] सोहनलाल शास्त्री विद्यावाचस्पति (2011) हिन्दू कोड बिल और डॉ.अम्बेडकर, सम्यक प्रकाशन, सप्तम संस्करण, पेज नं.26

महिलाएं हिन्दूवादी मनुओं के हाथों इस कदर पिस चुकी थीं कि मानो घुन। जिस तरह चक्की में गेहूं के साथ घुन भी पिस जाता है और उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है उसी तरीके से मनुवादी समाज में उनकी स्थिति घुन के सदृश हो गयी थी। बाबासाहेब का 'हिन्दू कोड बिल' महिलाओं की प्रगति और परम्परावादी शोषण से निजात दिलाने की दिशा में एक क्रांतिकारी कदम था। बाबासाहेब अम्बेडकर स्त्रियों के जीवन में मुक्तिकामी परिवर्तन चाहते थे। उनका मानना था कि- 'स्त्रियों और शूद्रों पर शिक्षा प्राप्ति के दरवाजे ईर्ष्यालु पुरुष पण्डितों ने बन्द कर दिए। मेरे विचार में नारी अधिक सहनशीलता, अधिक त्यागवृत्ति, अधिक स्नेह और बौद्धिक रूप से अधिक कौशलपूर्ण है, किन्तु उसे झूठे आदर्शों के जाल में फंसाकर आज तक उसे मूर्ख और पंगु सा बना दिया है। स्वाधीन भारत में स्त्री को भी पुरुषों की भांति समान अधिकार चाहिए। हिन्दू कोड उस दिशा की ओर एक कदम है।' इसके आगे वह कहते हैं- "भारतीय नारियां इस कोड के पारित हो जाने पर अपने वैध तथा चिरवंचित अधिकार प्राप्त कर सकेंगी। सारे सभ्य संसार के समाजों में स्त्रियों की ऐसी दुर्गति नहीं, जैसी भारतीय नारी की है। जंगली जातियों में भी स्त्रियों को भारतीय नारियों से अधिक अधिकार प्राप्त हैं। भारत की स्वाधीनता प्राप्ति में नारियों ने भी पुरुषों की भांति संघर्ष किया है।"[100]

डॉ.भीमराव अम्बेडकर द्वारा हिन्दू कोड बिल संसद में पारित करने से पहले हिन्दू कोड में स्त्रियों को संपत्ति, तलाक तथा परिवार से अलग रहने का भी अधिकार नहीं था। इन सभी असमानताओं को दूर करने और हिन्दू नारी को उसकी अस्मिता वापस दिलाने के लिए बाबासाहेब ने 'हिन्दू कोड बिल' लाने का प्रयास किया। यद्यपि हिन्दू कोड बिल का उद्देश्य हिन्दुओं को एक साझा वैयक्तिक कानून प्रदान करना था, परन्तु विवाह, तलाक, गोद लेना तथा पिता की सम्पत्ति में पुत्र के साथ पुत्री की भी भागीदारी कुछ ऐसे महत्वपूर्ण पक्ष थे, जिन्होंने सामाजिक दृष्टि से भारतीय महिलाओं को सुदृढ़ ही नहीं किया; बल्कि भविष्य में नारी उत्थान और मुक्ति के लिए सही पृष्ठभूमि भी तैयार की।

बाबासाहेब ने स्त्रियों पर सदियों से लगाये गये आरोपों को खारिज करते हुए स्त्री के महत्व को पहचाना। हालांकि हिन्दू कोड बिल को पारित करने के विरोध में बहुत से मनुवादियों और तत्कालीन राजनीतिज्ञों जिसमें तत्कालीन राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, सरदार

[100] स्त्रीकाल, विशेषांक-दलित स्त्रीवाद, पेज नं.20

पटेल तथा अनन्त शयनम अय्यंगर का हाथ था। बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर द्वारा स्वयं संशोधित हिन्दू कोड बिल के प्रारूप द्वारा हिन्दुओं को एक सांझा वैयक्तिक कानून (Personal Law) का निर्माण करके कमजोर वर्ग का हित चिन्तन करना चाहते थे। एक प्रखर विद्धान होने के कारण उन्होंने इस बिल के पारित हेतु अपनी मान प्रतिष्ठा को भी दांव पर लगा दिया और अन्ततः बाबासाहेब को निराश होकर मंत्री मंडल से त्यागपत्र देना पड़ा।

सदियों से अपने अधिकारों से वंचित स्त्री समाज के लिए दलित नेता डॉ.अम्बेडकर द्वारा हिन्दू कोड बिल का लाना एक क्रान्तिकारी कदम था किन्तु हिन्दू ब्राह्मणवादियों को यह कतई मंजूर नहीं था कि स्त्रियों को वे सभी अधिकार मिलें जिसका लाभ वे जन्म से ही उठा रहे हैं। डॉ. अम्बेडकर के हिन्दू कोड बिल के सराहनीय प्रयास के विषय में अनिता भारती लिखती हैं कि "डॉ अम्बेडकर ने ऐसा पर्सनल लॉ बनाकर हिन्दू नारी की भारतीय अछूतों और पिछड़े वर्गों की भांति ही अनुपम सेवा की है और सचमुच एक महान राष्ट्र पुरुष की भूमिका निभाई है।'[101] बाबासाहेब अम्बेडकर स्त्रियों की समस्या हिन्दू कोड बिल में लाकर एक तरह से न सिर्फ स्त्री मुक्ति का अभियान चलाना चाहते थे बल्कि सदियों से चली आ रही पितृसत्ता को ध्वस्त करना चाहते थे। निष्कर्ष रूप से बाबासाहेब अम्बेडकर संपूर्ण नारी जाति के प्रति समर्पित थे। उन्होंने दलित महिला आंदोलन की स्थापना कर दलित स्त्री विमर्श की नींव मजबूत की।

डॉ.अम्बेडकर : दलित स्त्री आंदोलन की प्रेरणा

दलित महिला आंदोलन बाबासाहेब के आंदोलन से जुड़कर विभिन्न मुद्दों को शामिल करता हुआ अपना फलक विस्तृत करता है। छोटे-छोटे किन्तु मौलिक अधिकारों की लड़ाई जैसे जीवन जीने के लिए पानी की लड़ाई, सामाजिक समानता के लिए, शिक्षा, समान वेतन, स्वस्थ वातावरण, स्वास्थ्य, अस्पृश्यता के ख़िलाफ़ संघर्ष, लैंगिक और जातिगत भेदभाव तथा वर्गीय शोषण के विरूद्ध दलित स्त्रियाँ एक मुहिम छेड़ती हैं ताकि अपने समस्त मूलभूत अधिकारों को प्राप्त कर अपने अस्तित्व के साथ जी सकें। अनिता भारती एक कविता के हवाले से दलित स्त्रियों के संघर्ष को रेखांकित करती हैं-

[101] वही, पेज नं.20-21

"आंसुओं के लिए वक्त नहीं

गमी के लिए वक्त नहीं

क्योंकि जेहाद जारी है

जारी रहने के लिए

फेड्डी रेड्डी।"[102]

1956 में बाबासाहेब के परिनिर्वाण के बाद दलित स्त्री आंदोलन की गति धीमी अवश्य पड़ जाती है किन्तु वह रूकती नहीं है। जिन दलित महिलाओं ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया था वे महिलाएं संपूर्ण अम्बेडकर दर्शन को ही आत्मसात कर प्रगति के मार्ग पर चलीं। बाबासाहेब द्वारा चलाया गया आंदोलन महाराष्ट्र में सबसे ज़्यादा फला-फूला। हालांकि सम्पूर्ण भारत में फैले दलित बाबासाहेब के आंदोलन से प्रभावित अवश्य हुए किन्तु उनमें उतनी जागरूकता नहीं आयी जितनी महाराष्ट्र के लोगों में। डॉ.अम्बेडकर के बाद महाराष्ट्र में उनके आदर्शों और उनके सिद्धान्तों को प्रसारित करने के लिए समय-समय पर विभिन्न आंदोलन चलाए गये। बाबासाहेब द्वारा गठित "समता सैनिक दल" में भी दलित महिलाएं अनुशासन के साथ कार्य करती रहीं। इस क्षेत्र में अनेक महिलाएं आईं। प्रसिद्ध दलित लेखिका कौसल्या बैसंत्री ने 'अखिल भारतीय शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन' के विद्यार्थियों को संगठित कर महासचिव के रूप में वर्षों तक कार्य किया साथ ही 'भारतीय महिला जागृति परिषद्' संस्था का भी निर्माण किया। आज़ादी के पहले और बाद में भी दक्षिण भारतीय महिला जे.राजेश्वराबाई ने भी दलितोद्धार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया था। वे रिपब्लिकन पार्टी की ओर से विधायिका भी रहीं। '1964 में भूमिहीनों को जमीन दिलाने के सवाल को लेकर रिपब्लिकन पार्टी की ओर से देशभर में जब सत्याग्रह किया गया था, तब बड़ी संख्या में दलित महिलाओं ने भी उसमें अपनी हिस्सेदारी निभाई थी। वे स्वयं दूध-पीते बच्चों को साथ लेकर जेल गई थीं। आंदोलनकारी महिलाओं में कुछ गर्भवती भी थीं, जिनकी प्रसूति जेल में हुई। इन महिलाओं के सामने जेल अधिकारियों की ओर से अनेक बार ऐसे प्रस्ताव आये कि वे अगर चाहें तो उन्हें छोड़ा जा सकता है, लेकिन हर एक महिला का ऐसे अवसर पर एक ही उत्तर होता था कि जब तक हमारी सभी

[102] समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.287

माँगे नहीं मान ली जातीं, हम जेल से बाहर नहीं जाएंगी ।'[103] इस प्रकार दलित महिला आंदोलन में दलित महिलाओं ने अपने अन्दर की चेतना की धार को कम नहीं होने दिया । वे मजबूत गति से आगे बढ़ती रहीं । उन्होंने अपने आंदोलन से जुड़कर देवदासी जैसी कुप्रथा जो समाज में मासूम दलित बच्चियों को सदियों से निशाना बनाता रहा है, के ख़िलाफ़ संघर्ष किया । दलित स्त्रियों की चेतना से समूचा वर्चस्ववादी भारतीय समाज हिल गया ।

1987 में बैंगलोर में क्रिश्चियन दलित लिबरेशन मूवमेंट ने दलित महिलाओं के साथ एक बैठक की । पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, केरल, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों से 135 महिला प्रतिनिधियों ने इसमें हिस्सा लिया जिसमें नग्न पूजा और नग्न नृत्य की एक प्रथा आदि अन्य ज्वलन्त सवालों पर बहस की गयी । दलित औरतों के प्रतिवाद के परिणामस्वरूप नग्न तत्वरी प्रथा पर सरकार ने पाबंदी लगा दी है । 1990 से 1994 तक अनेक सम्मेलनों व संगोष्ठियों के जरिये जाति, धर्म, कट्टरवाद और निर्णय लेने की प्रक्रिया पर व्यापक चर्चा हुई और इसमें एक सूत्र भी दिया गया-'दलित के ख़िलाफ़ अपराध मनुष्यता के ख़िलाफ़ अपराध है ।' इस सभा के जरिए दलित महिलाओं ने अपने लिए महासंघ को अनिवार्य मानने की पेशकश भी की ।

डॉ.अम्बेडकर भारत में दलित महिलाओं को जिस राह पर लेकर चले और बाद में उनकी मुक्ति के लिए जिस पथ का प्रदर्शन किया वास्तव में वह अतुलनीय था । भारत में बड़े से बड़े सुधारवादी और क्रान्तिकारी नेता दलित महिलाओं के उत्थान में किसी प्रकार का भी आमूलचूल परिवर्तन नहीं ला सके जैसा बाबासाहेब ने किया । हरिनारायण ठाकुर डॉ.अम्बेडकर के महत्व के विषय में लिखते हैं- "अम्बेडकर देश के उन महान क्रान्तिकारियों में से थे, जिन्होंने आधुनिक भारत में फुले के बाद पहली बार दलित-पिछड़ों में सामाजिक-सांस्कृतिक क्रान्ति का बिगुल फूंका । उनकी सर्वांग क्रान्ति देश के जीवन और चरित्र में आमूल-चूल परिवर्तन कर एक समरस समाज की स्थापना करना चाहती थी । उनके जीते-जी ऐसा तो नहीं हो सका, किन्तु

[103] दलित साहित्य का समाजशास्त्र, पेज नं.273

भारतीय इतिहास के इस उत्तर अम्बेडकरवादी युग में उनके सपनों को साकार करने के प्रयत्न जोरों से जारी है।"[104]

2.1.6 कांशीराम से लेकर मायावती और वर्तमान दलित स्त्री नेता (दलित राजनीति : दलित स्त्री-प्रश्न के सन्दर्भ में)

कांशीराम : दलित राजनीति तथा राजनैतिक पटल पर दलितों के नेता

बाबासाहेब अम्बेडकर के बाद अगर दलितों के नेता के रूप में कोई दूसरा व्यक्तित्व दिखायी देता है तो वह है- कांशीराम। कांशीराम दलितों के मसीहा के रूप में जाने जाते थे। वे बहुजन समाज पार्टी के संस्थापक, अध्यक्ष और दलितों के सामाजिक-राजनीतिक अधिकार के लिए लगातार संघर्ष करने वाले जुझारू नेता थे "आधुनिक भारत के इतिहास में कांशीराम ही वह प्रथम महान व्यक्ति हैं, जिन्होंने दलित शक्ति को संगठित कर शासन और सत्ता के सिंहासन पर बिठाया। इस अद्‌भुत संगठनकर्ता ने पहले पढ़े-लिखे कार्यरत लोगों को संगठित कर 'बामसेफ' और डी.एस.फोर जैसे गैर-राजनीतिक संगठनों का गठन किया और फिर 'बसपा' जैसी राजनीतिक पार्टी का गठन कर देश में दलित शक्ति का नया इतिहास रचा। संगठन क्षमता के जादूगर कांशीराम ने ब्राह्मणवादी चेतना के सबसे बड़े क्षेत्र उत्तर-प्रदेश को ही अपना कार्यक्षेत्र चुना और सफलता पायी।"[105] कांशीराम ने अपने मिशन को सफल बनाने के लिए वैचारिक स्तर पर तैयारी आरम्भ की। ज्योतिबा फुले, पेरियार और डॉ.अम्बेडकर के साहित्य का उन्होंने गहरा अध्ययन किया तथा उसके अनुसार 'भारतीय समाज की जातिवादी संरचना' (ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था) तोड़कर बहुजन समाज की मुक्ति' को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। यह 'बहुजन समाज' और कोई नहीं बल्कि देश की दलित पिछड़ी और अल्पसंख्यक जनता थी जिसका ब्राह्मणवादी समाज व्यवस्था ने सदियों से शोषण किया है। कांशीराम ने

---

[104] वही, पेज नं.377

[105] दलित विमर्श की भूमिका, पेज नं.87-91

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए 1964 में नौकरी छोड़ दी और पूरी तरह सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया।

नौकरी छोड़ने के बाद 1964 में कांशीराम 'रिपब्लिकन पार्टी'[106] में अपनी सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। 'रिपब्लिकन पार्टी' का हश्र और कांग्रेस के साथ उसकी घालमेल से वे काफ़ी निराश थे तथा 'दलित पैंथर'[107] छह घटकों में बंट चुका था। इसके अलावा 'मॉस मूवमेंट' नाम से एक और संगठन बन चुका था। शीघ्र ही उससे उनका मोहभंग हो गया। दरअसल, कांशीराम की नज़र में आर.पी.आई., दलित पैंथर और अन्य दलित संगठन, दलित अस्मिता और चेतना को ठीक से परिभाषित नहीं कर पाए। साथ ही उन्होंने कांग्रेस के साथ उनकी घालमेल से चिढ़कर इस समय को 'चमचा युग' की संज्ञा दी। वे ज्योतिबा फुले के सत्यशोधक आंदोलन से निकली बहुजन थीसिस तथा डॉ.अम्बेडकर की 'ऐनीहिलेशन ऑफ कॉस्ट' को पढ़कर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि डॉ.अम्बेडकर का कहना ठीक है कि एक जाति के आधार पर बनाया गया संगठन नष्ट हो जाएगा। इसलिए वे न केवल मजदूरों के संघर्ष से परिचित थे बल्कि नवबौद्धों की समस्याओं को भी जानते थे। दलितों, पिछड़ों और सरकारी कर्मचारियों की पीड़ा का अहसास भी उन्हें था किन्तु इस समझ के पीछे एक दलित आंदोलन की तैयारी थी।

---

[106] डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने क्लास और कॉस्ट मॉडल का समन्वय कर एक नई राजनीतिक पार्टी 'भारतीय रिपब्लिकन पार्टी' की स्थापना का विचार किया था। यह दुःखद था कि उनका सपना पूरा नहीं हो पाया और उनकी मृत्यु हो गई। अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होंने भारतीय जनता के नाम एक खुला पत्र लिखा जिसमें उन्होंने रिपब्लिकन पार्टी की संकल्पना, समानता, बंधुत्व और स्वतंत्रता के मूल्यों को बुलंद करने वाले संगठन के रूप में की। अपनी मृत्यु से पहले डॉ.अम्बेडकर ने एक बड़ी पार्टी को स्थापित करने की इच्छा जाहिर की जिसे 'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया' के नाम से जाना जाता है। 'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया' का पहला सत्र अक्टूबर 1957 नागपुर में हुआ था; दूसरा औरंगाबाद में 1959 में; तीसरा अलीगढ़ में 1961 में, चौथा अहमदाबाद में 1963 में, पांचवां दिल्ली में 1966 में, छठा नागपुर में 1969 में, तथा सातवां पुणे में 1975 में हुआ था। 'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया' भारतीय संविधान के न्याय, स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारा जैसे सिद्धांतों को मानती थी। वह इस अभिप्राय को भी स्वीकार करती थी कि संविधान का उद्देश्य इन प्रयोजनों को संसदीय लोकतंत्र के माध्यम से स्थापित करना है।

[107] भारत की यथास्थित व्यवस्था के विरोध स्वरूप जिस आंदोलन का उदय हुआ वह 'दलित पैंथर आंदोलन' था। यह सामन्तवादी हिन्दू राजशाही का कट्टर विरोधी था जो यथास्थिति के स्थान पर क्रान्ति या समग्र क्रान्ति द्वारा सामाजिक न्याय स्थापित करना चाहता था जिसमें अम्बेडकर और मार्क्स विचारधारा की झलक थी। जिस समय 1971 में आर.पी.आई. में टूट-फूट चल रही थी उस समय युवाओं का एक नया संगठन 'दलित पैंथर' तेजी से राजनैतिक पटल पर उभर रहा था। राजा ढाले और नामदेव ढसाल इसके नेता थे। यह आंदोलन अमेरिका के 'ब्लैक पैंथर' आंदोलन से प्रभावित था। इस संगठन का अमेरिका के 'ब्लैक पैंथर' आंदोलन से केवल नाम ही नहीं लिया गया बल्कि जिस प्रकार से ब्लैक पैन्थर ने ऑफिस के पद धारण किए थे वैसे ही इस संगठन ने भी धारण किये। ये लोग अपने को पैंथर कहते थे। क्योंकि उनका मानना था कि अपने अधिकारों के लिए पैंथर की भांति लड़ा जाए तथा अब वे अत्याचारियों की शक्ति तथा ताकत से नहीं दबेंगे। राजा ढाले के लेख 'काला स्वतंत्रता दिन' जो 15 अगस्त 1972 को साधना के विशेष अंक में प्रकाशित हुआ था, ने अत्यधिक जागरूकता पैदा की तथा पूरे महाराष्ट्र में दलित पैन्थर को सार्वजनिक कर दिया। दलित पैंथर आंदोलन ने दलित साहित्य आंदोलन की भी नींव रखी। बाबू राव बागुल, पी.ई.सोनकांबले आदि ने कविता, कथा साहित्य, आत्मकथा के माध्यम से दलित राजनीति को एक दिशा दी और इन पैंथरों ने जातिवाद व ब्राह्मणवाद के ख़िलाफ़ जुझारू संघर्ष का ऐलान किया।

अस्सी का दशक दलित राजनीति के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था । जिस समकालीन दलित विमर्श की चर्चा जोरों पर थी, उसका उदय इसी काल में हुआ । इसी अस्सी के दशक में दलित राजनीति को अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने का अवसर मिला । 1980 में कांशीराम 'बामसेफ' (बैकवर्ड एंड मायनारिटीज शेड्यूल्ड कास्ट इंप्लाई फेडरेशन) के माध्यम से भारतीय समाज में एक नया दलित विमर्श लेकर अवतरित हुए । 'रिपब्लिकन पार्टी' के पतन के बाद कांशीराम ने दलित वर्गों को लामबंद करना शुरू किया । इसके तहत उन्होंने सबसे पहले दलित, पिछड़े और अल्पसंख्यक समुदाय के कर्मचारियों का फेडरेशन (बामसेफ) कायम किया, जिसकी स्थापना तो यद्यपि 1978 में ही उन्होंने कर ली थी पर उसका व्यापक असर 1980 में देश में दिखाई दिया । इस नए दलित विमर्श ने दलित वर्गों को सबसे ज़्यादा प्रभावित किया ।

कांशीराम ने 6 दिसम्बर 1981 को डी.एस.फोर. संगठन बनाया अर्थात 'दलित शोषित समाज संघर्ष समिति' । इसके अन्तर्गत उन्होंने दलितों के छोटे-मोटे क्षेत्रीय स्तर के अधिकारों के लिए संघर्ष किया । यह आंदोलन का वह प्लेटफार्म था, जिसने आगे चलकर राजनैतिक संघर्ष का रूप धारण किया । यह एक क्रान्तिकारी संगठन सिद्ध हुआ । इसी का विवादास्पद और प्रतिक्रियावादी नारा था-"तिलक तराजू और तलवार, इनको मारो जूते चार ।" देश की दलित राजनीति की दिशा तय करने में इस संगठन ने अपनी महान भूमिका निभाई । इस संगठन के बैनर तले कांशीराम ने लाखों स्वयंसेवकों के साथ देश भर में यात्राएं कीं ।

1982 में कांशीराम ने विभिन्न राज्यों के विधानसभा चुनावों में राजनीतिक प्रयोग के लिए डी.एस.फोर. को एक सीमित कार्यवाही के लिए उतारा । इस चुनाव में उन्हें अप्रत्याशित जीत भी हासिल हुई किन्तु इस सीमित राजनीतिक कार्यवाही का उद्देश्य चुनाव जीतना नहीं था बल्कि दलित वर्गों के लोग अपने अधिकारों के प्रति कितने जागरूक हैं? यह देखना था । 1984 में कांशीराम ने डी.एस.फोर. की राजनीतिक कार्यवाही से उत्साहित होकर 'बहुजन समाज पार्टी' की स्थापना की । इसी वर्ष उन्होंने लोकसभा का भी चुनाव लड़ा । कांशीराम ने 1988 तक अस्पृश्यता, अन्याय, असुरक्षा और असमानता के विरूद्ध एक सघन सामाजिक कार्यक्रम चलाया । 1990 तक उन्होंने पूरे देश में सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक मुक्ति का आंदोलन चलाया । 14 अप्रैल 1984 में बहुजन समाज पार्टी की स्थापना के बाद की

लोकसभाओं और राज्य की अनेक विधानसभाओं में अपने उम्मीदवार खड़े किये और विजयी भी हुए। इसका प्रभाव बढ़ता ही रहा। मायावती जैसी जुझारू युवा महिला सहयोगी के कारण इस दल को और महत्व मिला। इस पार्टी ने उत्तर प्रदेश में सत्ता हासिल की, जिसमें मायावती उसकी मुख्यमन्त्री बनीं।

सामाजिक परिवर्तन और आर्थिक मुक्ति के ये दोनों कार्यक्रम भारतीय राजनीति में एक नए युग का सूत्रपात थे। ये कार्यक्रम क्रांतिकारी थे, क्योंकि इन्होंने दलित विमर्श को ही नहीं, दलित राजनीति को भी नया आयाम दिया था। बसपा के इन कार्यक्रमों ने दलित समाज में जबरदस्त ध्रुवीकरण पैदा किया और वे हजारों वर्षों से असमानता पर टिकी व्यवस्था को बदलने के कार्यक्रम पर बसपा से जुड़ते चले गये। 'बहुजन समाज पार्टी, की वैचारिक जड़ें भारतीय समाज की जन्म आधारित वर्ण-व्यवस्था (जाति-प्रथा) के अन्दर है। इसलिए कांशीराम की विचारधारा सदियों से भारतीय समाज में होने वाले जातीय भेदभाव, शोषण-उत्पीड़न और सामाजिक अत्याचार की नकारात्मक प्रतिक्रिया है।' स्वयं कांशीराम कहते हैं कि "मैं सामाजिक न्याय से ज़्यादा सामाजिक अन्याय को बसपा के विस्तार के लिए महत्वपूर्ण मानता हूं। जितना ही सामाजिक अन्याय बढ़ेगा, बहुजन समाज में ब्राह्मणवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ आक्रोश बढ़ेगा और सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया तेज होगी।"(दिल्ली में 'प्रेस से मिलिए' कार्यक्रम में) कंवल भारती कांशीराम के संबंध में लिखते हैं..."अस्सी का दशक दलित विमर्श के उदय और राजनीतिक पटल पर दलित नेता कांशीराम का उभरना, याद किया जायेगा। भारतीय राजनीति में सामाजिक परिवर्तन की दस्तक देने का श्रेय उन्हीं को जाता है। यह समय दलितों की राजनीतिक चेतना के लिए भी जाना जायेगा।"[108] दलित राजनीति में कांशीराम ने जाति के प्रश्न को जोर-शोर से उठाया, और उसे धारदार बनाया, जबकि पूर्व के नेताओं ने वर्ग की समस्या पर ही अपना सर्वाधिक ध्यान दिया था। यहां तक कि जगजीवन राम भी गरीबी के विरूद्ध आंदोलन चाहते थे, जाति के विरूद्ध नहीं। किन्तु यह कांशीराम ही थे, जिन्होंने कहा था- "गरीब ब्राह्मण भी चमार के हाथ का छुआ पानी नहीं पीते। दोनों ही गरीब हैं, लेकिन उनके बीच जाति की खाई है, जो गरीब-गरीब को एक नहीं होने देती। इसलिए मैं कभी वर्ग-संघर्ष का पक्षधर नहीं रहा। मैं तो जाति-संघर्ष चाहता हूं। कांशीराम के इन विचारों में डॉ.अम्बेडकर ही बोलते थे।"[109]

---

[108] दलित विमर्श की भूमिका, पेज नं.87-91

[109] कांशीराम के दो चेहरे, पेज नं.8

कांशीराम के लिए वर्ग-संघर्ष नहीं जाति-संघर्ष ज़्यादा विचारणीय था । उनके अनुसार भारत का सम्पूर्ण इतिहास ही जातीय संघर्ष का इतिहास है । भारत जाति प्रधान समाज है और इस मायने में विश्व का एकमात्र विरल व विचित्र समाज है । लेकिन सिर से पैर तक एक जाति समाज होने के बावजूद इसकी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इत्यादि समस्याओं के पीछे जाति ही प्रधान कारक है, यह तथ्य कांशीराम से पहले और डॉ. अम्बेडकर के बाद किसी राष्ट्र नायक ने प्रमुखता से नहीं उभारा । हर समस्या के पीछे जाति की भूमिका उजागर होने के साथ ही जहां कांशीराम के सौजन्य से भारत में यह बौद्धिक विमर्श का प्रधान मुद्दा बनी, वहीं जाति ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर समाज विज्ञानियों को अभूतपूर्व रूप से आकर्षित किया । दलित राजनीति में कांशीराम का योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा ।

2.1.7.मायावती : दलित राजनीति के बीच से उभरी एक सशक्त राजनीतिक दलित महिला

"आज के समय में दलित मुक्ति का राजनीतिक रास्ता दलित समुदाय की सर्वाधिक ठोस और दृश्यमान अभिव्यक्ति है । दलित समुदाय के एक व्यक्ति का देश के सर्वोच्च संवैधानिक पद पर पहुंचना और दलित समुदाय की एक महिला का हिन्दी प्रदेश के एक बड़े राज्य के मुख्यमंत्री के पद पर आसीन होना पिछले दशक के बदले हुए राजनीतिक परिदृश्य का सूचक है । देश की आज़ादी के बाद दलित चेतना का ऐसा प्रदर्शन इससे पहले नहीं हुआ था । दलित राजनीति, जिसका प्रारंभिक रूप हमें डॉ.अम्बेडकर के नेतृत्व में चले आंदोलनों में दिखाई देता है आज एक नए दौर में पहुंच चुकी है ।"[110]

राजनीति में दलितों को स्थापित करने के लिए कांशीराम ने राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किया । उन्होंने बसपा के नेतृत्व में मायावती और अन्य प्रतिनिधियों को उतारा । पहली बार राजनीतिक पटल पर एक दलित स्त्री का आना, सम्पूर्ण दलित समाज के लिए यह महत्वपूर्ण घटना थी । बद्रीनारायण लिखते हैं कि "1980 के दशक के अन्त में उत्तर-प्रदेश के राजनीतिक परिदृश्य में एक बड़े बदलाव का संकेत देते हुए कांशीराम ने एक दलित स्त्री, मायावती को एक जननेत्री के रूप में प्रस्तुत किया और लोगों से उनका समर्थन करने का अनुरोध किया । यह दिखाने के लिए कि उन्हें मायावती की योग्यताओं पर कितना विश्वास था, उन्होंने अपने कार्यालय में मायावती के तीन बड़े-बड़े चित्र भी टंगवा दिए ।"[111] कांशीराम ने मायावती के हरसंभव विकास के लिए अपना सहयोग दिया । कांशीराम का राजनीतिक आंदोलन तीन

[110] सं. राजकिशोर-आज के प्रश्न (18) दलित राजनीति की समस्याएं, लेख –दलित मुक्ति के रास्ते- राकेश कुमार, वाणी प्रकाशन 2012, पेज नं.145

[111] दलित वीरांगनाएं एवं मुक्ति की चाह, पेज नं.178

सिद्धांतों पर आधारित था पहला जातीय सम्मान, दूसरा भागीदारी और तीसरा वोट को लुटने और बिकने से बचाना। उन्होंने जाति के उभार को अपनी राजनीति के केन्द्र में रखा।

समकालीन परिदृश्य में मायावती एकमात्र ऐसी सशक्त दलित महिला हैं, जिन्होंने सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का नया सूत्र गढ़ा। वह ऐसी पहली दलित मुख्यमंत्री हैं जिन्होंने सत्ता में आने के बाद दलितों का ब्राह्मणों के साथ गठबंधन के लिए सोचा किन्तु ऐसा करने से सपा और बसपा में दरारें उत्पन्न होने लगीं। इसे भाजपा की चाल कहें या उसकी महानता की, उसने सपा और बसपा में दरार का बीज बोकर बसपा के साथ हाथ मिलाने की सोची। सरकार बनने के बाद से ही सपा-बसपा गठबंधन को तोड़ने की कोशिश शुरू हो गई थीं। भाजपा ने मायावती को मुख्यमंत्री बनाने का लोभ दे कर सत्ता का सूत्र अपने हाथों में रखने में सफलता हासिल कर ली। 1993 से मई 1995 तक सपा-बसपा में भाजपा द्वारा अनर्गल टिप्पणियों की वजह से राजनीतिक तनाव पैदा किया गया। परिणामस्वरूप गठबंधन टूट गया और जून 1995 में मायावती भाजपा के समर्थन से मुख्यमंत्री बन गईं। दूसरी बार 1997 में रामविलास पासवान को हराकर और 2002 में मायावती भाजपा के सहयोग और समर्थन से मुख्यमंत्री बनीं। इन चुनावों के माध्यम से बहुजन समाज, एस.सी., एस.टी.ओबीसी, गरीब, मजदूर, अल्पसंख्यक और अन्य सामाजिक रूप से कमजोर लोगों के अधिकारों और उनको राजसत्ता प्राप्त कराने का प्रयास किया। आरंभ में उन्होंने आर्थिक मुद्दे को भी उठाया तथा दलितों पर होने वाले अत्याचारों और आरक्षण के मुद्दों पर भी संघर्ष किया किन्तु जल्दी ही ये सब राजनीतिक सत्ता के आगे गौड़ हो गये। इस सन्दर्भ में प्रफुल्ल कोल्ख्यान लिखते हैं कि- ''संसदीय लोकतन्त्र के रास्ते (जिस पर डॉ.अम्बेडकर बार-बार जोर देते थे) जाति-उन्मूलन तथा समता की स्थापना का यही एकमात्र रास्ता उन्हें लगता था। लेकिन उनके अनुयायियों ने उनके बताए रास्ते को छोड़कर व्यक्तिगत स्वार्थों को साधने का रास्ता अपनाया। रिपब्लिकन पार्टी के आधा दर्जन धड़े इसलिए हुए कि हर नेता अपनी शक्ति और अपना वैभव बढ़ाने की कोशिश में लगा रहा। इस उद्देश्य के लिए वे कभी कांग्रेस की गोद में खेलते रहे, कभी भाजपा और कभी शिव सेना जैसी रूढ़िवादी और सांप्रदायिक पार्टियों का खिलौना बने रहे। उत्तर भारत की दलित राजनीति में भी यही हुआ।''[112] बसपा दलितों के उत्थान के लिए जिन सिद्धान्तों को लेकर चल रही थी, सत्ता प्राप्ति के उद्देश्य के चलते वह उन सिद्धान्तों से बाद में मुंह मोड़ती भी

[112] दलित राजनीति की समस्याएं, उद्धृत, लेख –प्रफुल्ल कोलख्यान-दलित राजनीति की समस्याएं, पेज नं.34

दिखाई दी । सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय की बात करने वाले कांशीराम जी भी तथा उनके बाद आये दलित नेताओं ने सामाजिक न्याय और परिवर्तन का लक्ष्य भूलकर केवल सत्ता की प्राप्ति के लिए जुट गये । इस संबंध में प्रफुल्ल कोल्ख्यान का मत देखने योग्य है- ''बसपा के संस्थापक कांशीराम जो कभी खड़ी व्यवस्था को पड़ी व्यवस्था बनाने की बात करते थे और तिलक तराजू और तलवार के ख़िलाफ़ मोर्चा लेने का संकल्प व्यक्त करते थे, सिद्धान्तहीन और बेमेल समझौतों के रास्ते सिर्फ सत्ता हथियाने की राजनीति का समर्थन करने लगे । उनके अनुयायी उन्हें अम्बेडकर से भी बड़ा दलित नेता सिद्ध करने के लिए यह तर्क देने लगे किए अम्बेडकर जो काम नहीं कर सके (अर्थात दलित सरकार नहीं बना सके) यह उन्होंने कर दिखाया । मायावती ने सोचा कि यदि वे राजसी ठाटबाट में वसुंधरा राजे जैसी महारानियों को मात दे देंगी तो दलित समाज अपने आप उठ जाएगा । इसलिए उन्होंने पार्टी के पद और टिकट बेचकर अपने लिए धन संपत्ति जुटाने तथा भाजपा एवं कांग्रेस जैसी रूढ़िवादी पार्टियों से समझौता कर सत्ता में आने का जुगाड़ ही किया । इन पार्टियों द्वारा बार-बार दुत्कारे जाने पर भी उन्होंने अपना रास्ता नहीं बदला ।''[113] इस प्रकार बीएसपी का प्राथमिक उद्देश्य सत्ता प्राप्ति रह गया । इसके लिए उसने कई बार अपनी विचारधारा के विरूद्ध जाकर ऐसी पार्टियों से समझौता किया जिन्होंने हमेशा दलितों के अधिकारों की अनदेखी की ।

दलित राजनीति की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि दलित आंदोलन जिस अम्बेडकरवादी विचारधारा को लेकर चला क्या दलित राजनीति डॉ.अम्बेडकर के उसी विचारों और सिद्धान्तों के पथ पर चला या उसकी दिशा में भटकाव दिखायी देता है ? इसके अतिरिक्त मायावती के बाद दलित राजनीति में कोई अन्य सशक्त दलित महिला क्यों नहीं दिखायी देती हैं ? क्या मायावती के तानाशाही रवैये से दलित स्त्रियाँ राजनीति में आने से हिचकती हैं ? दलित राजनीति में दलित महिलाओं की कितनी भागीदारी है ? प्रश्न यहां यह भी है कि जिस दलित स्त्री विमर्श की शुरूआत और लेखन की चर्चा अभी तक होती रही है उनके लेखन में मायावती का उल्लेख तक नहीं दिखायी देता है ? इसके पीछे क्या कारण है ? दलित राजनीति में मायावती ही एकमात्र सशक्त दलित नेता के रूप में दिखायी देती हैं फिर दलित स्त्रियाँ उन्हें अपना आइकन क्यों नहीं मानतीं ? सवाल यह भी है कि मायावती जिनका हाथ

[113] वही, पेज नं.34

पकड़ कर राजनीति में आयी क्या उन्हीं के कदमों पर चलीं ? दलित नायकों की मूर्तियों का निर्माण कराकर उनके सिद्धान्तों को प्रतिफलित करने और उन्हीं के आदर्शों पर वे चली या नहीं ? दलित समाज के लिए मायावती ने क्या किया ? दलित समाज की महिलाओं की वह प्रेरणा क्यों नहीं बन पायीं। अपने राज्य (उत्तर-प्रदेश) में दलित महिलाओं की समस्या का वे कितना समाधान कर पायीं ? बदायूं में दलित महिला के बलात्कार पर उनकी चुप्पी क्यों रही ? मैला प्रथा जैसी सामाजिक बुराई आज भी उत्तर-प्रदेश राज्य में उसी तरीके से मौजूद है इसके उन्मूलन के लिए उन्होंने क्या किया ? आदि प्रश्नों को सामने रखकर सही मूल्यांकन का प्रयास किया जाएगा।

मायावती ने दलितों और दलित महिलाओं के लिए क्या किया?

आज किसी भी राजनीतिक दल के लिए दलितों की खुले रूप में उपेक्षा करना संभव नहीं है। दलित राजनीति के लिए यह एक नया युग ही था जब उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी ने सत्ता हासिल की थी। 'एक दलित महिला के मुख्यमंत्री बनने से यह आशा की जा रही थी कि अब जातिवाद के विरूद्ध एक नए आंदोलन का सूत्रपात होगा, परन्तु डॉ.अम्बेडकर के नाम पर भव्य उद्यान और स्वमूर्तियां स्थापित करने के अतिरिक्त दलित समुदाय की प्रगति और उत्थान की दिशा में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हो सका। ऐसे भी आरोप लगाये गये कि मायावती केवल चमार जातियों के उत्थान के बारे में सोचती हैं। आश्चर्य की बात यह थी कि बाद में मायावती ने धुर दक्षिणपंथी भाजपा का समर्थन लेना स्वीकार किया, जबकि उत्तर प्रदेश ही नहीं, संपूर्ण देश भर में जातिवादी वर्ण व्यवस्था के जरिए दलितों के और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के जरिए अल्पसंख्यकों के अलगाव की व्यवस्था भी यही पार्टी कर रही थी।'[114] इस प्रकार बीएसपी और कांशीराम-मायावती का नेतृत्व अम्बेडकरवादी विचारधारा 'समता, स्वतन्त्रता और बंधुता' से भटककर सत्ता प्राप्ति का पर्याय बनकर रह गया।

स्त्रीकाल के 'दलित स्त्रीवाद' विशेषांक के एक साक्षात्कार में तुलसीराम जी 'मायावती और दलित स्त्री राजनीति' में दलित लेखिकाओं की नगण्य भूमिका को रेखांकित करते हुए कहते

[114] वही, पेज नं.146

हैं कि 'ब्राह्मणवाद को मायावती ने स्थापित किया । उसने 'हाथी नहीं, गणेश है, ब्रह्मा विष्णु महेश है' का नारा दिया । तुलसीराम दलित राजनीति की भटकी हुई दिशा पर अपनी चिन्ता व्यक्त करते हैं । इस तरह की राजनीति से दलितों की मुक्ति संभव नहीं है । उनका मानना है कि यह दलित आंदोलन नहीं है बल्कि दलित सत्ता का आंदोलन है, जो दलित आंदोलन से भिन्न है । सामाजिक आंदोलन का हमेशा राजनीतिक आंदोलन पर वर्चस्व होना चाहिए ।

आज के दलित आंदोलन की उल्टी धारा पर निराशा व्यक्त करते हुए तुलसीराम जी कहते हैं कि "आज लोग पहले सत्ता की चिन्ता करते हैं फिर सामाजिक बदलाव की बात करते हैं । बिना सामाजिक जागरूकता ना सत्ता मिलती है और ना ही सामाजिक बदलाव आता है । सामाजिक जागरूकता का ही परिणाम था कि दलितों को सत्ता मिली और सत्ता मिलते ही सामाजिक जागरूकता का अभियान बन्द कर दिया । मायावती का हवाला देते हुए वे कहते हैं कि 'दलित स्त्री सत्ता में चार बार मुख्यमंत्री बनी परन्तु एक भी दलित महिला को किसी भी मंच पर नहीं आने दिया । नेता के रूप में भी किसी को मंच पर नहीं आने दिया । दलित राजनीति में अगर स्त्री सत्ता में है तो वह सबसे अधिक नुकसान दलित स्त्री का करती है ।'[115]

दलित स्त्री आंदोलन कोई विशिष्ट राजनीतिक पहल नहीं कर रहा है, उसे सिर्फ लेखन तक ही सीमित मान कर देखा जाता रहा है कुछ लोगों का ऐसा मानना है । जिस तरह से विभिन्न साहित्यिक और सामाजिक आंदोलन किसी न किसी राजनीतिक विचारधारा या राजनीति से जुड़े हुए हैं वैसा दलित स्त्री आंदोलन क्यों नहीं है? दलित स्त्री आंदोलन राजनीति जैसे विषय पर चुप्पी क्यों साधे हुए है ? प्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि "भारत जैसे देश में राजनीति में महिलाओं ने अपने कदम रखें हैं । किन्तु वे किसी न किसी पार्टी से जुड़े रहकर ही अपना स्थान बना पाई हैं खासतौर से जो पुरुषों द्वारा बनायी गयी पार्टियां हैं । उनके अनुसार स्त्रियों से राजनीतिक पहल की उम्मीद करना इसलिए ज्यादती होगी क्योंकि जो स्त्रियाँ राजनीति और सत्ता में हैं उन्हें स्त्रियों की कितनी चिन्ता है ? मायावती हो या ममता बनर्जी, स्त्रियों की यातना की चिन्ता तो है नहीं, फिर राजनीतिक पहलकदमी की चिन्ता क्यों होगी ।"[116] तुलसीराम और मैनेजर पाण्डेय के विचारों से यह स्पष्ट है कि मायावती हों या और

---

[115] सं.संजीव चंदन, स्त्रीकाल, दलित स्त्रीवाद पर केन्द्रित, अंक-9, सितम्बर, 2013 पेज नं.65

[116] वही, पेज नं.79

कोई महिला राजनीतिज्ञ किसी ने भी दलित महिलाओं के उत्थान के लिए न तो कोई विशेष योजना बनाई और नहीं कोई ठोस कदम उठाया।

दलित महिलाएं गांवों में अभी भी खेतों में शौच के लिए जाती हैं। मैला प्रथा तबसे लेकर अब तक जारी है। दलित महिलाओं को अभी भी डायन और चुड़ैल करार देकर बस्तियों में नंगा घुमाया जाता है। वे गांव और शहर में बलात्कार की शिकार हैं। स्वच्छ पानी की समस्या, शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएं, समान वेतन, रोजगार आदि समस्याओं से दलित स्त्री निरन्तर जूझती है, इन महिलाओं के लिए मायावती ने एक दलित राजनीतिक नेता होने के नाते अपने शासन काल में कितनी योजनाएं लागू कीं ? समानता, स्वतन्त्रता और बंधुता के राह पर क्या उनमें राजनीतिक चेतना दिखायी देती है? मायावती[117] ने अपने शासन काल में दलित महिलाओं के मुद्दों पर कितना ध्यान दिया ? यह दलित स्त्री लेखन और दलित स्त्री विमर्श के लिए गहन-चिंतन का विषय है।

दलित राजनीति में मायावती का ऐसा ही चेहरा दिखायी देता है जो ब्राह्मणवाद के गठबंधन से सरकार चला रही थीं जबकि डॉ.अम्बेडकर ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद को दलितों का शत्रु मानते थे। अम्बेडकरवादी विचारधारा से ओत-प्रोत दलित स्त्री विमर्श मायावती को किसी भी राजनीतिक नेता के रूप में अपना प्रेरणा स्रोत नहीं मानता है। दलित स्त्री लेखन में शायद ही कहीं मायावती की चर्चा सकारात्मक रूप में की जाती हो।

2011 में रजनी तिलक और रजनी अनुरागी के संपादन में आयी पुस्तक 'समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन' में एक अध्याय 'मेरे जीवन का संक्षिप्त सफरनामा : कु.मायावती' के नाम से सम्मिलित है, जिसमें उनके निजी जीवन के अनुभव तथा राजनीतिक जीवन में उनका प्रवेश पर, चर्चा की गयी है। जबकि इसके अलावा अनिता भारती की पुस्तक 'समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध' में कहीं भी राजनीतिक महिला के रूप में मायावती पर एक पृष्ठ भी नहीं है। सम्यक प्रकाशन से मंजू सुमन के संपादन में 'दलित

[117] 'दलितों के लिए आयरन लेडी (लौह महिला तथा मसीहा) माने जाने वाली, बहुजन से सर्वजन तक का सफ़र करने वाली उत्तर प्रदेश की मुख्यमंत्री मायावती का मैला प्रथा के मुद्दे के विषय में कुछ न कहना कम से कम यह तो बता देता ही है कि उनके दलित एजेण्डे में मैला उन्मूलन कभी शामिल नहीं रहा। जबकि उत्तर प्रदेश एक ऐसा तबका है जहां बहुत से इलाकों में यह प्रथा अभी जीवित है।' (भाषा सिंह: अदृश्य भारत)

महिलाएं और दलित नारी: एक विमर्श' पर दो पुस्तकें आईं, इनमें से एक पुस्तक में एच.एल.दुसाध का केवल एक लेख मायावती पर है वो भी एक पुरुष लेखक का है कारण यह है कि लेखक बहुजन पार्टी से प्रभावित हैं। यह साफ है कि दलित महिलाएं मायावती को अपना आदर्श नहीं मानती हैं। इसीलिए मायावती दलित स्त्री विमर्श और लेखन में उतनी जगह नहीं घेर पाती जितनी उन्हें अपनी जगह बनानी चाहिए थी।

प्रश्न यह है कि वर्षों से दलित महिलाओं के साथ अत्याचार और अवमानना की घटना घटती रही। मायावती सरीखी अन्य दलित महिला नेता दलित महिलाओं की बजबजाती ज़िन्दगी से उन्हें मुक्ति दिलाने में क्यों सफल नहीं हुईं ? दलित पुरुष नेताओं द्वारा दलित महिलाओं के नारकीय जीवन का संज्ञान न लेना एक हद तक उनकी पितृसत्तात्मक सोच की तरफ इशारा करती है किन्तु जब दलित महिला नेता ही दलित स्त्रियों की दशा की ख़बर न लें तो उनकी इस प्रकार की उपेक्षा का दोष हम किसी और पर नहीं डाल सकते हैं।

आज़ादी के 68 वर्ष बाद भी देश के विभिन्न राज्यों में मैला प्रथा अभी भी जीवित है और इस घृणित कार्य को मजबूरन दलित महिलायें ही अपने सिर पर उठाये घूम रही हैं, जिनके बेहतर रोजगार तथा आर्थिक स्थिति की जिम्मेदारी सरकार नहीं उठा रही है। दलित स्त्री विमर्श को सामाजिक-आर्थिक पहलुओं के अतिरिक्त राजनीतिक पहलू पर विचार करने की अधिक आवश्यकता है, तभी उसकी राजनीतिक चेतना विकसित हो पायेगी। मीरा कुमार लोकसभा अध्यक्ष पद को सुशोभित करने वाली देश की पहली दलित महिला नेता के रूप में जानी जाती हैं। दलित महिला राजनेता मीरा कुमार ने अपने कार्यकाल में दलित स्त्री मुद्दों पर न तो अपनी चिन्ता जतायी और न ही देश भर में गैर-कानूनी ही रूप से चल रहे मैला प्रथा और इसमें मजबूरन लगी दलित महिलाओं का संज्ञान लिया। हरियाणा के अम्बाला शहर से सांसद दलित नेता शैलजा कुमारी ने भी इस मुद्दे पर कुछ न करने की मजबूरी जता दी। उमा भारती जो सत्ता में बी.जे.पी. की तरफ से केन्द्रीय जल संसाधन मंत्री हैं। जिनके ऊपर गंगा जैसी पवित्र नदी की स्वच्छता का भार 2014 में सौंपा गया। किन्तु दलित महिलाओं के मैला प्रथा, उनके मुद्दे, पानी की समस्या के विषय में उन्होंने कोई योजना नहीं बनाई है। मैला-प्रथा को हटाना

इनका प्रथम मुद्दा न होकर गंगा नदी की सफाई इनके लिए महत्वपूर्ण मुद्दा है। यह साफ है कि दलित महिला नेताओं ने अपनी कुर्सी के लालच में दलित महिलाओं का वोट तो लिया है किन्तु उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दशा तथा उनके सामाजिक विकास में कोई योगदान नहीं दिया।

बाबासाहेब ने जिस दलित महिला आंदोलन की नींव रखी वह उनके समय तक बहुत फला फूला उनके बाद भी इसने अपनी मुहिम जारी रखी किन्तु जितनी तीव्रता से यह अपने कदमों को बढ़ा रहा था, उसकी गति कहीं मन्द पड़ जाती है और बाबासाहेब के बाद वैसा जोश नहीं दिखायी देता। यह बात सही है कि इस आंदोलन को जिसने नेतृत्व प्रदान किया था उनके परिनिर्वाण के बाद वैसा नायक भी नहीं दिखायी देता है, जितनी ऊर्जा, जितना साहस और जितनी चेतना बाबासाहेब ने दलित समाज की महिलाओं में जगायी अभी तक उसकी अमिट छाप कुछ अम्बेडकरवादी महिलाओं में है। यही कारण है कि अस्मितामूलक विमर्श से जन्मा आज 'दलित नारीवाद' एक विमर्श के रूप में उभरा है और यह पूरी तरह से बाबासाहेब अम्बेडकर से प्रभावित है। अम्बेडकरवादी विचारधारा से अपनी ऊर्जा ग्रहण करते हुए इसने समाज और साहित्य में अपनी एक विशिष्ट छाप बनायी है।

2.2.1 दलित स्त्री विमर्श की अवधारणा

'बरसों से, थमा था जो कारवां,

आज निकल पड़ा, अपनी मंजिल को पाने ।

इन्सान का रूतबा पाने,

आज निकल पड़ा है, दलित स्त्रियों का कारवां ।

चिन्दियों में बिखेर समाज का नकाब,

कर रहीं हैं खुलासा सच्चाई का,

हम भी हैं इन्सान, दलितों में दलित नहीं ।

चाहे बहाना पड़े खून का कतरा,

नहीं थमेगा, अब हमारा यह कारवां,

जब तक मिल नहीं जाता

हमें इंसान का रूतबा ।'[118]

सत्तर के दशक में साहित्यिक पटल में अस्मितामूलक विमर्श आये जिसमें स्त्री विमर्श, दलित विमर्श मुख्य थे । इन्होंने अपनी खोयी हुई अस्मिता के लिए संघर्ष किया इसके साथ ही इन्होंने लेखन भी भारी मात्रा में किए । '1980 का दशक जाति अस्मिताओं और चेतना के अचानक विस्फोट के लिए जाना जाता है; साथ ही इस दशक में जाति व इसकी सामाजिक परिवर्तनों में भूमिका पर सैद्धान्तिक व राजनीतिक बहसें काफ़ी गर्म रहीं (कोठारी,1994) । 1990 के शुरूआती वर्षों में क्षेत्रीय व राष्ट्रीय स्तर पर स्वतन्त्र दलित स्त्री संगठन काफ़ी दृढ़ता से आगे आये और उन्होंने कई अहम सैद्धान्तिक व राजनीतिक चुनौतियां पेश कीं, जिनमें स्त्रीवाद के ब्राह्मणवादी व दलितों के पितृसत्तात्मक चेहरे को बेनकाब करना भी शामिल था ।'[119] यही कारण है कि दलित स्त्री विमर्श जाति और जेण्डर के सवाल की चुप्पी के प्रतिरोध स्वरूप अपनी

[118] भारतीय दलित महिला लेखन, मेरली के पुन्नुस-दलित स्त्रियों का कारवां (कविता), स्वराज प्रकाशन, पेज नं.56

[119] शर्मिला रेगे/ अनुवादक : डॉ.अनुपमा गुप्ता लेख-दलित स्त्रीवादी दृष्टिकोण की ओर, भिन्नता की समीक्षा, स्त्रीकाल, दलित स्त्रीवाद, पेज नं.49

अस्मिताओं के लिए संघर्षरत है । इस संबंध में दलित स्त्री विमर्श के प्रमुख पैरोकार बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं कि "दलित स्त्रीवादी आंदोलन का जन्म भले ही अस्मितावाद की ज़मीन पर हुआ मगर जल्दी ही इस आंदोलन ने अपने को अस्मितावाद की अनुदार चौहद्दी से मुक्त कर लिया । अस्मितावाद उत्तर आधुनिकता की कोख से पैदा हुआ माना जाता है । उत्तर आधुनिकता की जो धारा आधुनिकता के प्रबल विरोध में फूटी है उसी की सिचांई से अस्मितावाद की फसल पली-बढ़ी है । अस्मितावादी बहस को 'विमर्श' कहा जाता है । इस विमर्श की परिभाषा है-एकल पहचान की बहिर्गामी, एकोन्मुखी और उदग्र पैरोकारी । अन्य पहचानों के प्रति गहरा शक इसके मूल में है । यह विमर्श अपारदर्शी होता है । 'ऐतिहासिक अनुभव' इसे खुलेपन की ओर पारदर्षिता की तरफ जाने से रोकते हैं । 'पीड़ा' पर बोलने का अधिकार पीड़ित को है । पीड़ा के ख़िलाफ़ संघर्ष चलाने का अधिकार भी उसी को है ।"[120] इस प्रकार अस्मितावाद से आगे बढ़ते हुए 'दलित स्त्री विमर्श' को स्त्री और दलित विमर्श से अलग मानवतावादी विमर्श के रूप में देखा जा सकता है ।

दलित स्त्री विमर्श के उद्भव के विषय में सुभाष गाताडे लिखते हैं कि- "सत्तर के दशक में पश्चिम में उठे नारी आंदोलन की दूसरी लहर में जिस तरह नस्ल के सवाल के प्रति 'दृष्टिहीनता' को लेकर अश्वेत नारीवादियों ने आवाज़ उठायी थी उसी तर्ज पर अपने यहां भी 90 के दशक में कई प्रयास दिखे हैं जिसमें दलित नारीवादियों ने एक तरफ नारी आंदोलन की जाति के प्रश्न की उपेक्षा को अपने एजेंडे पर लाया है वहीं साथ ही साथ दलित आंदोलन द्वारा पितृसत्ता के प्रश्न की अनदेखी को भी निशाना बनाया है ।"[121] इसलिए दलित स्त्री विमर्श पर बात करते हुए सबसे पहले हमें यह जान लेना आवश्यक होगा कि पश्चिम में जो अश्वेत नारीवादी आंदोलन चला वह वास्तव में क्या है ? आखिर उनके आंदोलन से और भारत में 90 के दशक में चले दलित स्त्री विमर्श में कोई समानता है ? वर्गीय, जातीय और लैंगिक शोषण जैसे मुद्दे क्या अश्वेत नारीवादी आंदोलन के मुद्दों में भी शामिल थे या केवल नस्लीय भेदभाव इस आंदोलन का प्रमुख मुद्दा रहा ? यहां उनके मुद्दे और प्रश्न को भी हमें जांच लेना आवश्यक हो जाता है ।

---

[120] वही, बजरंग बिहारी तिवारी- लेख; दलित स्त्री आंदोलन तथा साहित्य: अस्मितावाद से आगे, पेज नं.88-89

[121] कथादेश, सुभाष गाताडे- लेख; दलित आंदोलन: भविष्यदृष्टि का प्रश्न, अगस्त 2003, पेज नं.84

2.2.2 अश्वेत नारीवादी आंदोलन (ब्लैक वूमेन पैंथर): दलित स्त्री विमर्श (साम्यता और अन्तर)

"अश्वेत पुरुषों के अपने अधिकार पाने का खूब शोर है, लेकिन अश्वेत स्त्री के लिए एक शब्द नहीं; और अगर अश्वेत आदमी अपने अधिकार पा गए, और अश्वेत स्त्री अपने नहीं पाती है तो आप देखेंगे कि अश्वेत आदमी औरतों के मालिक बन जाएंगे, और यह बुरा होगा ।"[122] -सोजर्नर ट्रूथ

"जहां तक स्त्री-विमर्श की निर्विशेष, अमूर्त स्त्री का प्रश्न है, वर्चस्व में वह शेष स्त्री-समुदाय की तुलना में वर्चस्वी स्त्री की प्रतिमा है । इसलिए अश्वेत स्त्री समुदाय के लिए एक अपने अश्वेत स्त्री विमर्श की ज़रूरत है ।"[123]---अर्चना वर्मा

अश्वेत महिला आंदोलन का दासता विरोधी संघर्ष के साथ गहरा जुड़ाव है । अमेरिका[124] में औद्योगिक क्रांति के साथ ही, खास तौर पर अगर महिला संदर्भों को देखें तो घर के भीतर पुरुष के साथ संबंधों के आधार पर मिली पहचान-माँ, पत्नी, बेटी आदि और बाहर की द्वितीय स्तरीय मजदूर की भूमिका के बीच अंतर्विरोध शुरू हो चुका था । 'श्वेत महिला समुदाय के बीच तो यह अंतर्विरोध इस घर-बाहर की भूमिका के द्वन्द्व के रूप में उभरा, परन्तु अश्वेत अमेरिकी महिला के लिए उसकी गुलाम/ गुलाम सी हैसियत ने इस अंतर्विरोध में और भी कई आयाम जोड़े जिससे यह और अधिक व्यापक और पैना हुआ ।'[125] पश्चिम में चले नारीवादी आंदोलन की यह विशेषता कही जा सकती है कि वहां श्वेत मध्यवर्गीय और कामकाजी महिलाओं ने अपनी अस्मिता की लड़ाई और आंदोलन में अपने मुद्दों को उठाने के साथ-साथ 1830 में अश्वेत समुदाय के दासता विरोधी आंदोलन में भी बढ़-चढ़ कर भागीदारी की । इतना ही नहीं 1833 में फिलाडेल्फिया में 'एंटी स्लेवरी संगठन' के गठन में शामिल होकर इसके साथ अपनी एकजुटता भी प्रदर्शित की । जबकि भारत में इस तरह से प्रभावित कोई भी विमर्श नहीं दिखायी देता है, चाहे वह स्त्री विमर्श हो या दलित विमर्श । ग़ौरतलब है कि पश्चिम में जिस

---

[122] कथादेश, मार्च 2015, अफ्रो-अमेरिकन स्त्री -लेखन पर केन्द्रित अंक, पेज नं.13

[123] वही, पेज नं.7

[124] 'बीसवीं सदी पूर्वार्द्ध में अमेरिका में अश्वेत होना बहुत बड़ा अभिशाप था, कानूनन गुलामी समाप्त हो चुकी थी पर समाज कानून से नहीं चलता है, वह चलता है लोगों की मान्यताओं से । इस समय भी अमेरिका में श्वेत समुदाय के लोग अश्वेत नागरिकों को मनुष्य मानने को राजी न थे । समाज में खासकर अमेरिका के दक्षिण हिस्से में नस्ल भेदभाव पूरी तौर पर व्याप्त था । आज भी दावे के साथ नहीं कहा जा सकता है कि नस्लवाद, रंग भेदभाव, लिंग भेदभाव पूरी तरह से समाप्त हो गया है । उस समय श्वेत मनमाने ढंग से उन्हें सताते, 'कू क्लक्स क्लान' के सदस्य कभी भी आते और घरों में आग लगा देते, उन्हें मारते-पीटते, हत्या कर देते । गरीब श्वेत स्त्रियाँ, बच्चे भी नस्ल को महान मानते हुए दुष्टता करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे । अश्वेतों के लिए इस स्थान में यह समय बहुत भयंकर था ।' (विजय शर्मा: अफ्रो-अमेरिकन साहित्य स्त्री स्वर, वाणी प्रकाशन, 2014, पेज नं.154)

[125] वही, लेख-अश्वेत महिला आंदोलन : आजादी के मायने, पेज नं.86

नारीवादी आंदोलन को लेकर संघर्ष हुए उसमें कहीं भी अश्वेत महिलाओं के मुद्दे शामिल नहीं थे । उनकी समस्याओं और अधिकारों पर छिटपुट रूप से चिन्ता तो जतायी जाती थी किन्तु उनके मुद्दों के लिए संघर्ष इन आन्दोलनों की तरफ से नहीं दिखायी देते हैं ।

1948 में आयोजित 'नेशनल कन्वेन्शन ऑफ कलर्ड फ्रीडम' में पहली बार डगलस की पहल पर 'अश्वेत महिलाओं की बराबरी की बात उठी और उन्हें सम्मेलन में डेलीगेट बनाए जाने पर सहमति बनी । इस तरह 'सेनेका फाल्स सम्मेलन' के दो साल बाद आयोजित 'नेशनल कन्वेन्शन ऑन वुमेन्स राइट' में पहली बार अश्वेत महिलाओं की भागीदारी हुई ।'[126] स्वतन्त्रता या समानता की अवधारणा किसी निरपेक्ष तरीके से आकार नहीं लेती । किसी बड़े समुदाय के एक शोषित तबके की आज़ादी की आकांक्षा उसी समुदाय के दूसरे शोषित तबके की भी आकांक्षा को प्रतिबिम्बित करे यह जरूरी नहीं है । जबकि जेंडर का सवाल एक बड़ा सवाल है जिसे वर्ग, जाति और नस्ल से काटकर नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि यह अकेले में विकसित संस्था नहीं है । साथ ही जेंडर के सवाल को इनके मातहत रखकर समझना भी इसके उत्पीड़न के खास स्वरूप को नज़रअंदाज़ करना है ।

अश्वेत महिला अपने महिला अधिकार, समानता, आज़ादी का सवाल अपने वर्गीय या नस्लीय शोषण से अलग-थलग कर नहीं देख सकती थी । अश्वेत महिला की स्थिति के नाते उसकी आज़ादी की संकल्पना के श्वेत महिलाओं से बिल्कुल अलग मायने थे और हैं । 'अफ्रो-अमेरिकन स्त्री लेखन न केवल नस्लीय भेदभाव को उजागर करता है वरन् अश्वेत समाज के भीतर स्त्री-पुरुष भेदभाव की सड़ांध को भी नंगा करता है ताकि खुली हवा से बदबू दूर हो सके । गुलाम और गुलाम संतान स्त्रियों की जिजीविषा, कर्मठता, शोषण-दमन, संघर्ष, अन्याय के ख़िलाफ़ उठ खड़े होने की उनकी क्षमता और स्वतन्त्रता की पिपासा इन्हें सामान्य से ऊंचा उठाती हैं । इनका जीवन-लेखन मानवता के लिए प्रेरणा के उदाहरण हैं । दुनिया के अन्य स्थानों की भांति अमेरिका में भी अश्वेत स्त्री का संस्थागत शोषण हुआ है, आज भी हो रहा है । इस दमन-शोषण के ख़िलाफ़ बहुत पहले आवाज़ उठनी प्रारंभ हो गई थी जब सोजर्नर ट्रूथ ने पूछा था, 'क्या मैं औरत नहीं ? अमेरिकी समाज में उन्होंने मानव-मानव के बीच भेदभाव के ख़िलाफ़ बिगुल फूंक

[126] वही, पेज नं.87

दिया । वे यह प्रश्न न केवल स्त्री-पुरुषों से भी पूछ रही थीं, पूरी दुनिया से पूछ रही हैं । अश्वेत पुरुष अपने लिए आज़ादी चाहता था मगर वही आज़ादी अपनी औरत-अश्वेत औरत को चाहिए, यह बात उसके दिमाग में दूर-दूर तक न थी ।'[127]

'हिंसा से लेकर बराबरी, आज़ादी तक के मोर्चे पर अश्वेत महिला को अपने महिला होने से पहले अश्वेत होने की बाधा को पार करना पड़ता है । उसकी किसी भी लड़ाई की शुरूआत यहीं से होती है । तमाम प्रगतिशील दिखने वाले आंदोलन भी व्यापक समझ के अभाव में या कहें सत्ता की विचारधारा के प्रभाव में एकायामी और अक्सर नस्लवादिता का शिकार हो जाते रहे हैं । फिर वह चाहे लैंगिकता के मामले में अश्वेत पुरुष / महिला की खास गढ़ी गई छवि हो जिसमें अश्वेत पुरुष श्वेत महिला का बलात्कारी और अश्वेत महिला श्वेत पुरुष के लिए हमेशा प्रस्तुत रहने वाली मानी जाती है । श्वेत महिला आंदोलन की सीमा यह है कि वह आज भी अश्वेत महिलाओं के मुद्दों को अपने आंदोलन में नहीं शामिल कर सका है ।' इसी तरह से देखा जाए तो भारत में जाति व्यवस्था कम उत्पीड़क नहीं रही है । भारत में दलित-आदिवासी महिलाओं के हित व्यापक भारतीय समुदाय की उच्च जातियों की महिलाओं के हित से सीधे-सीधे नहीं जुड़ते । जिस तरह लोगों का मानना है कि सभी महिलाएं शोषित हैं, दलित हैं उसी तरह पश्चिम में भी कोई एक श्रेणी नहीं है । दलित-आदिवासी महिलाएं भारतीय सामाजिक संरचना में उच्च जातियों की तुलना में तिहरी-चौहरी शोषण की मार झेलती हैं । उनकी विशिष्ट स्थिति पर बात किये बिना यह मान लेना कि उनके मुद्दे भी स्वभावतः नारीवादी आंदोलन में शामिल हैं, उनके पक्ष को नज़रअंदाज़ करना ही होगा ।

बीसवीं शताब्दी में नागरिक अधिकार आंदोलन और स्त्री आंदोलन के दौर में अश्वेत स्त्रियों ने बड़े पैमाने पर अपने कड़वे अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य की विभिन्न विधाओं को माध्यम बनाया । सन् 1963 में मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में राजधानी वाशिंगटन में दो लाख अश्वेतों का जुलूस निकला, जो अश्वेत मानस की इच्छाओं और समानता के अधिकार की आकांक्षा से प्रेरित था । आगे आने वाले बीस वर्ष अश्वेत आंदोलन के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण साबित हुए, जिन्होंने अश्वेत संस्कृति, संगीत, कला, साहित्य, भाषा से समूचे विश्व में अपनी विशिष्ट पहचान बना ली ।

[127] कथादेश, विजय शर्मा- लेख- संघर्ष अभी जारी है, अफ्रो-अमेरिकन स्त्री-लेखन पर केन्द्रित अंक, मार्च 2015, पेज नं.10

1960 से 1975 के दौरान लिखी गयी अश्वेत स्त्री आत्मकथाओं में सामाजिक आंदोलनों के विविध पक्षों की अभिव्यक्ति मिलती है। अश्वेत स्त्री आत्मकथाओं में 'माया एंजेलो की 'आई नो व्हाई द केज्ड बर्ड सिंग्स' प्रसिद्ध आत्मकथा थी। सोर्जनर ट्रूथ, विलियम वेल्स ब्राउन, लिंडा ब्रेंट, टोनी मॉरीसन, एलिस वॉकर इत्यादि अश्वेत स्त्री रचनाकारों ने अपने लेखन में नस्ल के सवाल को बखूबी उठाया है। इन आत्मकथाओं में नस्लभेद, रंगभेद एवं यौनिकता जैसे मुद्दे उठाये गये हैं। उत्पीड़न और शोषण के संरचनात्मक आयामों की पहचान के लिए प्रतिरोध के साहित्य को पढ़ा जाना जरूरी है । अफ्रीकी-अमेरिकी समाज में स्त्री उत्पीड़न के संरचनात्मक आयाम बहुस्तरीय और जटिल हैं, नस्ल और लिंग पर आधारित असमानता उसके दिन-भर के अनुभवों का अखंड्य भाग रहे हैं। दास आख्यानों में स्त्री दास की शारीरिक प्रताड़ना और यौन-शोषण की अनगिनत कही-अनकही, सुनी-अनसुनी दास्तानें मौजूद हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के दास-आख्यानों की परंपरा में इन प्रतिरोधी आख्यानों को रखे जाने का आग्रह अश्वेत स्त्री-लेखन की पूरी अविच्छिन्न परंपरा को सामने ला खड़ा करता है।

1960 के आसपास अश्वेत स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मकथाओं ने नस्लभेद के ख़िलाफ़ एक जबरदस्त चेतना पैदा की। इसी समय मार्टिन लूथर किंग के प्रतिनिधित्व में नागरिक अधिकार आंदोलन शुरु हुआ। न्यूयार्क का 'हार्लेम' अश्वेतों की शक्ति एवं संगठन का केन्द्र बना। अश्वेत सामाजिक दर्शन भी यहीं से विकसित हुआ, किन्तु जेंडर पर आधारित भेदभाव इस आंदोलन में चिन्ता का केन्द्रीय विषय नहीं था। इसके पीछे अश्वेत समुदाय के अपने अंतर्विरोध भी थे, जबकि स्त्री आंदोलन में अश्वेत स्त्रियों के साथ लैंगिक भेदभाव के मुद्दे बड़े तीखेपन के साथ उभरे। स्त्री आंदोलन में नस्लभेद की समस्या पर खास विचार-विमर्श नहीं हुआ । इन सबका सम्मिलित प्रभाव सदियों से हाशिए ग्रस्त समाज पर पड़ा, जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य की विविध विधाओं और दर्शन में हुई । समकालीन आंदोलनों, शिक्षा के अवसरों, जन-चेतना, अश्वेत विरोधी कानूनों, विमर्शों की पहल ने नस्लभेद, यौनिकता के प्रश्नों और उनसे उत्पन्न समस्याओं की अभिव्यक्ति को गहरे प्रभावित किया। इसके साथ ही, उपलब्ध विमर्शों और आत्मोदय की चेतना ने अश्वेत स्त्रियों की सामूहिक अस्मिता का निर्माण और उनके विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध दलित नारीवादी चिन्तक शर्मिला रेगे कहती हैं कि '1980-90 के वर्षों में अश्वेत और तीसरी दुनिया के स्त्रीवादी अध्ययन व संघर्ष ने स्त्रीवादी विचारधारा में एक महत्वपूर्ण मोड़ उपस्थित किया, लेकिन श्वेत स्त्रीवादियों ने इस परिवर्तन से उपजी चुनौतियों का सामना करने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। अश्वेत व तीसरी दुनिया से उभरती इन नयी आवाजों को अपनाने से वे हमेशा बचती रहीं। (व्हेलेहेन 1995)। यह हिचक और चुप्पी या तो उनकी इस समझ का परिणाम है कि रंगभेद से संघर्ष सिर्फ अश्वेत स्त्रीवादियों का ही दायित्व है या श्वेत स्त्रीवादियों की उस पुरानी मान्यता का कि राजनीतिक स्तर पर लिंग–विरोधी होने का मतलब स्वतः ही जातिविरोधी हो जाना है।'[128]

अश्वेत स्त्री आंदोलन और विमर्श पर एक विस्तृत ब्यौरा देना मैंने इसलिए जरूरी समझा क्योंकि कुछ हद तक अश्वेत स्त्री विमर्श की साम्यता 90 के दशक में भारत में उभरे दलित स्त्री विमर्श में दिखायी देती है। जिस तरीके से अमेरिका में अश्वेत स्त्री आत्मकथन ने पूरे विमर्श में एक जान फूंक दी उसी तरह भारत में भी दलित स्त्री आत्मकथाओं ने दलित स्त्री विमर्श को दस्तक देने में सहायता प्रदान की। अश्वेत स्त्री आंदोलन की जो मुख्य समस्यायें थीं-- पितृसत्ता का वर्चस्व, नस्लीय भेदभाव, रंग के आधार पर उनका शोषण करना, सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों से उन्हें वंचित रखना आदि। रंगभेद को छोड़कर पितृसत्ता द्वारा शोषण (लैंगिक शोषण), सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों से दलित स्त्रियाँ भी बेदखल थीं। अश्वेत स्त्री साहित्य और दलित स्त्री साहित्य में यदि कोई अन्तर है तो यह है कि जहां अश्वेत स्त्रियाँ रंगभेद की शिकार रही हैं वहीं दलित स्त्रियाँ जातिगत भेदभाव की। अश्वेत स्त्रियों की जहां खरीद-फ़रोख़्त होती थी वहीं दलित स्त्रियाँ इस समस्या से बची हुई थीं। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि.."दलित स्त्रियाँ दास प्रथा की अपेक्षा अस्पृश्यता की और देह शोषण की समस्या से पीड़ित थीं। उन्हें हमेशा दुत्कार और डांट-फटकार ही मिलती थी। दलित यहां के मूल निवासी हैं, उनका धर्म अलग है, फिर भी सवर्णों ने उन्हें हिन्दू धर्म का बताकर, उन पर अपनी परम्पराएं और रीति-रिवाज लादे हैं। इस तरह दलित स्त्रियाँ हिन्दू धर्म की रीति-परम्पराओं की पीड़ा को भोगती हैं। अन्धविश्वास के कारण वे अपने उत्थान और जागृति को समझ नहीं पाती हैं, वे शिक्षा और साहस के अभाव में, अपनी मुक्ति का प्रयास करने में डरती हैं। जबकि अश्वेत महिलाओं में साहस था। वे मालिकों के जुल्म से बचने के लिए भाग जाती थीं। दोनों की समस्या में समानता यह है कि वे स्त्री हैं और असमानता यह है कि अश्वेत स्त्री को दास जीवन

[128] शर्मिला रेगे, अनु: डॉ.अनुपमा गुप्ता, लेख:दलित स्त्रीवादी दृष्टिकोण की ओर भिन्नता की समीक्षा, स्त्रीकाल, सितम्बर-2013, पेज नं.49

की प्रताड़ना सहनी पड़ी और दलित स्त्री को दलित होने का अपमान, तिरस्कार, वेदना और सन्ताप सहना पड़ा। ब्लैक लिटरेचर पढ़कर वही वेदना होती है, जो दलित साहित्य से होती है।"[129] इस तरह अश्वेत स्त्री विमर्श और दलित स्त्री विमर्श दोनों की जमीन अलग-अलग राष्ट्रों की है, फिर भी सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से दोनों की समस्याओं में समानता मौजूद है। भारत में जाति, वर्ग, धर्म, क्षेत्र और लिंग की समस्या जितनी जटिल है उससे कहीं ज़्यादा भयावह उसके आधार पर होने वाला शोषण है।

इस अध्याय के अगली कड़ी के रूप में भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक, और सांस्कृतिक संरचना के तहत दलित स्त्री विमर्श की सैद्धान्तिकी और अवधारणा को समझने का प्रयास किया जायेगा।

2.3.1 दलित स्त्री-विमर्श की वैचारिकी व सैद्धान्तिकी

21वीं सदी को पूरी तरह से भूमंडलीकरण, बाजारीकरण का युग कहें तो गलत नहीं होगा। हालांकि वैश्वीकरण 90 के दशक से ही अपने पैर पसारते चला आ रहा था। वैश्वीकरण ने सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया चाहे वह ज्ञान-विज्ञान, तकनीकी और सूचनाओं के क्षेत्र में परिवर्तन हो या फिर महिलाओं की प्रगति और विकास हो। 'आम महिलाओं के संगठन तो विश्व में 19वीं सदी के आरम्भ से ही चले आ रहे हैं। भारत में भी यह 1975 से जोर पकड़ने लगा। किन्तु दलित महिलाओं में उनकी सामाजिक और सामयिक परिस्थिति के कारण यह चेतना जरा विलम्ब से शुरू हुई।'

90 के दशक में ही नारीवादी और दलित आंदोलन अपने प्रश्नों को लेकर सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर मुख्यधारा में शामिल होने का प्रयास कर रहा था। जबकि दलित महिलाओं के न तो उसमें हित थे और न ही उनकी आवाज़। यही कारण था कि दलित महिलाओं ने अपने मुद्दों के लिए अलग से आवाज़ उठाना शुरू कर दिया। 1994 में राष्ट्रीय स्तर पर दलित औरतों की आवाज़ को मुखरता प्रदान करने के लिए 'अखिल भारतीय दलित वीमेंस फोरम' का गठन किया गया। प्रसिद्ध दलित महिला एक्टिविस्ट डॉ.रूथ

[129] सुशीला टाकभौरे (2016) मेरे साक्षात्कार, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.138

मनोरमा 'नेशनल फेडरेशन ऑफ दलित वूमेन' तथा 'नेशनल एलाइंस ऑफ वूमेन की वर्तमान अध्यक्षा रही हैं। उन्हें वर्ष 2006 का अन्तर्राष्ट्रीय 'राइट लाइवलीहुड एवार्ड' (वैकल्पिक नोबेल पुरस्कार) मिला है। कर्नाटक से अपना संबंध रखने वाली मनोरमा ने दलित उत्पीड़न के ख़िलाफ़ लम्बा संघर्ष किया। कर्नाटक में वहां की सरकार द्वारा गरीब व दलितों की बस्तियों को जबरन हटाने का जब प्रयास किया गया, तब उन्होंने लगभग 1,50000 लोगों का ऐतिहासिक जुलूस निकालकर सरकार के नाकाम इरादों को अपने बुलन्द इरादे से परास्त किया ।

जिस तरह से पूरे भारत वर्ष में दलित आंदोलन की लहर महाराष्ट्र से मानी जाती है वैसे ही भारत में दलित स्त्री विमर्श और लेखन की शुरूआत दक्षिण और महाराष्ट्र से हुई। क्योंकि शिक्षा का ज़्यादा प्रचार-प्रसार वहां है। जबकि उत्तर भारत में दलित महिलाओं में शिक्षा की बहुत कमी है। डॉ.अम्बेडकर के आंदोलन की ज़मीन महाराष्ट्र थी शायद यही कारण है कि दलित स्त्री विमर्श की सुगबुगाहट वहीं से शुरू हुई। महाराष्ट्र में दलित महिलाओं के विभिन्न संगठन है जिसमें 'नेशनल फेडरेशन ऑफ दलित वूमेन महाराष्ट्र' ने दिल्ली और चेन्नई आदि राज्यों में आठ-दस सम्मेलन सम्पन्न किया। इसने दलित महिलाओं के मुद्दों पर भी विभिन्न समय में अनेक सभायें की। बजरंग बिहारी तिवारी दलित स्त्री विमर्श को लेकर जो भी अधिवेशन, संगोष्ठियां या फिर छिटपुट आंदोलन हुए, उसकी रिपोर्ट देते हैं जिसमें 1990 में कालिकट में आयोजित स्त्री आंदोलन के चौथे अधिवेशन में जाति आधारित यौन हिंसा और दलित स्त्री के प्रश्नों पर विस्तार से चर्चा की गयी, शामिल है। इस अधिवेशन ने अपनी जड़ें मजबूती से जमाते हुए विस्तृत आकार लिया। जाति के प्रश्न के साथ आदिवासी स्त्रियों का सवाल भी तिरूपति (1994) के राष्ट्रीय अधिवेशन में शामिल हुआ। 2006 में कलकत्ता में हुआ अधिवेशन भी काफ़ी उल्लेखनीय रहा। इस समय जेण्डर को जाति से जोड़कर देखने-समझने की अकादमिक गतिविधि क्रमशः गति पकड़ती गयी। इन अधिवेशनों से जो बात सामने निकलकर आयी कि सिर्फ संगठनों के निर्माण भर से बात नहीं बनने वाली इसके लिए मजबूत और सक्रिय प्रतिरोध अपेक्षित है। बिना संघर्ष के परिवर्तन की कल्पना भी संभव नहीं है।

प्रसिद्ध दलित स्त्री चिन्तक और एक्टिविस्ट शर्मिला रेगे देश भर में चले नारीवादी संगठनों के महत्व को स्वीकार करती हैं किन्तु दलित स्त्रियों के प्रश्न पर दलित स्त्री संगठनों को भी अनिवार्य मानती हैं। उन्होंने स्त्रीवाद को सवर्ण स्त्रियों के खेमे तक और दलितवाद को पुरुषों

के खेमे तक सिमटते हुए कहा कि इनके एजेंडें में दलित स्त्रियों को कहीं भी जगह न मिलने के कारण ही दलित स्त्री विमर्श का जन्म हुआ है। 1971 में बने दलित पैंथर ने दलित स्त्रियों के मुद्दों को नज़रअंदाज़ किया। 'शर्मिला रेगे के मत से वाम झुकाव वाले नारीवादी संगठनों ने जाति को वर्ग में विलीन कर दिया तथा स्वायत्त स्त्री समूहों ने उसे भगिनीवाद में। दोनों ने ही ब्राह्मणवाद को चुनौती नहीं दी।' इस प्रकार नारीवादी आंदोलन जाति श्रेष्ठता के कारण दलित स्त्री मुद्दों को अपने आंदोलन के केन्द्र में नहीं लाया। यही कारण है कि दलित स्त्रियों को केन्द्र में रखने वाली नारीवादी राजनीति भी नहीं उभर सकी।

बजरंग बिहारी तिवारी दलित स्त्रियों के स्वतन्त्र और स्वायत्त संगठनों के निर्माण को 1990 के बाद से मानते हैं। वह कुछ प्रमुख दलित महिला संगठनों के नाम भी गिनाते हैं जिनमें 'नेशनल फेडरेशन ऑफ दलित वीमेन' तथा ऑल इंडिया दलित वीमेंस फोरम' (1994) को उल्लेखनीय मानते हैं। 'महाराष्ट्र दलित महिला संगठन की स्थापना 1995 में हुई। इसी प्रदेश के चन्द्रपुर में 1996 में 'विकास वंचित दलित महिला परिषद्' का गठन हुआ। इस संगठन ने 25 दिसम्बर को 'भारतीय स्त्री मुक्ति' के रूप में मनाया। यह ग़ौरतलब है कि बाबासाहेब ने 1927 में इसी तारीख को मनुस्मृति दहन की थी।

प्रसिद्ध दलित चिन्तक गोपाल गुरू का लेख 'दलित वीमेन टॉक डिफरेंटली' दलित स्त्रीवाद की वैचारिकी के निर्माण में बहुत ही महत्वपूर्ण है। 'गोपाल गुरू दलित महिलाओं की 'बात की भिन्नता' को रेखांकित करते हैं। वह इसके लिए दो महत्वपूर्ण कारकों जिनमें बाहरी और भीतरी कारक मौजूद हैं की गहराई से चर्चा करते हैं। बाहरी कारकों में वे उन 'गैर-दलित ताकतों' का हवाला देते हैं जो 'दलित स्त्री के मुद्दे का समरूपीकरण' कर रही हैं। भीतरी कारकों में 'दलितों के बीच पितृसत्तात्मक प्रभुत्व' का होना है। बाहरी कारकों में नारीवादी आंदोलन द्वारा दलित स्त्रियों के मुद्दों को अनदेखी करना तथा गोपाल गुरू के अनुसार "राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर स्त्री मात्र की एकता (सॉलिडरिटी) का दावा ऊंची जाति और दलित महिलाओं के बीच मौजूद अन्तर्विरोधों पर लीपापोती कर देता है।" की तरफ रेखांकित करता है।

गोपाल गुरू के अनुसार उत्तर अम्बेडकर काल में दलित नेताओं द्वारा हमेशा दलित स्त्रियों की स्वतन्त्र राजनीतिक अभिव्यक्तियों को गौड़ समझा गया है और कई बार उनका दमन किया गया है । उन्होंने अपने विश्लेषण को सूत्रबद्ध करते हुए इसके तीन निष्कर्ष निकाले हैं- पहला 'जाति और वर्ग की पहचान के साथ लैंगिक पहचान भी किसी परिघटना में समान भूमिका अदा करती हैं, दूसरा 'दलित पुरुष उसी मेकनिज्म का पुनरुत्पादन कर रहे हैं, जिसका इस्तेमाल सवर्णों ने उन्हें दबाने के लिए किया था, तीसरा 'दलित स्त्रियों का अनुभव बताता है कि दलित (दायरे) के भीतर का स्थानीय प्रतिरोध कम महत्वपूर्ण नहीं है । कुल मिलाकर, जो स्थिति बनती है, उसमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि दलित स्त्रियों की भिन्न बात का दावा सही है ।"[130] बजरंग बिहारी तिवारी अपने लेख 'दलित स्त्री आंदोलन तथा साहित्य : अस्मितावाद से आगे' में दलित स्त्री विमर्श को अस्मितावादी राजनीति से मुक्त मानते हैं । दलितेतर नारीवादी दलित स्त्रियों की तरह या दलित स्त्रियों के लिए भले ही न बोल सकती हों लेकिन वे दलित नारीवादी की तरह अपनी पुनर्खोज तो कर ही सकती हैं । इस तरह की छूट प्रत्यक्ष अनुभवजन्य प्रमाणिकता की संकरी गली से बचाती है तथा 'अस्मितावादी राजनीति' की संकीर्णता को भी परे ढकेलती है । अस्मितावादी दृष्टि की आलोचना करते हुए महाराष्ट्र की चर्चित नारीवादी चिंतक छाया दातार का कहना है कि 'भिन्नता और आइडेंटिटी' पर केन्द्रित हो जाने से आर्थिक शोषण और बाजार की जकड़बंदी की उपेक्षा होती है । स्त्रियों को अधिकार वंचित करने वाली स्थितियों का जन्म यहीं होता है । छाया दातार ने यह भी कहा कि अगर नारीवादी आंदोलन के इतिहास का पुनरावलोकन किया जाए तो मालूम होगा कि पितृसत्ता के ख़िलाफ़ संघर्ष में कई मोड़ ऐसे आए हैं जब जाति प्रभुत्व के ख़िलाफ़ मोर्चा खुला है । 'मथुरा रेप केस'[131] मामला इसका उदाहरण है ।

---

[130] स्त्रीकाल, विशेषांक-दलित स्त्रीवाद, पेज नं.86,

[131] 1978 में आदिवासी लड़की मथुरा के बलात्कार को मथुरा बलात्कार कांड के नाम से जाना गया । मुंबई के नजदीक ठाणे की आदिवासी युवती मथुरा के साथ थाने में हुए बलात्कार की घटना में सुप्रीम कोर्ट का जो फैसला आया, वह काफ़ी उद्वेलित करने वाला था। इस फैसले में अदालत ने आरोपी पुलिसकर्मियों को सन्देह का लाभ देते हुए बरी किया था और इसकी वजह यह बताई थी कि मथुरा के पहले से ही शारीरिक संबंध रहे हैं और इस घटना में उसकी तरफ से प्रतिरोध के निशान नहीं मिलते । इस फैसले के ख़िलाफ़ देश के अग्रणी वकीलों और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं ने एक खुला पत्र जारी कर अपनी घोर असहमति प्रकट की थी । इस घटना के बाद देश भर से उठी प्रतिक्रिया और लम्बे अभियानों के बाद 1983 में बलात्कार विरोधी अधिनियम में सुधार किया गया । यह संघर्ष दलित स्त्री के आंदोलन का 80 के दशक का पहला विद्रोहात्मक आंदोलन माना जाता है ।

1989 में प्रकाशित पुस्तक 'हमने भी इतिहास गढ़ा है' की लेखिकाएं मीनाक्षी मून और उर्मिला पंवार ने दलित आंदोलन में दलित स्त्रियों की भूमिका का पहले-पहल सशक्त रेखांकन किया। इन्होंने डॉ.अम्बेडकर के सामाजिक अभियानों में दलित स्त्रियों की भागीदारी का वृत्तांत लिखा। इसी समय दलित स्त्री कार्यकर्ताओं की पहली पीढ़ी उभर कर आयी। परिवार, समाज और राजनीति में व्याप्त पुरुष वर्चस्व से लड़कर परिवर्तन के ऐतिहासिक दस्तावेज में अपना हस्ताक्षर करने वाली दलित स्त्रियों की पहली पीढ़ी का परवर्ती आंदोलन ने लाभ नहीं उठाया। दलित पुरुषों द्वारा निर्मित 'दलित पैंथर' तथा 'रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया' के नेतृत्वकारियों की सूची में एक भी दलित स्त्री का नाम दिखायी नहीं पड़ता है। इसके पीछे दलित पितृसत्तात्मक सोच काम करती है। इस संबंध में यहां यह जान लेना आवश्यक है कि 'दलित विमर्श जाति आधारित वर्चस्व को तो खत्म कर देना चाहता है, लेकिन स्त्री को दोयम बनाये रखने के मामले में वह भी सवर्ण पुरुषों से सहमत है।' धर्मवीर के हवाले से देखा जाय तो यह और भी वर्चस्वकारी तथा नियन्त्रणकारी है यदि 'दलित पुरुष को आर्य पुरुष की गुलामी से बचना है, तो उन्हें अपनी स्त्रियों को कब्जे में रखना होगा।' धर्मवीर की इस प्रकार की सोच से ही दलित स्त्रियों में अपने विमर्श तथा अधिकारों के प्रति जबरदस्त संघर्ष शुरू करने की प्रक्रिया दिखायी देती है।

पितृसत्ता के दोहरे मानदण्ड को स्पष्ट करते हुए उमा चक्रवर्ती लिखती हैं कि "पितृसत्ता के तहत स्त्री की यौनिकता पर नियन्त्रण के अलावा उसकी पुरुषों के तहत अधीनता से पुरुषों को उसकी उत्पादक या श्रम शक्ति पर नियन्त्रण की क्षमता भी प्राप्त हो जाती है। घर के भीतर और बाहर स्त्रियों की उत्पादकता पर पुरुषों का नियन्त्रण रहता है और यह फैसला भी उन्हीं के हाथ में रहता है कि वह घर के बाहर जाकर काम करेंगी या नहीं। स्त्रियों के श्रम पर नियन्त्रण का अर्थ है कि पुरुष स्त्रियों के अधीनीकरण से आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं दोहरे नियन्त्रण, यानि स्त्री की यौनिकता और श्रम पर नियन्त्रण के चलते उनकी आने-जाने की आज़ादी बुरी तरह सीमित हो जाती है। इसके लिए ऐसी परंपराओं और रीति-रिवाजों का सहारा लिया जाता है जो उसे घर की चारदीवारी या अन्य परिभाषित दायरों में बांध देते हैं। नियंत्रणों की पूरी संरचना, महिलाओं को उत्पादक संसाधनों तक सीधी पहुंच से वंचित रखने और उन्हें पुरुषों पर

निर्भर बना देने के जरिए सुगम हो जाती है ।"[132] दलित महिलाओं के संबंध में यह बात ज़्यादा सही जान पड़ती है ।

2.3.2 दलित स्त्री विमर्श क्या है?

दलित स्त्री विमर्श को भारतीय स्त्री विमर्श और प्रतिरोधी लेखन परंपरा में एक ऐतिहासिक घटना के रूप में देखा जा सकता है । स्त्री विमर्श के इतिहास में दलित स्त्री विमर्श एक नए लेखन और आंदोलन के रूप में उभरा है तथा जातीय, लिंगीय और वर्गीय उत्पीड़न ने जिसके वैचारिक भूमि का निर्माण व आंदोलन को मुखर किया । हालांकि दलित स्त्री विमर्श की जड़ें गौतम बुद्ध के समय से मिलती हैं किन्तु उसकी सक्रियता स्त्री विमर्श और दलित विमर्श के बाद से दिखायी देती है । जहां स्त्री विमर्श और दलित विमर्श साहित्यिक पटल और सामाजिक पटल पर अपनी माँगों, मुद्दों और प्रश्नों को लेकर शामिल हुए वहीं उसने दलित स्त्री की सुध तक नहीं ली । इस संबध में रजनी तिलक का विचार उल्लेखनीय है उनके शब्दों में -"दलित लेखिकाएं जो स्त्री मुक्ति आंदोलन और दलित आंदोलन की धुरी थी उन्होंने जब नारीवादी इतिहास लेखन में अपने संघर्षों को, अपने होने के वजूद को न पाया तो उन्होंने अपनी नाराजगी जाहिर की । तब वे अलग से स्वयं ही अपने संघर्षों के इतिहास लेखन की प्रक्रिया में जुट गयीं ।"[133]

उपेक्षा के इस दंश और भाव से दलित स्त्री ने अपने विमर्श की धार को अब तेज कर लिया है । दलित स्त्रियों ने अपनी यंत्रणा को सार्वजनिक विमर्श के केन्द्र में लाने का निर्णय कर लिया है । यहीं से दलित स्त्री विमर्श की शुरूआत होती है । दलित स्त्रियों ने स्त्रीवादी संगठन बनाकर अपनी आवाज़ को बुलन्द किया है । उसे अब सवर्ण नारीवादियों और दलित पुरुषों की राह नहीं ताकनी है कि वे (दलित पुरुष और सवर्ण स्त्री) उनका झण्डा अपने हाथ में लेकर चलेंगे । दलित स्त्री ने अपने हाथों में मशाल थाम कर संघर्ष करना सीख लिया है । दलित स्त्री विमर्श की विशेषता यह है कि वह अपने आइकन में सावित्रीबाई फुले के साथ-साथ पण्डिता रमाबाई से भी प्रेरणा ग्रहण करता है । उसका लेखन ज्योतिबा फुले और बाबासाहेब अम्बेडकर से प्रभावित है । दुनिया की तमाम संघर्षशील महिलाओं को वाणी देते हुए वे अपना साहित्य लिखने लगी हैं ।

---

[132] उमा चक्रवर्ती : लेख- पितृसत्ता पर एक नोट, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, पेज नं.3

[133] समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन, पेज नं.12

2.3.3 नगाड़े की तरह बजता दलित स्त्री का लेखन

मैं चाहती हूं

आंख रहते अंधे आदमी की

आंख बने मेरे शब्द, उनकी जुबान बने

जो जुबान रहते गूंगे बने

देख रहे हैं तमाशा।

चाहती हूं मैं

नगाड़े की तरह बजें मेरे शब्द और निकल पड़े लोग

अपने-अपने घरों से सड़कों पर।'[134]

इतिहास का यह दुर्भाग्य कहा जायेगा या फिर मुख्यधारा के साहित्य के पुरोधाओं की चाल, क्योंकि आज तक 'सीमन्तनी उपदेश' की लेखिका का पता नहीं चल पाया। इस पुस्तक की लेखिका को एक अज्ञात हिन्दू महिला के नाम से जाना जाता है। इससे यह पता चलता है कि इतिहास और साहित्य में कितने सारे ऐसे तथ्य हैं जिनको अज्ञात कहकर दबा दिया गया होगा। मातादीन और झलकारीबाई जैसे न जाने कितने क्रान्तिकारी व्यक्तित्व होंगे जिनकी ऐतिहासिक भूमिका को या तो हड़प लिया गया होगा या फिर उन पर स्याही की कालिख पोत दी गयी होगी। आज सबल्टर्न स्टडीज के चलते हाशिये के लोगों की पहचान हो रही है। उनके लेखन का सही मूल्यांकन हो रहा है।

'दलित स्त्री लेखन' दलित चिन्तन का वाहक है यह चिन्तन दलित आंदोलन के संघर्ष के साथ-साथ विकसित हुआ है। दलित स्त्री का चिन्तन बुद्ध, ज्योतिबा फुले, सावित्री फुले, पेरियार और डॉ.अम्बेडकर के दर्शन से प्रेरित होकर अस्तित्व में आया है। दलित स्त्री लेखन समाज की कड़वी सच्चाईयों और विसंगतियों को रौंद कर आगे आ रहा है। दलित लेखिकाएं सामाजिक समस्याओं के विरूद्ध लड़ने के पक्ष पर उतनी ही प्रतिबद्ध और सजग हैं जितनी अपने सृजनात्मक लेखन के पक्ष पर गंभीर है। हर समय काल की सीमा से पार जाकर उन्होंने अपनी भूमिका को समझा है। बुद्धकालीन थेरियों ने 'थेरी गाथाओं' में स्त्री स्वतंत्रता का स्वर उद्घोष

[134] निर्मला पुतुल : नगाड़े की तरह बजता शब्द (काव्य संग्रह) भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

किया तो 19वीं शताब्दी में पंडिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे और सावित्रीबाई फुले, मुक्ताबाई ने उस स्वर को मजबूती दी। जातीय उत्पीड़न, स्त्री-दमन, धार्मिक पाखंड अंधविश्वास की जड़ों को खत्म करने के लिए उन्होंने धार्मिक ग्रंथों और पुरोहितों के साजिश का पर्दाफाश किया। सावित्री फुले, ताराबाई शिंदे, मुक्ताबाई ने तत्कालीन समाज में प्रगतिशील विचारों से ओत-प्रोत अपने लेखों, कविताओं और निबंधों में समाज के दुःख दर्द विशेषतः स्त्रियों के दर्द तथा भेदभावों को इंगित किया था।'[135] सामाजिक वर्जनाओं में जिसमें जाति और पितृसत्ता का रूप सबसे वीभत्सकारी और क्रूर है। 'जाति और पितृसत्ता की दोहरी मार ही दलित स्त्री का वह अनुभव है जिसके आधार पर स्त्री विमर्श और दलित स्त्री विमर्श को अलगाया जा सकता है। स्वाभाविक है वह अनुभव अन्य स्त्रियों से भिन्न भी होगा और विशिष्ट भी। यही कारण है कि उनका मुक्ति संघर्ष भी बहुस्तरीय और जटिल है। यह संघर्ष ठीक अपने घर की चारदीवारी से शुरू होता है और उत्पीड़न कारी सवर्ण पुरुष तक पहुंचता है। दलित स्त्री विभिन्न रूप की प्रताड़नाओं की शिकार है। इनकी पीड़ा, अपमान व अवहेलना ने इन्हें दलित विमर्श से अलग एक नया मंच बनाने को प्रेरित किया जो कि दलित स्त्री विमर्श को जीवंत रूप में समाज के सामने ला सके।'[136]

इस दिशा में दलित लेखिकाओं का सराहनीय योगदान है। अपनी रचनात्मक अभिव्यक्तियों के माध्यम से दलित स्त्री को दमन के चक्र से मुक्त करना ही इनके संघर्ष का लक्ष्य है। इनका ये संघर्ष एक बड़े मंच का आकांक्षी है, जो इनके विचारों को समाज में प्रसारित कर सके।

दलित स्त्रियों द्वारा लिखी जा रही अभिव्यक्तियां धीरे-धीरे अपनी दुनिया, अपनी संस्कृति के कई पहलू समेटती जा रही है। इन अभिव्यक्तियों में दमन शोषण, अपमान और तिरस्कारों की प्रतिध्वनियां भी हैं और उनके अपने सपने आचार-विचार, ध्येय-आकांक्षा और सुख-दुख भी। दलित स्त्रियों में शिक्षा की कमी की वजह से ही दलित स्त्री रचनाकारों की संख्या

[135] समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन (1), पेज नं.10

[136] सं.विजयपाल (2014) दलित साहित्य: मूल्यांकन, लेख 'दलित सिद्धान्त और दलित स्त्री', डॉ.सुमन कुमारी, श्री नटराज प्रकाशन, पेज नं.163

कम है, किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि दलित स्त्री विमर्श के चलते बहुत सी दलित लेखिकाओं ने अपने लेखन के माध्यम से अपनी पहचान बनायी है। दलित स्त्री विमर्श की उपलब्धि इस बात में है कि वह दमनकारी सामाजिक संरचनाओं के विघटन और उनकी लोकतान्त्रिक पुनर्रचना के लक्ष्य को लेकर आगे बढ़ रहा है।

हिन्दी दलित लेखिकाओं में कावेरी, कौशल्या बैसंत्री, सुशीला टाकभौरे, कुसुम मेघवाल, रजनी तिलक, अनिता भारती, रजत रानी मीनू, रजनी दिसोदिया, हेमलता महीश्वर, सुमित्रा मेहरौल, तारा परमार, पुष्पा विवेक, पुष्पा भारती, नीरा परमार, रजनी अनुरागी, उपासना गौतम, कौशल पंवार, हीरा पवार, सुजाता पारमिता, पूनम तुषामड़ इत्यादि हैं। ये दलित लेखिकाएं अपने वैचारिक और गम्भीर लेखन से दलित स्त्री विमर्श के रचनात्मक साहित्य को पुष्ट करने का निरन्तर प्रयास कर रही हैं।

2.3.4 दलित स्त्री का रचनात्मक साहित्य

आत्मकथा लेखन :

अश्वेत स्त्री लेखन हो या फिर दलित लेखन हो आत्मकथा विधा को सर्वाधिक क्रान्तिकारी विधा के रूप में दर्जा मिला। दलित स्त्री विमर्श का भी क्रान्तिकारी साहित्य सर्वप्रथम आत्मकथा में देखने को मिलता है। यदि हम मुख्यधारा के साहित्य या परम्परावादी साहित्य को देखें तो इसकी शुरूआत कविता से मानी जाती है किन्तु लेखन में प्रचलित विधाओं और मानदण्डों को छोड़कर आत्मकथा विधा का चुनाव क्यों किया गया ? यह सिर्फ शिल्प-संरचना या रचनात्मकता से जुड़ा साहित्यिक सवाल नहीं है। आत्मकथा को रचनात्मक स्तर पर विधा के रूप में चुनना दलित विमर्श व लेखन के विकास की धारणा से जुड़ा सवाल है। दलित स्त्री लेखन का प्राण हैं आत्मकथाएं। ये आत्मकथाएं समाज में जातिवादी भेदभाव और विषमतामूलक समाज का तथा पितृसत्ता के विभिन्न आयामों का एक दस्तावेज रचती हैं। इन आत्मकथाओं में दलित स्त्री चिन्तन ने पितृसत्ता पर अपनी समझ का विस्तार किया है। ये दलित स्त्री आत्मकथाएं समाजशास्त्रीय विश्लेषण के साथ-साथ अपने सांस्कृतिक जुड़ावों को भी रेखांकित करती हैं।

आत्मकथा : कौशल्या बैसंत्री- दोहरा अभिशाप, सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, रजनी तिलक- अपनी जमीं अपना आसमाँ।

आत्मवृत्त: कु.मायावती- मेरे जीवन का संक्षिप्त सफरनामा, निर्मला रानी- मेरी कहानी, थेसो क्रोपी- चंद यादों की परतें , किरण देवी भारती- पग में घुंघरू, पथ में कांटे।

तेज सिंह के संपादन में पुस्तक 'अम्बेडकरवादी स्त्री-चिन्तन' में कुछ दलित लेखिकाओं के आत्मवृत्त आये थे जो उनके अपने कटु अनुभव की महान गाथा थी जिनमें – रमा पंचाल का 'जातीय दुर्भावना की शिकार, रजनी तिलक का 'वर्ग, जाति और जेंडर', पी.शिवकामी का 'मेरा सृजनात्मक संघर्ष जारी है', रजनी दिसोदिया 'मेरा बचपन', अनिता भारती का 'मेरा बचपन : जीवन के कुछ प्रसंग', रजत रानी मीनू का 'उठो, चलो मेरे साथ', हेमलता महिश्वर का 'अध्यापकगीरी', पुष्पा विवेक का 'जारी है एक कदम पर जंग', सुमित्रा मेहरोल का कांच की बारीक दीवार ढहने के इंतजार में, राज भारती की 'तुम्हारी जात क्या है', उपासना गौतम की 'असमानता के विरूद्ध संघर्ष', तबस्सुम का 'विरोध' सम्पत देवी पाल की 'समाज सेविका के रूप में मेरा जीवन', ज्योत्सना का 'जिंदगी की एक झलक', डॉ.रजनी अनुरागी की 'जो कह सकी' इत्यादि शामिल थे।

कविता लेखन- दलित स्त्री कविता सशक्त दलित स्त्री द्वारा लिखी गयी वे कविताएं हैं जो समाज के सबसे कमजोर तबके दलित-वंचित-शोषित-पीड़ित के हक के लिए खड़ी है। जाति, जेण्डर और वर्ग का सवाल इनकी कविताओं में प्रमुखता से आता है।

हिन्दी दलित कवियित्रियों में अनुसूया 'अनु' तू बन जा दीपक (बांवरी-काव्य संग्रह) ये हिन्दी की पहली दलित कवयित्री हैं। नीरा परमार का 'जंगल की आग' (काव्य संग्रह), कावेरी- 'अपना-अपना दर्द' (काव्य संग्रह), 'नई सुबह आ गई है', सुशीला टाकभौरे- 'ये तुम भी जानो', स्वाति बूंद और खारे मोती, हमारे हिस्से का सूरज, तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), अनिता भारती- एक कदम मेरा भी, रूख़साना का घर (काव्य संग्रह), रजनी तिलक- पदचाप, हवा सी बेचैन युवतियां (काव्य संग्रह), रजत रानी मीनू- पिता भी होते हैं माँ (काव्य संग्रह),

हेमलता महिश्वर- सम्यक मार्ग, नील नीले रंग के (काव्य संग्रह), रजनी अनुरागी-बिना किसी भूमिका के (काव्य संग्रह) सं.अनिता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी- यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कविताएं, पूनम तुषामड़- अम्मा, माँ मुझे मत दो, हमने छोड़ दिए हैं गांव, एक सफाईकर्मी मृतक का बयान, नरेश कुमारी-दोहरा अभिशाप, किरण देवी भारती-तीन-तेरह का जाल-बट्टा, पुष्पा विवेक- औरत कमजोर नहीं, फुटपाथ, ऊंचाईयों तक इत्यादि ।

कहानी लेखन : दलित स्त्री कहानियां पूरे भारत की सामाजिक व्यवस्था की जर्जर और जीर्ण-शीर्ण स्थिति का एक कच्चा-चिट्ठा खोलती हैं । ये कहानियां दलित स्त्री के दु:ख, जातिगत पीड़ा, लैंगिक शोषण और आर्थिक रूप से कमजोरी की व्यथा को मार्मिक रूप से प्रस्तुत करती हैं । इतना ही नहीं इन कहानियों में दलित स्त्री ने पारंपरिक शोषण से निजात पाना भी सीख लिया है और लड़ना भी । दलित स्त्री विषयक कहानियों में बाबासाहेब अम्बेडकर के तीन सूत्र 'शिक्षित बनो, संघर्ष करो और संगठित हो' की चेतना भी है । इसी चेतना से ओत-प्रोत दलित स्त्री की कहानियां हैं ।

नीरा परमार- बेदखल (कहानी संग्रह), कुसुम मेघवाल- जुड़ते दायित्व (कहानी संग्रह), कावेरी- द्रोणाचार्य एक नहीं (कहानी संग्रह), सुशीला टाकभौरे – संघर्ष, टूटता वहम, अनुभूति के घेरे, जरा सोचो (कहानी संग्रह), अनिता भारती- एक थी कोटेवाली (कहानी संग्रह), रजत रानी मीनू- हम कौन हैं (कहानी संग्रह), रजनी दिसोदिया- चारपाई (कहानी संग्रह), रजनी तिलक की पितृसत्ता के अनोखे पड़ाव (कहानी), किरण अग्रवाल की सेल, सुधा बुन्देला की बेबसी का सफर, पुष्पा भारती- जूता, हेमलता महिश्वर- बीच दखल बेदखल (कहानी संग्रह), एक और खाप पंचायत, राग की रागिनी, डॉ.सुमित्रा महरोल-कटघरे, प्रतिकार, आघात, त्रिशंकु, ज्योत्सना-चाबी, कौशल पंवार-दिहाड़ी, जोहड़ी, प्रतिरोध, पूनम तुषामड़- बिच्छू, बिंदिया, शबाना का शव, नीलम शंकर की रामबाई, रंजना जायसवाल-सिलसिला जारी है, सं.अनिता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी- यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कहानियां, धनेश्वरी गोस्वामी की पहल (कहानी)

जीवनी : ओवन एम.लिंच- सुजाता की सैन्य टुकड़ी

यात्रा-वृंत्तात : कुसुम मेघवाल- लंदन यात्रा

संस्मरण : छाया खोब्रागड़े- हमारी सखी मीनाक्षी मून

निबन्ध लेखन : सुशीला टाकभौरे- परिवर्तन जरूरी है

उपन्यास लेखन : कावेरी- शिखा, मिस रमिया, सुशीला टाकभौर- नीला आकाश, तुम्हें बदलना होगा

नाटक लेखन : सुशीला टाकभौरे -नंगा सत्य, व्हील चेअर

एकांकी : सुशीला टाकभौरे- रंग-व्यंग्य, समर्पित जीवन, अनिता भारती-दहाड़ उठा था सिंह

साक्षात्कार: सुशीला टाकभौरे- मेरे साक्षात्कार

आलोचनात्मक लेखन: सं.अनिता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी- यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, सं.रमणिका गुप्ता : स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण, विमल थोराट : दलित स्त्री का स्त्रीवादी स्वर, सं.मंजू सुमन : दलित महिलाएं, सं.मंजू सुमन : दलित नारी : एक विमर्श, सं.रजनी तिलक और रजनी अनुरागी : समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन, अनिता भारती: समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, बजरंग बिहारी तिवारी : दलित साहित्य विमर्श में स्त्री, रजत रानी मीनू : नवें दशक की हिन्दी दलित कविता, हाशिए के बाहर, हिन्दी दलित कथा साहित्य अवधारणा और विधाएं, अस्मितामूलक विमर्श और हिन्दी साहित्य, हेमलता महिश्वर : स्त्री लेखन और समय के सरोकार, राम नरेश राम : दलित स्त्रीवाद की आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति, तेज सिंह-अम्बेडकरवादी स्त्री-चिन्तन (सामाजिक शोषण के ख़िलाफ़ आत्मवृत्तात्मक संघर्ष), शर्मिला रेगे: दलित स्त्रीवादी दृष्टिकोण की ओर, गोपाल गुरू : दलित स्त्रियाँ अपनी बात अलग ढंग से रखती हैं (Dalit Women Talk Differentaly), उमा चक्रवर्ती : जाति, वर्ग और लिंग, जाति समाज में पितृसत्ता, निवेदिता मेनन : भारत में जाति और नारीवाद ।

पत्र-पत्रिकाएं : दलित स्त्री लेखन और उसकी वैचारिकी को मजबूत तथा प्रचारित और प्रसारित करने में पत्र-पत्रिकाओं का भी बड़ा योगदान रहा है जिसमें मुख्य रूप से 'युद्धरत आम-आदमी'

का 'हाशिए उलांघती स्त्री' भाग-1, 2, 3, 'मलमूत्र ढोता भारत' आदि, 'अपेक्षा' का दलित स्त्री आत्मकथा विशेषांक, कथादेश का 'अफ्रो-अमेरिकन अश्वेत स्त्री लेखन' विशेषांक आदि, 'फारवर्ड प्रेस', 'बयान', स्त्रीकाल का 'दलित स्त्रीवाद' विशेषांक, 'हम दलित', 'दलित प्रक्रिया' 'संवेद', 'हंस', 'दलित वार्षिकी', 'दलित टुडे', 'अभिमूकनायक' प्रमुख हैं।

ऐतिहासिक लेखन: सुशीला टाकभौरे- हिन्दी साहित्य के इतिहास में नारी 1994, भारतीय नारी: समाज और साहित्य के ऐतिहासिक सन्दर्भों में 1996

गैर-दलित स्त्री की मैला प्रथा पर मुकम्मल पुस्तक:भाषा सिंह– अदृश्य भारत

2.3.5 घायल की गति घायल जाणै, औरन भी सुध लेय : स्वानुभूति और सहानुभूति को आत्मसात करता दलित स्त्री विमर्श :

साहित्य में जब विमर्शों की बाढ़ आयी तब यह प्रश्न उठा कि स्त्री ही स्त्री साहित्य और दलित ही दलित साहित्य लिख सकता है किन्तु दलित स्त्री विमर्श के विचारकों का यह कहना है कि जिसको बाबासाहेब के दर्शन की समझ हो और जो बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर के विचारों से प्रभावित होकर लिखता है उसी का लेखन दलित स्त्री विमर्श में गिना जायेगा। चाहे वह स्त्री हो, दलित हो या गैर-दलित। किन्तु उसे दलित जीवन का गहरा यथार्थ बोध हो व संवेदना और सहानुभूति का दिखावा जिसमें लेश मात्र भी न हो।

इस पूरे दलित स्त्री लेखन में एक और नया कदम दलित पुरुषों, गैर-दलित स्त्रियों-पुरुषों के लेखन का भी देख सकते हैं जिन्होंने पूरी तन्मयता, सहानुभूति और ईमानदारी से दलित स्त्री के मुद्दों और दलित स्त्री जीवन के यथार्थ को समझा है। इनके लेखन को दलित स्त्री लेखन के अन्तर्गत शामिल करके देखा जाना चाहिए। गैर-दलित लेखकों में बजरंग बिहारी तिवारी का नाम उल्लेखनीय है। 'दलित साहित्य विमर्श में स्त्री', 'दलित स्त्री आंदोलन तथा साहित्य अस्मितावाद से आगे' इनके प्रमुख लेख हैं जो दलित स्त्री लेखन में महत्वपूर्ण और विचारशील कार्य है। इसी तरह से मैनेजर पाण्डेय, राजेन्द्र यादव, अभय कुमार दुबे, चमनलाल, स्वतन्त्र मिश्र, ए.असफल, संजीव चन्दन, वैभव सिंह, सर्वेश मौर्या आदि गैर-दलित रचनाकार हैं

जिन्होंने दलित स्त्री को केन्द्र में रखकर गम्भीर लेख लिखें हैं। गैर-दलित लेखिकाओं में उमा चक्रवर्ती, रमणिका गुप्ता, किंगसन सिंह पटेल, भाषा सिंह, चारू गुप्ता, अनामिका ने वैचारिक लेखन किया है। दलित लेखकों में डॉ.तुलसीराम, डॉ.रामचन्द्र, तेजसिंह, जय प्रकाश कर्दम, मोहनदास नैमिशराय, अजय नावरिया, कविता नन्दन सूर्य, कवितेन्द्र इन्दु, टेकचन्द आदि रचनाकार हैं जिन्होंने दलित स्त्री के यथार्थ के लेखन को विस्तार दिया है। ग़ौरतलब है दलित स्त्री विमर्श के साहित्यिक रचनाकारों में ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है कि जो दलित जाति में पैदा हुआ हो अथवा उसे दलित स्त्री होना चाहिए, वही केवल दलित स्त्री विमर्श पर लिख सकता है। क्योंकि ऐसा करने से हम जाति को और अधिक पुष्ट करेंगे और जाति उन्मूलन समाज की रचना कर पाने में असमर्थ होंगे।

निष्कर्षतः यह महज कोरी कल्पना और उपहास की अट्टालिका नहीं है बल्कि यह दलित स्त्री की विचारधारा और उसके आंदोलन का संघर्ष है जिसने बहुत ही कम समय में अपने लेखन को विस्तृत आकाश दिया है। इसका उद्देश्य एक ऐसे मानवतावादी समाज का निर्माण है जिसका सपना डॉ.भीमराव अम्बेडकर जी ने देखा था। उन्हीं के पथ पर चलते हुए, उनसे ऊर्जा ग्रहण करते हुए और उनके सपनों को पूरा करते हुए आज 'दलित स्त्री विमर्श' एक मानवतावादी, मुक्तिकामी विमर्श के रूप में समाज और साहित्य में अपनी पहचान बना रहा है।

तीसरा अध्याय
दलित स्त्री शोषण के आयाम

- लैंगिक शोषण
- जातिगत शोषण
- वर्गगत शोषण

हम गरीब / इसलिए करते हैं मजदूरी

लेकिन वही सिल्की बिस्तर उपहास करता है हमारा

जब हमारा दिन-दहाड़े बलात्कार होता है ।

अशुभ-अभागी हैं हमारी जन्मकुंडलियां ।

हमारे लड़खड़ाते पति भी

खटिया के एक कोने में पड़े हुए

फुफकारते और बदला लेने को चीखते हैं

अगर हम उनकी पकड़ न झेल सकें ।

-- तरेसम्मा (तमिल कवि)

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलित स्त्री दलितों में दलित है। दलित स्त्री 'स्त्री होने कारण पुरुष सत्ता से प्रताड़ित होती है तो वह दलित होने के कारण विशेष जातीय पहचान रखते हुए सामाजिक भेदभाव व विषमता का शिकार भी होती है। जातीय पूर्वाग्रह के चलते गैर-दलित जातियों के स्त्री व पुरुष दोनों उसका उत्पीड़न करने से नहीं चूकते। भारत जैसे अखण्ड और विशाल हृदय वाले देश में दलित स्त्री को खण्ड-खण्ड करके देखा जाता रहा है और उसके साथ वैसा ही क्रूर व्यवहार किया जाता रहा है। अपनी अक्षुण्ण संस्कृति के लिए प्रसिद्ध यह भारतीय संस्कृति जब एक स्त्री के साथ गलत व्यवहार करती है तो बहुत ही दुःख होता है किन्तु जब यही दलित-आदिवासी स्त्री के साथ अमानवीय व्यवहार करती है तो इस भारतीय संस्कृति पर बहुत ही शर्म आती है। दलित स्त्री आज मैला ढोने के लिए विवश, देवदासी जैसी ज़िंदगी जीने के लिए मजबूर, चुड़ैल, डायन करार देकर तथाकथित संभ्रान्तशाली समाज में नंगा घुमाये जाने के लिए अकेली बाध्य की जाती रही है। घर और बाहर उसका जीवन लांछित होता रहता है।

दलित स्त्री को आज भी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक, साहित्यिक अधिकार नहीं मिले हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्रीय दलित चिंतक विवेक कुमार के अनुसार **'दलित** महिलाएं भी अब निर्भीकता से अपने साथ दलित पुरुष एवं सामान्य पुरुष के दुर्व्यवहारों को अपनी लेखनी से उजागर कर रही हैं। आज दलित महिलाओं ने वैचारिकी के स्तर पर पूरे समाज को ही कटघरे में खड़ा कर दिया है। दलित महिलाओं ने सामाजिक संरचना में अपने आपको तिहरे अभिशाप से ग्रस्त बताया है। एक ओर जाति की मार, दूसरी ओर अपने वर्ग (गरीबी एवं आर्थिक वंचता) तथा तीसरी ओर लैंगिक शोषण के आधार पर वे तिहरे अभिशाप से उत्पीड़ित एवं शोषित हैं। परन्तु दलित महिलाओं की रचनाओं के समाजशास्त्रीय आकलन से यह ज्ञात होता है कि उनमें एक दृढ़ता, सकारात्मक संकल्प एवं घर के बाहर के शोषण को मूक होकर नहीं सहेंगी। दलित माँओं का यह संकल्प है कि वह अपनी बेटियों को इस तिहरे अभिशाप से अवश्य बाहर निकालेंगी। शिक्षा एवं आंदोलन इसका साधन होगा।'[137] इस अध्याय में एक तरफ दलित स्त्री के लैंगिक, वर्णीय और वर्गीय आधार पर शोषण तथा उत्पीड़न का चित्र खींचने की कोशिश की गयी है तो दूसरी तरफ उन पहलुओं का विश्लेषण किया गया

[137] डॉ.विजयपाल, डॉ.विवेक कुमार: दलित साहित्य का समाजशास्त्र, श्री नटराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2014, पेज नं.10

है जिसमें निरन्तर वह नारकीय जीवन जीने को मजबूर की जाती रही है। दलित स्त्री के तिहरे शोषण के पीछे क्या परिस्थितियां रही हैं, उसके उत्पीड़न का आधार क्या हैं, कौन से ऐसे सूक्ष्म तत्व हैं जिनका वह निरन्तर सामना करती है ऐसे ही कुछ प्रश्नों से सामना करते हुए इस अध्याय का समाजशास्त्रीय मूल्यांकन किया जायेगा।

3.1 लैंगिक शोषण

लिंग के आधार पर होने वाला शोषण भारत में कोई नई धारणा नहीं है। यह पितृसत्तात्मक व्यवस्था के तहत स्त्री के ऊपर अपना वर्चस्व स्थापित करने की एक रची रचायी साजिश है। जो भारत में बदस्तूर जारी है। इसे 'सामाजिक संरचना और क्रियाओं की एक ऐसी व्यवस्था, के रूप में परिभाषित किया जाता है, जिसमें पुरुषों का स्त्रियों पर वर्चस्व रहता है, और वे उनका शोषण और उत्पीड़न करते हैं।'[138] इस प्रकार पितृसत्ता पुरुषों द्वारा संचालित और संस्थापित वह व्यवस्था है जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों के अधीन हैं। उमा चक्रवर्ती का पितृसत्ता पर उल्लेखनीय काम है। उन्होंने जातिव्यवस्था के अन्तर्गत व्याप्त पितृसत्ता के सूक्ष्म रूपों का सटीक विश्लेषण किया है। उनका मानना है कि "पितृसत्ता और लिंग संबंध के भिन्न-भिन्न रूप सामाजिक-गठन और उसमें विकसित हुए पितृसत्ता के बीच के बुनियादी जुड़ाव की धारणा को पुष्ट करते हैं। अलग-अलग क्षेत्रों और समयावधियों का अन्वेषण करने पर हम एक जाति आधारित पितृसत्ता को जनजातीय पितृसत्ताओं से भिन्न पाते हैं। पितृसत्ता के रूपों की जटिलताओं का अध्ययन जरूरी है, लेकिन इस क्रम में यह तथ्य भी जेहन में रखना जरूरी है कि वर्चस्वशाली व्यवस्था, मसलन पितृसत्ता के ब्राह्मणवादी रूप ने भी अपने निकटवर्ती सामाजिक गठनों की पितृसत्ताओं को प्रभावित किया है।"[139] अतः देखा जाए तो पितृसत्ता के वर्चस्वशाली रूप के साथ-साथ जनजातीय पितृसत्ता का प्रभाव भी अस्तित्व में रहा है। उमा चक्रवर्ती ने हिन्दुओं के प्राचीन ग्रंथों का जेण्डर के आधार पर अध्ययन-विश्लेषण किया है। जहां वो उन ग्रंथों में भी पितृसत्ता की मौजूदगी को पाती हैं। वे लिखती हैं-"पुरुषसूक्त के विश्लेषण से समाज की पितृसत्तात्मक प्रकृति का पता चलता है

[138] उद्धृत, लेख- पितृसत्ता पर एक नोट, उमा चक्रवर्ती, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, सं.साधना आर्य, निवेदिता मेनन. जिनी लोकनीता, हिन्दी कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, चौथा पुनर्मुद्रण, अक्टूबर, 2013, पेज नं.1

[139] उद्धृत, स्त्रीकाल, दलित स्त्रीवाद विशेषांक, 2014,पेज नं.25

। मसलन, इसमें हम पुरुष योद्धाओं का गुणगान कुछ ज़्यादा ही पाते हैं, जबकि उषा, अदिति और सूर्या के लिए कुछ ही श्लोक हैं। इन श्लोकों में भी उन्हें वैसी महत्ता नहीं दी गयी है जैसी कि इन्द्र जैसे देवताओं की वीरता के गुणगान में हम पाते हैं। दूसरों से सातवें मंडल तक का हिस्सा ऋग्वेद के आंरभिक हिस्सों में से एक है। इसमें भी जहां 407 श्लोक देवताओं के लिए हैं, वहीं देवियों के लिए केवल 22 श्लोक। साथ ही इन्द्र और उषा के बीच तनाव या द्वन्द्व के होने की संभावना का जिक्र भी हम ऋग्वेद के एक श्लोक में पाते हैं।"[140] इस प्रकार प्राचीन काल में हिन्दू धर्मग्रंथों में भी पितृसत्ता के विभिन्न रूप उपस्थित हैं। पितृसत्ता ने स्त्री पर सदियों से वर्चस्व स्थापित किया है। किन्तु यही पितृसत्ता दलित स्त्रियों के साथ किस तरह का व्यवहार करती है, यह जानना बेहद जरूरी हो जाता है।

दलित स्त्री का लैंगिक उत्पीड़न अत्यन्त भयावह तरीके से होता है क्योंकिभारतीय सामाजिक व्यवस्था में वह अति निम्न मानी जाती है। हालांकि सवर्ण स्त्रियों का भी शोषण होता है किन्तु सवर्ण स्त्रियाँ अपनी जातिगत श्रेष्ठता के कारण बच जाती हैं। घर और बाहर दलित स्त्री लैंगिक अत्याचारों से दबी हुई है। चूंकि समाज में उसका स्तर निम्न है जिसके कारण वह अपने प्रति शोषण के ख़िलाफ़ कुछ बोल भी नहीं सकती है। उसे इतनी आज़ादी ही नहीं है कि वो जाति की निम्नता और लैंगिक अत्याचारों का खुलकर विरोध कर सके। दलित स्त्री के उत्पीड़न के संबंध में दलित विचारक मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं –"दलित महिलाओं की त्रासदी यह है कि उन्हें एक गाल पर ब्राह्मणवाद का तो दूसरे गाल पर पितृसत्ता का थप्पड़ खाना पड़ता है।' 'समाज में दलित महिलाएं दो अलग-अलग तरह का पितृसत्तात्मक नियन्त्रण झेलती हैं। पहला जाति की शुद्धता पर टिकी अधिक वर्चस्वशाली ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का तथा दूसरा अपने समुदाय/ समाज की महिलाओं को अपनी सम्पत्ति मानते हुए दलित समुदायों में उन पर कायम किया गया नियन्त्रण।"[141]

दलित स्त्रियाँ जिस ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की शिकार हैं, सवर्ण स्त्री भी इसी से प्रताड़ित है किन्तु दलित स्त्रियों का यह शोषण तब बहुआयामी हो जाता है जब अपने ही घर में वे अपने घर के पुरुषों द्वारा सतायी जाती हैं। यहीं पर आकर दलित स्त्री और गैर-दलित स्त्री के शोषण के आयामों में

[140] वही, पेज नं.27

[141] अभय कुमार दुबे (2002) आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.230

मुख्य अन्तर नज़र आता है। फिर भी ब्राह्मणवादी पितृसत्ता पूरे सामाजिक व्यवस्था के लिए कितनी क्रूर और ताकतवर हो सकती है। इसे तेज सिंह ने सही शब्दों में विश्लेषित किया है- "यह सही है कि बहुजन समाज के विभिन्न समुदायों के सामाजिक अनुभवों का स्तर अलग-अलग है लेकिन ब्राह्मणी पितृसत्तात्मक स्तर पर होने वाले सामाजिक अनुभवों में कोई मौलिक अंतर नहीं है। सभी समुदायों की स्त्रियाँ समान रूप से ब्राह्मणी पितृसत्ता से पीड़ित और शोषित हैं। ब्राह्मणी पितृसत्ता जाति और जेंडर पर आधारित है जबकि अन्य समाजों की पितृसत्ताएं केवल जेंडर पर आधारित हैं। इसलिए भारत की ब्राह्मणी पितृसत्ता दुनिया के समाजों की पितृसत्ताओं में से सबसे अधिक विकृत और अमानवीय है। ब्राह्मणी पितृसत्ता स्त्रियों को सभी मानवीय और जनतांत्रिक अधिकारों से वंचित कर पुरुष की अधीनता स्वीकार करने के लिए मजबूर करती है।"142 तेज सिंह दुनिया की पितृसत्ता के तुलनात्मक अध्ययन-विश्लेषण पर जोर देते हैं और इस तरह वे भारत में व्याप्त ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को सबसे उत्पीड़नकारी, शोषणकारी और अन्यायपूर्ण बताते हैं। ग़ौरतलब है कि इसी ब्राह्मणवादी पितृसत्ता ने सभी स्त्री वर्ग को उसके मौलिक अधिकारों से वंचित कर दिया। तेजसिंह न केवल दलित महिलाओं के शोषण की बात करते हैं बल्कि वो गैर-दलित महिलाओं की भी सुध लेते हुए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को घातक बताते हैं। सवर्ण स्त्री-पुरुषों द्वारा तो दलित स्त्री का शोषण होता ही है साथ ही वह दलित पितृसत्ता द्वारा भी उतनी शोषित होती है। इस प्रकार भारतीय सामाजिक व्यवस्था में उसका दोहरा शोषण होता है।

पितृसत्ता के दोहरे मानदण्ड को स्पष्ट करते हुए उमा चक्रवर्ती लिखती हैं कि "पितृसत्ता के तहत स्त्री की यौनिकता पर नियन्त्रण के अलावा उसकी पुरुषों के तहत अधीनता से पुरुषों को उसकी उत्पादक या श्रम शक्ति पर नियन्त्रण की क्षमता भी प्राप्त हो जाती है। घर के भीतर और बाहर स्त्रियों की उत्पादकता पर पुरुषों का नियन्त्रण रहता है और यह फैसला भी उन्हीं के हाथ में रहता है कि वह घर के बाहर जाकर काम करेंगी या नहीं। स्त्रियों के श्रम पर नियन्त्रण का अर्थ है कि पुरुष स्त्रियों के अधीनीकरण से आर्थिक लाभ प्राप्त करते हैं दोहरे नियन्त्रण, यानि स्त्री की यौनिकता और श्रम पर नियन्त्रण के चलते उनकी आने-जाने की आज़ादी बुरी तरह सीमित हो जाती है। इसके लिए ऐसी परंपराओं और रीति-रिवाजों का सहारा लिया जाता है जो उसे घर की चारदीवारी या अन्य

[142] सं.तेज सिंह : अम्बेडकरवादी स्त्री-चिंतन, सामाजिक शोषण के ख़िलाफ़ आत्मवृत्तात्मक संघर्ष, दो शब्द

परिभाषित दायरों में बांध देते हैं । नियंत्रणों की पूरी संरचना, महिलाओं को उत्पादक संसाधनों तक सीधी पहुंच से वंचित रखने और उन्हें पुरुषों पर निर्भर बना देने के जरिए सुगम हो जाती है ।"[143] दलित महिलाओं के संबंध में यह बात ज़्यादा सही जान पड़ती है । पितृसत्ता ने स्त्री के चहुंमुखी विकास में बाधा तो पहुंचायी ही है साथ ही उसके श्रम और उस पर पुरजोर नियन्त्रण करके प्रत्येक प्रगति में बाधक भी सिद्ध हुआ है । 'मार्क्स और एंगेल्स ने 'द होली फैमिली' में मानव-मुक्ति की वास्तविक स्थिति जानने के लिए फूरियर का यह कथन निकष के रूप में प्रस्तुत किया था । 'ऐतिहासिक युग परिवर्तन हमेशा इस बात से तय होता है कि मुक्ति की ओर औरतों ने कितनी तरक्की की है-क्योंकि औरत से मर्द के सम्बन्ध में यानी कमजोर से ताकतवर के सम्बन्ध में ही बर्बरता के ऊपर मानवीय व्यवहार की विजय साफ़ तौर पर नज़र आती है । मानव मुक्ति का स्वाभाविक पैमाना है कि नारी मुक्ति किस हद तक पहुंची ।"[144]

यह प्रश्न उठना मानीख़ेज़ है कि सवर्ण स्त्री पितृसत्ता अर्थात लैंगिक शोषण की शिकार तो है ही किन्तु दलित स्त्रियाँ लैंगिक शोषण की कितनी शिकार हैं ? दोनों के शोषण में क्या कोई अन्तर है ? जहां सवर्ण स्त्रियाँ घर के अन्दर होने वाले लैंगिक शोषण से दो-चार होती हैं वहीं दलित स्त्रियों का लैंगिक आधार पर होने वाला शोषण बहुआयामी है क्योंकि सवर्ण समाज के पुरुषों द्वारा तो उसका शोषण होता ही है साथ ही अपने घर के अन्दर दलित पुरुष द्वारा भी उसका लैंगिक उत्पीड़न होता है । इस तरह से वह घर और बाहर दोनों तरफ पितृसत्ता की मार सहती है । लैंगिक अत्याचार और भेदभाव (पितृसत्ता) की अभिव्यक्ति दलित स्त्री रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में किया है । 'शिकंजे का दर्द' की लेखिका सुशीला टाकभौरे जब नौकरी करती है तब उसे घर और बाहर दोनों तरफ के शोषण से दो-चार होना पड़ता है । किन्तु घर का जो आन्तरिक शोषण है वह बहुत ही वीभत्स है । वह लिखती हैं.."गांव में जाति भेद-भाव अधिक होने के कारण हमेशा पीछे रहने की आदत थी । इज़्ज़त लुटने जैसी दुर्घटनाओं के भय से पिता और भाईयों ने कभी अकेले कहीं जाने नहीं दिया था । प्रगति परिवर्तन की

---

[143] लेख- पितृसत्ता पर एक नोट-उमा चक्रवर्ती, नारीवादी राजनीति संघर्ष एवं मुद्दे, पेज नं.3

[144] उद्धृत-लेख बजरंग बिहारी तिवारी : दलित साहित्य-विमर्श में स्त्री, पेज नं.30, कथादेश, जनवरी 2003, उद्धरण-'द होली फैमिली' कार्ल मार्क्स और फ्रैडरिक एंगेल्स, फारेन लैंग्युएज पब्लिशिंग हाउस मास्को, संस्करण 1956, पेज नं.258

बातें तब वहां नहीं थी।''[145] यहां एक बात उल्लेखनीय है कि जो नियम मनु ने स्त्रियों पर लगाए थे कि पिता, पति और पुत्र के संरक्षण में स्त्रियों को रहना चाहिए। वही नियम दलितों ने अपने घरों में अपनी स्त्रियों पर भी लगा रखे हैं। ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की यही चाल है जो मनु के नियमों का अक्षरशः पालन करती है तथा स्त्रियों की प्रगति में बाधा उत्पन्न करती है। इस संबध में राजेन्द्र यादव की टिप्पणी उचित जान पड़ती है कि- "हमारे समाज में नैतिकता के सारे मानदंड स्त्री-शरीर से तय होते हैं और उनका निर्वाह केवल स्त्री को ही करना पड़ता है। सेक्स के मामले में स्त्री का जो शोषण होता है उस अनुभव को केवल स्त्री ही जानती है। उम्मीद है दलित स्त्रियाँ उस अनुभव को लिखेंगी।"[146] ऐसा नहीं है कि दलित स्त्री विमर्श के आने पर दलित स्त्रियों का शोषण अधिक होने लगा है, यह शोषण तो सदियों से चला आ रहा है जब से पितृसत्ता प्रभुत्व में आयी है। हां, यह बात हो सकती है कि दलित स्त्रियों ने अब इसे कलमबद्ध करना शुरू कर दिया है। दलित स्त्रियों के लैंगिक शोषण की सुध तो बहुत पहले से ली जा रही थी। दलित स्त्री की दारूण दशा को 1927 के चांद के अछूत अंक में बहुत पहले ही विस्तृत रूप से रेखांकित किया गया था। 'अछूत और व्यभिचार' शीर्षक लेख में अछूत नारी की दयनीय स्थिति का मार्मिक वर्णन है। वे घर और बाहर की मार से बहुत प्रताड़ित हैं। इस संदर्भ में एक उल्लेखनीय उदाहरण देख सकते हैं- "द्विजातियों के समान ही शूद्र और अछूत जातियों में भी रमणी का स्थान हेय और निकृष्ट है। यद्यपि शूद्र और अछूत जातियों की अनेक नारियां अपने पुरुषों के समान बाहर निकल कर परिश्रम-साध्य कर्मों के द्वारा पैसा पैदा करती हैं; पर तो भी उनकी परतन्त्र स्थिति पर इसका रत्ती भर प्रभाव नहीं पड़ता है; और उन्हें अपनी उच्च-जाति की बहिनों के समान ही पुरुषों की परिचारिका एवं नित्य आज्ञानुकारिणी बन कर अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। सिद्धान्त रूप से चाहे यह बुरा न हो; पर वर्तमान काल में स्त्रियों की दारूण दुर्दशा का एक मूल कारण यह भी है कि उन्हें बात-बात में पुरुषों की मुखापेक्षिणी बनना होता है; और उचित एवं अनुचित सभी विषयों में पुरुषों को अपना नित्य ज्ञानवान पथ-प्रदर्शक मान कर, संसार के जटिल मार्ग पर चलना पड़ता है। पुरुष प्राकृतिक रूप से बल और वीर्य का प्रधान केन्द्र है, इसलिए वह रमणी जाति का रक्षक तथा नेता बन कर उसे विश्व के जटिल एवं कण्टककीर्ण मार्ग पर अपने तत्वाधान में लेकर चले, तो इसमें न तो

[145] सुशीला टाकभौरे (2012) शिकंजे का दर्द', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.142

[146] उद्धृत, अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, लेख.मोहनदास नैमिशराय: दोनों गालों पर थप्पड़, पेज नं.237

कुछ हानि है, और न आश्चर्य; पर स्त्रियों की परवशता और उनकी स्वाभाविक निर्बलता एवं भीरूता से अनुचित लाभ उठा कर पुरुषों ने अपनी काम क्रीड़ा का साधन एवं अपने उच्छृंखल उन्माद की शान्ति का उपाय बना लिया है। जो बात उच्च-जाति के पुरुषों ने की, वही बात अछूत तथा शूद्र जाति के पुरुषों ने भी मान ली। अछूत जाति के पुरुषों ने भी रमणी को अपने से नीच, निकृष्ट एवं निर्बल मान कर उसे अपने उच्छृंखल एवं अत्याचार के यन्त्र में बांध दिया !"[147] दलित स्त्रियों के साथ लैंगिक शोषण के इस तन्त्र को समझना अनिवार्य होगा कि कैसे ब्राह्मणवाद से पितृसत्ता को ग्रहण करते हुए दलित पुरुषों ने भी अपने घरों में दलित पितृसत्ता स्थापित कर ली है।

प्रसिद्ध दलित चिन्तक कांचा इलैया दक्षिण भारत के बीच दलित स्त्रियों की जीवन स्थितियों तथा उनके ऊपर पितृसत्ता के प्रभाव को कुछ अलग ढंग से प्रस्तुत करते हैं। उनका मानना है कि दलित स्त्रियाँ श्रमशील होने के कारण अपेक्षाकृत स्वतन्त्र होती हैं। वे दलित समाज में पितृसत्ता के स्वरूप को भी अलग करके देखते हैं। दलित समाज में लोकतान्त्रिक पितृसत्ता की उपस्थिति को पाते हुए कांचा इलैया लिखते हैं- "दलित बहुजनों के बीच परिवार के भीतर और समुदायगत परिवेश में राजनीतिक सम्बन्ध मूलरूप से लोकतान्त्रिक हैं। माता-पिता और बच्चों के सम्बन्ध के रूप में राजनीति यहां जिस रूप में काम करती है, वह पितृसत्तात्मक व्यवहार है जो लगभग सभी जातियों में मौजूद है। दलित बहुजन भी उस अवगुण से मुक्त नहीं है लेकिन पिटने वाली पत्नी को यह अधिकार है कि वह बदले में चिल्लाकर पति को गालियां देकर और अगर सम्भव हो तो पति को पीटकर उस हमले को सार्वजनिक बना सकती है।"[148] कांचा इलैया भले ही दलित स्त्री को यह अधिकार देते हैं कि वह चाहे तो पूरे हक़ से अपने पति को पीटकर अपना बदला ले सकती है किन्तु यहां प्रश्न उठता है कि कितनी दलित स्त्रियों को यह अधिकार है कि वह अपने पति को गाली भी दें और उसे मारें भी तथा साथ-साथ जीवन भी निबाह कर सकें। जबकि घर के बाहर भी सवर्ण पुरुष उसका लैंगिक शोषण करते हैं।

[147] चांद -अछूत अंक, वर्ष 5, खण्ड, 2, संख्या 1, पहली आवृत्ति-1938, पेज नं.173-174

[148] कांचा इलैया 'मैं हिन्दू क्यों नहीं हूं, आरोही बुक ट्रस्ट, उत्तमनगर दिल्ली, पेज नं.36

इसी कड़ी में अगर हम दलित लेखिकाओं द्वारा उनकी रचनाओं के माध्यम से उनके जीवन के कटु अनुभवों को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि दलित स्त्रियाँ अपने निजी जीवन में कितनी स्वतन्त्र हैं ? उनके यहां दलित पितृसत्ता का क्या रूप है ? दलित घरों में व्याप्त दलित पितृसत्ता के मनुवादी चेहरे को अपनी आत्मकथा में उद्घाटित करते हुए अपने पति के अत्याचारों के विषय में सुशीला टाकभौरे लिखती हैं.."वे चाहते थे, मैं अपना पूरा वेतन हमेशा उन्हें देती रहूं, कभी कोई हिसाब न माँगूं । हमेशा उनके बड़प्पन को मानती रहूं, कभी उनसे कोई सवाल-जवाब न करूं । ऐसा न करने पर मैं हिंसा की शिकार बनती । छोटी सी बात होते ही छड़ी उठा लेते, वे छड़ी हमेशा संभालकर, छिपाकर रखते थे ।.... मेरे साथ घर में मारपीट-गाली-गलौज सब कुछ हुआ । बाल पकड़कर खींचना, लातों से मारना, गर्दन पर मुक्के बनाकर मारना-मैंने सब कुछ सहा । बेंत के निशान कई दिनों तक मेरे शरीर पर रहते थे । मार खाने के बाद मेरी हालत यह होती थी-घंटों सिर चकराता, जैसे मैं हवा में उड़ रही हूं, ज़मीन से फिसल रही हूं, बड़े-बड़े पत्थर मेरी तरफ लुढ़कते आ रहे हैं, जैसे भागता हुआ हाथी आकर अचानक मेरे सिर पर पैर रखकर मुझे कुचल रहा है ।"[149]

हिन्दी की दलित स्त्री आत्मकथाओं की तरह ही मराठी आत्मकथाओं में भी दलित पितृसत्ता देखने को मिलती है । मराठी लेखिका बेबी कांबले ने अपनी आत्मकथा 'जीवन हमारा' में दलितों में व्याप्त ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के ऐसे सूक्ष्म परतों को उघाड़ा है जिसका रूप हमें उच्च जाति में देखने को मिलता है । वे लिखती हैं.. "यही वह बिंदु था, जहां से मेरे पिता को दानवीर होने का चस्का लग गया । उस समय यह दिखाने के लिए कि आप दूसरों से विशिष्ट हैं, घर की स्त्रियों को देहरी से बाहर नहीं आने दिया जाता था । अपनी स्त्री को किसी ने देखा नहीं, यह बात भीतर-से-भीतर गर्व भरती रहती । आस-पड़ोस, गांव-भर में इस बात की चर्चा रहती कि फलां पंढरीनाथ मिस्त्री की औरत का नाखून तक किसी ने नहीं देखा । इस तथ्य को बड़े अभिमान से रेखांकित किया जाता कि फलाने की स्त्री को देहरी में फैली धूप तक का पता नहीं रहता है । मेरे पिता ने भी मेरी माँ को पिंजरे की मैना बनाकर रखा हुआ था ।"[150] दलितों में भी ऐसी प्रथा का आना दलित पुरुषों में दलित ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को दर्शाता है ।

---

[149] सुशीला टाकभौरे, शिंकजे का दर्द, पेज नं.196

[150] बेबी कांबले (2009) जीवन हमारा, अनु. ललिता अस्थाना, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.15

इसी तरह कौसल्या बैसंत्री भी अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में दलित पितृसत्ता के वीभत्स रूप के यथार्थ को सामने रखा है।

कुछ दलित पुरुष रचनाकारों ने भी अपनी रचनाओं में दलित पितृसत्ता का एक ऐसा पक्ष पाठकों के समक्ष रखा है जिससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि चाहे दलित स्त्री रचनाकार हो या दलित पुरुष रचनाकार दोनों समाज में दलित पितृसत्ता के दंश को महसूस करते हैं। तुलसीराम की 'मुर्दहिया' में दलित पितृसत्ता का बहुत ही क्रूर चेहरा दिखायी देता है जब लेखक के पिता अपनी पत्नी यानि लेखक की माँ पर बार-बार हाथ उठाते हैं और बालक तुलसीराम को ही यह कदम उठाना पड़ता है कि एक दिन वो अपने पिता पर ही वार कर देता है। उसके बाद से फिर कभी उनके पिता ने अपनी पत्नी पर हाथ नहीं उठाया। उदाहरण स्वरूप-''मेरी माँ बस्ती के किसी भी व्यक्ति से बात करती, पिता जी तुरन्त उसके चरित्र पर उंगली उठाना शुरू कर देते थे। वे माँ को बहुत भद्दी-भदी गालियां देने लगते थे।.....वे अकसर माँ को फरूही से मारने दौड़ पड़ते थे। .....धीरे-धीरे मेरे मस्तिष्क में पिता जी के प्रति असीम घृणा उत्पन्न होने लगी। मेरी इस घृणा की पराकाष्ठा शीघ्र ही पिता जी के प्रति हिंसा में बदल गई।'...'सन् 1961 के ही जाड़ों की बात है, पिता जी माँ को मारने के लिए फरूही लेकर दौड़े। मैं वहीं खड़ा था। मैंने बहुत जोर से पिता जी को एक तमाचा मारा। उन्होंने मुझे उलटकर वैसे ही मारा। उनका तमाचा इतना जोर था कि मैं कुछ देर के लिए चौंधिया-सा गया था। मुझे कुछ पल के लिए कुछ भी दिखाई नहीं दिया। मुझे ऐसा लगा कि मानो मैं अंधा सा हो गया। किन्तु इस घटना का परिणाम यह हुआ कि आगे पिता जी माँ को मारने से घबराने लगे। बस्ती के लगभग सभी लोगों ने मुझे सही ठहराया। आगे चलकर पिता जी के प्रति मेरी घृणा विकराल रूप लेती चली गई।"[151] इस प्रकार देखें तो दलित पुरुष भी उतने ही पितृसत्तावादी हैं जितने कि सवर्ण। लेखक के पिता का उसकी माँ पर चरित्र हनन का आरोप लगाना ठीक उसी तरह है जिस तरह डॉ.धर्मवीर का समूचे दलित स्त्रियों के ऊपर आरोप लगाना।

[151] तुलसीराम (2012) मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.126

दलित पुरुष भी दलित स्त्री पर घरेलू अत्याचार करने से बाज नहीं आता । दलित स्त्री रचनाकार दलित पितृसत्ता का सच्चा चेहरा अपनी रचनाओं में उघाड़ती चलती हैं, जो लोग यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि दलित समाज में पितृसत्ता मौजूद नहीं उनके लिए यह एक जवाब है । सवर्ण और दलित पितृसत्तात्मक शोषण की विद्रूपता को चल्लापल्ली स्वरूपारानी अपनी कविता की पंक्तियों में अभिव्यक्त करती हैं-

'अरे हां....अपनी ज़िंदगी को मैंने जिया कब ?

घर में पुरूषाहंकार एक गाल पर थप्पड़

मारता है तो

गली में वर्ण आधिपत्य दूसरे गाल पर चोट करता है ।'

पितृसत्ता समाज में क्रूर तरीके से अपना काम करती है, दलित स्त्रियाँ इसकी सबसे बड़ी शिकार रही हैं । सवर्ण और दलित पितृसत्ता दोनों की मार को दलित स्त्री सहती है । हिन्दी और मराठी के अतिरिक्त बांग्ला के दलित लेखन में भी दलित स्त्री समाज में पुरुषों द्वारा किए गये हिंसक अत्याचार देखने को मिलता है । बांग्ला लेखिका बेबी हालदार अपनी आत्मकथा 'आलो आंधारि' में पति द्वारा अपने ऊपर हुए लैंगिक शोषण का खुलकर वर्णन करती हैं-'उसने मेरे बाल पकड़ लात-घूसों से मुझे मारना शुरू कर दिया । फिर वह चिल्लाने लगा, एई साली ! तुझे वहां जाने को मना किया, फिर भी तू जाती है ! गालियां दे-देकर वह मुझे फिर लात-घूंसों से मारने लगा । वह मुझे मार रहा था और सड़क पर आने-जाने वालों में से कोई भी यह नहीं कह रहा था कि, मारो मत !"[152] घर की परिस्थिति न ठीक होने पर जब दलित स्त्री घर से बाहर आजीविका के लिए जाती है तो यह दलित पुरुष उसके चरित्र पर आक्षेप भी लगाता है । लैंगिक शोषण का यह वीभत्स रूप हमें हिन्दी की दलित स्त्री रचनाकारों के अलावा मराठी, बांग्ला, कन्नड़ इत्यादि दलित स्त्री रचनाकारों के यहां भी देखने को मिलता है ।

[152] बेबी हालदार (2003) आलो आंधारि, बंगाल से अनुवाद : प्रबोध कुमार, रोशनाई प्रकाशन, कांचरापाड़ा, पश्चिम बंगाल, पेज नं. 67

3.1.2 दलित स्त्री : दुहरे शोषण के बीच पिसती इज्जत (बलात्कार)

बलात्कार एक ऐसा अपराध है जो भारत में स्त्रियों के साथ बड़े पैमाने पर घटित होता है। स्त्रियों के साथ होने वाले बलात्कार भी कई रूप के होते हैं। हम इसे कई वर्गों एवं रूपों में बांट कर देख सकते हैं। जमींदार बलात्कार, अधिकारी वर्ग और जाति बलात्कार। क्रमशः देखा जाय तो जमींदार बलात्कार के अंतर्गत जमींदार अपने अधीन बंधुआ स्त्री मजदूरों या फिर दैनिक मजदूरी करने वाले बंधुआ पुरुष मजदूरों की पत्नियों के साथ बलात्कार करने को अपना अधिकार समझते हैं। अधिकारी वर्ग के अंतर्गत वह बलात्कार आता है जहां बड़े-बड़े उच्च घरों के अधिकारी अपनी कनिष्ठ स्त्री सहकर्मियों और कारखाना मालिक और ठेकेदार अपने कारखानों, गोदामों में काम करने वाली स्त्रियों से बलात्कार करते हैं। '**जाति बलात्कार** भारतीय समाज की बेहद उत्पीड़नकारी और वीभत्स श्रेणी के अंतर्गत आता है। इसमें ऊंची जातियों के समृद्ध लोग नीची जातियों, दलितों-आदिवासियों आदि की महिलाओं से बलात्कार करते हैं। इसके अतिरिक्त वर्ग बलात्कार, पुलिस बलात्कार एवं सेना बलात्कार की भी श्रेणियां हैं।'[153] भारत में कई अन्य बलात्कार ऐसे भी हैं जो अपराध की श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आते हैं और उन पर कोई कानूनी कार्यवाही नहीं होती है जिनमें विवाह के अन्तर्गत होने वाला बलात्कार, घर में परिवार के अंदर होने वाला बलात्कार, अवयस्क बालिका बलात्कार तथा वेश्या के साथ बलात्कार इत्यादि प्रमुख हैं।

भारत में होने वाले बलात्कारों का राधा कुमार ने आंकड़ा प्रस्तुत किया है- "बलात्कार एक ऐसा अपराध है जिसकी सूचना भारत में सबसे कम दर्ज कराई जाती है। पुलिस अनुसंधान एवं विकास ब्यूरो नई दिल्ली द्वारा उपलब्ध कराए गए आंकड़ों के अनुसार, सन् 1972 में सारे देश में बलात्कार के 2,562 मामले दर्ज कराए गये; सन् 1975 में यह संख्या बढ़कर 3,283; सन् 1978 में 3,899 हो गई। आठवें दशक के अन्त तक यह संख्या बढ़कर लगभग दुगुनी यानी सन् 1986 में 7,317, वर्ष 1987 में 7,645 हो गई।"[154] कुछ नारीवादियों ने बलात्कार के इन आंकड़ों पर यह सन्देह व्यक्त किया है

[153] राधा कुमार (2009) स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, तृतीय संस्करण, पेज नं.260

[154] राधा कुमार : स्त्री संघर्ष का इतिहास, इलेस्ट्रेटड वीकली ऑफ इंडिया के 28 जनवरी -3 फरवरी के अंक में 'बलात्कार' पर राधा राजाध्यक्ष द्वारा लिया गया फ्लाविया अविन्स का साक्षात्कार', पेज नं.260

बलात्कार की संख्या में इतनी अधिक वृद्धि वास्तविक नहीं है। जबकि 1987 के बाद से 2017 तक का आकड़ां देखा जाय तो स्थितियां और भी भयावह हो गई हैं।

बलात्कार बलात्कारी द्वारा किया गया एक जघन्य अपराध है। बलात्कार की शिकार सवर्ण और दलित महिलाएं दोनों होती हैं, किन्तु प्रश्न यह उठता है कि बलात्कार की ज़्यादा शिकार केवल दलित महिलाएं ही क्यों हैं ? इस संदर्भ में मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि 'असल में सवर्ण आतताइयों की नज़र में औरत और दलित एकसमान नहीं हैं। अखबार की खबरें हमें बताती हैं कि बलात्कार करने या किसी भी औरत को नंगा करने या उसे जान से मारने से पूर्व पुरुष को या तो पहले से ही संभावित शिकार स्त्री के बारे में मालूम होता है या वह पूछ कर उससे अभद्र व्यवहार करता है।'[155] दलित स्त्री के साथ बलात्कार की घटनाएं इसलिए भी अधिक होती हैं क्योंकि परिवार का पेट पालने के लिए उसे घर से बाहर जाकर श्रम करना पड़ता है। कुछ दलित महिलाएं खेतों में मजदूरी करती हैं, कुछ खदानों में काम करती हैं, कुछ सड़कों पर पत्थर तोड़ती हैं और कुछ सवर्णों के घरों में झाड़ू-पोछे, बर्तन धोने-साफ़-सफ़ाई का काम करती हैं, जहां उन्हें यौन-शोषण का शिकार बनाया जाता है।

कभी-कभी ऊंची जातियों द्वारा निम्न जाति की महिलाओं को सबक सीखाने और नीचा दिखाने के लिए उनसे बलात्कार किया जाता है। प्रसिद्ध लेखिका मणिमाला दलित-आदिवासी महिलाओं को निर्वस्त्र किये जाने की ऐसे ही एक घटना का उल्लेख करती हैं। 'उत्तर प्रदेश के प्रतापगढ़ जिले में पुलिस द्वारा एक विधवा दलित महिला को नंगा कर गांव में घुमाया गया। उस दलित महिला के साथ ऐसा करने के पीछे यह कारण था कि वह आत्मनिर्भर हो गई थी। मुंबई रेल में काम करने लगी थी। जिसके कारण उसमें आत्मसम्मान की भावना आ गयी थी तथा गांव में सिर उठा कर चलना तथा अन्याय का विरोध करना भी उसने सीख लिया था। वह मुंबई में रहकर नौकरी करने लगी थी। उसके घर के कुछ सदस्य गांव में ही रह गये जहां उनकी थोड़ी बहुत ज़मीन है। उसका घर भी है। तहसील ने उसका ज़मीन और घर दोनों को लीज पर दे दिया। जब घर के लोगों ने उसे सूचना दी तो वह अपना ज़मीन

[155] मंजू सुमन (2009) दलित नारी: एक विमर्श, लेख-मोहनदास नैमिशराय-दलित नारी: दुहरा शोषण, दुहरा संघर्ष, सम्यक् प्रकाशन, पेज नं.168

और घर बचाने के लिए नौकरी से छुट्टी लेकर गांव आयी। तहसील के कर्मचारियों को यह अच्छा नहीं लगा और उन्होंने स्थानीय लोगों के साथ मिलकर उसे सबक सिखाने की रणनीति बनाई। बस इसी के चलते पुलिस ने उसे सारी रात हवालात में बंद कर सुबह निर्वस्त्र कर गांव में गली-गली घुमाया। एक दलित औरत को सबक़ सिखाने का इससे अच्छा कोई और उपाय उनकी नज़र में नहीं था। हमारा तथाकथित पुरुष समाज यदि किसी औरत को उसकी औकात दिखाना चाहता है तो सबसे पहले उस महिला के देह को निशाना बनाता है।'

दूसरी घटना इस प्रकार है- उत्तर-प्रदेश के ही शाहपुर जिले में एक दलित महिला जब शौच के लिए खेत गयी थी तभी गांव के ही ऊंची जाति के नत्थू सिंह ने उसके साथ बलात्कार किया और करने के बाद उसे धमकी दी कि इस घटना का वह किसी से जिक्र न करे। पर उसने इसका जिक्र अपने पति से किया। नत्थू सिंह अपने पुत्र के साथ मिलकर उसके घर गया और उसके पति को मारा-पीटा। इस डर से उसका पति घर छोड़ कर तुरन्त भाग गया। वह महिला जब गुहार लगाने दूसरे घरों में गयी तो नत्थू सिंह उसे वहां से खींच लाया और उस दलित महिला को नंगा कर दिया। उसे मार-पीट कर उसके पूरे शरीर को नंगा कर गांव में घसीटते हुए घुमाया गया। किसी ने भी उसको बचाने की कोशिश नहीं की और पुलिस वालों ने भी रिपोर्ट लिखने से मना कर दिया। इसके अतिरिक्त मणिमाला मध्यप्रदेश की दो घटनाओं का और जिक्र करती हैं। इन दोनों घटनाओं में एक दलित महिला है और दूसरी आदिवासी। इन महिलाओं को गांव के लोगों ने निर्वस्त्र करके घुमाया। कारण यह था कि दोनों महिलाओं ने अपनी छीनी हुई ज़मीन पर अपना अधिकार वापस लेने की बात की थी। वहां की ऊंची जातियों ने इसी कारण उनके चरित्र पर लांछन लगा उन्हें निर्वस्त्र कर पूरे गांव में नंगा घुमाया। मणिमाला इन घटनाओं पर लिखती हैं कि.."रविवार के अखबार में छपी इन सभी घटनाओं में करीब-करीब एक ही घटना की पुनरावृत्ति है। सिर्फ जगह, महिला और उसको सार्वजनिक संपत्ति बना कर बाजार में खड़ा करने वालों के नाम बदल गए हैं। वज़ह भी लगभग एक सी ही है। मतलब यह कि कोई वज़ह ही नहीं है सिवाए इसके कि वे औरतें हैं, दलित हैं और गरीब हैं और वे उस देश की नागरिक तथा उस समाज का हिस्सा हैं जो उन्हें आज भी इंसान मानने को तैयार नहीं है। फिर भी उन्होंने इंसानी ज़िंदगी जीने की क़सम खा ली है। वे एक आज़ाद देश की नागरिक की तरह जीना चाहती हैं-यह हक़ देने के लिए समाज तैयार

नहीं है। तैयार होना नहीं चाहता। इसीलिए डर और अपमान का एक ऐसा माहौल लगातार बनाए रखना चाहता है जिसमें सभी औरतें आसानी से निर्वस्त्र की जा सकें और घुमायी जा सकें।"[156]

बलात्कार की घटनाओं के लिए महिला आयोग जैसी संस्थाएं भी निष्क्रिय साबित होती हैं। जाति और वर्ग के कारण उनमें संवाद भी नहीं होते हैं। जाति और वर्ग के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप में बनी महिला संस्थाओं के बीच संवाद न होने के और बहुत से कारण हैं। उनमें सबसे महत्वपूर्ण कारण है कि अधिकांश बलात्कार की घटनाएं दलित महिलाओं पर होती हैं। सवर्ण महिलाएं इस खौफ़नाक दर्द से एक सीमा तक अभी दूर हैं। उनके सवाल अलग हैं इसलिए जवाब भी अलग होते हैं। महिला आयोग में दलित महिलाओं का प्रतिनिधित्व भी नहीं है। इस विषय पर कुसुम मेघवाल का कहना है कि "दलित वर्ग की महिलाओं के उत्थान, कल्याण एवं उनकी समस्याओं को निपटाने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर अलग से दलित महिला आयोग, दलित महिला कोष की स्थापना की जाए, जो पूर्ण रूप से इस वर्ग की महिलाओं के लिए कार्य करे।'[157] बलात्कार एक घटना के रूप में किन सन्दर्भों में व्याख्यायित किया जाता है उसका एक उदाहरण द्रष्टव्य है- 'दमन के परम्परागत तौर-तरीकों में से एक बलात्कार के रूप में जाना जाता है। यह अत्याचार का सबसे चटपटा मसाला है। परंतु गुणवत्ता के आधार पर यह चोरी, आगजनी तथा घायल करने से भिन्न है। अन्य तीन तरीके जहां पूरे समुदाय के विरूद्ध अपनाए जाते हैं, वहीं बलात्कार केवल एक लिंग, औरत के साथ होता है।'[158]

यही कारण है कि समाज में बलात्कार पीड़िता को जिन कटु आलोचनाओं से गुजरना होता है वहीं बलात्कारी कृत्य करने के बाद भी खुले रूप में घूमता है। बलात्कार केवल एक यौन हिंसा ही नहीं है और न ही अवांछित रूप से एक पुरुष का एक स्त्री के शरीर का भोगना, बल्कि कभी-कभी यह बदले की भावना के उद्देश्य से भी किया जाता है। किसी वर्ग, जाति, धर्म या समुदाय से प्रतिशोध के रूप में इसे अंजाम दिया जाता है। उदाहरण के तौर पर बेलछी, खैरलांजी, गोहाना, झज्जर, सांप्रदायिक दंगों

[156] सं.जैन, अरविंद, मंडलोई, लीलाधर (2006) स्त्री मुक्ति का सपना, देखें लेख-मणिमाला-दलित औरत की देह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.105

[157] मंजू सुमन-दलित महिलाएं, पेज नं.124

[158] राधा कुमार : स्त्री संघर्ष का इतिहास, पेज नं.263

में, मुजफ्फरपुर के दंगों में दलित और मुस्लिम महिलाओं के साथ बलात्कार हुए। देश के विभाजन के दौरान कई महिलाओं का बलात्कार किया गया, दलित स्त्रियों का निम्न जाति के होने के कारण बलात्कार हुआ जिनमें दलित-आदिवासी महिला मथुरा, भंवरीबाई, फूलन देवी, भगाना की लड़कियां, डेल्टा मेघवाल इत्यादि का यौन-शोषण दबंग जातियों ने किया। कई जगह तो संपत्ति के मामले में भी बलात्कार एक रणनीति के तहत किया जाता है। इस तरह से देखा जाय तो 'प्रत्येक पुरुष प्रधान पितृसत्तात्मक समाज की विचारधारा में इसका एकमात्र स्पष्टीकरण यह है कि समुदाय को प्रताड़ित-अपमानित करने के लिए स्त्रियों के साथ बलात्कार किया जाता है और यह महिला के माध्यम से किया जाने वाला पुरुष का अपमान है। खेत, मकान इत्यादि की तरह स्त्रियाँ भी पुरुष की परंपरागत संपत्ति मानी जाती हैं इसलिए बदला लेने के लिए इस संपत्ति को नष्ट करने के उद्देश्य से स्त्री का शीलहरण किया जाता है। स्त्रियाँ एक भिन्न प्रकार की विषयवस्तु हैं : यानी जिनका बिना किसी दोष के बलात्कार के माध्यम से अपमान किया जा सकता है ताकि उनके जरिए स्त्री के पति, परिवार तथा समुदाय को अपमानित किया जा सके।'[159]

सवर्ण स्त्रियों के बरक्स दलित स्त्रियों को अकसर स्वतन्त्र स्त्री के रूप में देखा जाता रहा है क्योंकि ऊंची जातियों में मनुवादी और ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के शिकंजे के चलते सवर्ण स्त्रियाँ घर से बाहर नहीं निकल सकतीं। इसके अतिरिक्त वहां रोज़ी-रोटी, पानी की उतनी समस्या नहीं है जितनी दलित घरों में। इसीलिए दलित स्त्रियों को अपने परिवार का पेट पालने के लिए घर से बाहर निकलना होता है। जिसे सभी दलित स्त्रियों की स्वतन्त्रता मानते हैं। किन्तु शोषण का पैमाना इतना अधिक है कि दलित स्त्रियों का दोहरा शोषण भी होता है। घर और बाहर की पितृसत्ता से उसे एक साथ जूझना होता है जिसमें सवर्ण पुरुष घर से बाहर उसका शोषण करता है और घर के अन्दर दलित पुरुष उसका शोषण करता है। फिर किस रूप में दलित स्त्रियों की स्वतन्त्रता को आंका जाए ? यह बहुत ही गम्भीर प्रश्न है कि क्या हम मात्र आर्थिक आजीविका और परिवार की रोज़ी-रोटी के लिए घर से बाहर श्रम करने निकली दलित स्त्री को स्वतन्त्र मान लें या स्वतन्त्रता का मापदण्ड अलग होना चाहिए ? दलित स्त्रियों की आर्थिक विवशता को कुछ विचारक उसे दलित स्त्री की स्वतन्त्रता को उच्छृंखलता से तौलते

[159] डॉ.मंजू सुमन (2004) दलित महिलाएं, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.175

हैं क्योंकि एक स्त्री की स्वतन्त्रता जिसमें उसका निर्णय लेना, अपने अधिकारों के लिए लड़ना तथा अपने पारिश्रमिकी पर उसका अधिकार होना आदि मुद्दे भी शामिल होने चाहिए । चल्लापल्ली की निम्नलिखित कविता में दलित स्त्रियों के आन्तरिक और बाहरी लैंगिक शोषण का यथार्थ चित्रण मिलता है-

"मेरी ज़िंदगी सचमुच में

मेरी कब हो पाई ?

घर में पुरुष-सत्ता के अधीन हूं

और बाहर जाति की सत्ता के"[160]

अन्ततः दलित स्त्री अकेली बहिर्जगत और अन्तर्जगत दोनों जगह लैंगिक आधार पर निरन्तर प्रताड़ित होती है ।

3.2 वर्णीय / जातिगत शोषण

'हमें सवर्णों के खेत में जाते हुए सतत एक दहशत होती है कि मालिक तो नहीं आ जायेगा, गालियां तो नहीं देगा । फिर किसी को पहरे पर रखते हैं और जैसे-तैसे दिसा-मैदान निबटाते हैं । गांव बाहर की गंदी और सड़ी नालियों के किनारे हम रहते हैं । कभी हमारी स्थितियों पर कोई विचार करता है । हमारी स्त्रियों पर बलात्कार होते हैं । स्त्री के रूप में होते ही हैं, परंतु बदले के रूप में भी होते हैं । दलित स्त्रियों को वे अपनी जागीर समझते हैं । केवल गरीबी ही नहीं हमारी जाति भी हमारे शोषण का कारण बनती है ।"[161] ***--कुमुद पावड़े***

जाति एक ऐसी भयावह सच्चाई है जिसकी सबसे ज़्यादा शिकार दलित स्त्रियाँ है । जाति के आधार पर भारत में दलित महिलाओं के साथ घटने वाली इस प्रकार की घटनाएं किसी एक दिन की घटना नहीं है । इस पीड़ा से उन्हें हर रोज़ गुजरना पड़ता है । भारत की यही सच्चाई है जिसे आज विकासशील भारत मानने को तैयार नहीं है । उमा चक्रवर्ती लिखती हैं कि "दलित और स्त्रियाँ, खासकर निम्न जाति की स्त्रियाँ जिस सांस्कृतिक शोषण को झेलती हैं वह आर्थिक शोषण से कहीं ज़्यादा अमानवीय और पीड़ाजनक है । जातिजन्य असमानता की वज़ह से निम्न जातियों के लिए भौतिक

[160] चल्लापल्ली स्वरूपा रानी (1998) 'दलित वीमेंस राइटिंग इन तेलगू, इकानामिक एंड पालिटिकल वीकली, पेज नं. 38, 96,

[161] कुमुद पावड़े के दिल्ली में दलित स्त्री विषय पर परिसंवाद से- अन्यथा, जून 2008, पेज नं.72

संसाधनों के द्वार का खुद-ब-खुद बंद हो जाना उनके वर्ग आधारित शोषण यानी उनके श्रम से अधिशेष की उगाही से ज़्यादा दर्दनाक है । जाति आधारित धारणाएं दलितों को सम्मान और वैयक्तिकता से वंचित कर उन्हें कर्तृत्वहीन करती हैं। जाति व्यवस्था का महत्वपूर्ण पहलू यह है कि उत्पादन के साधनों पर जिनका आधिपत्य रहा है उनका सांकेतिक सांस्कृतिक आचार व्यवहार के साधनों पर भी कब्जा रहा है । यही कारण है कि जो वर्चस्वशाली अथवा शासक रहे हैं वही उन मानदंडों का भी निर्धारण करते रहे हैं जो उनकी वर्चस्वता अथवा शासक की स्थिति को उचित ठहराते हैं। यही वज़ह है कि वहां निम्न जातियों के दृष्टिकोण के लिए कोई जगह नहीं रहा ।'[162]

वर्ण और जाति शब्द का प्रयोग हिन्दू ब्राह्मणवादी ग्रंथों में व्यवस्था के स्तरीकरण को अभिव्यक्त करने के लिए किया गया है । आज इस शब्द का प्रयोग विमर्श की परिभाषाओं में जारी है । हिन्दू वर्णव्यवस्था में अतिनिम्न जातियों के लिए पंचम वर्ण का प्रयोग किया गया है तथा उन्हें 'अछूत', 'अस्पृश्य' भी कहा गया जो हिन्दू वर्णव्यवस्था के बनाये गये चतुर्वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, की व्यवस्था से बाहर थे । जाति विवाह संबंधों की इकाई के रूप में काम करती है । जाति के सदस्यों के लिए यह निर्धारित कर दिया गया कि वह अपनी जाति के अन्दर ही विवाह संबंध बनायें । इस प्रकार का नियम 'जाति' के आधार पर देखें तो उच्च जातियों के लिए तो लाभकारी थी किन्तु दलित जातियों के अनवरत शोषण का दुष्चक्र यहीं से शुरु हो जाता है ।

जाति एक ऐसा मसला है जिसकी सबसे ज़्यादा शिकार दलित महिलाएं रही हैं । दलित महिलाओं को जातिगत भेदभाव का शिकार स्वाधीनता आंदोलन के समय में भी होना पड़ा था । 1947 देश की आज़ादी की लड़ाई में सबसे अधिक ग्रामीण, दलित महिलाएं संघर्षरत थीं, किन्तु उनके बहुमूल्य संघर्ष और योगदान को भुला दिया गया । जातिगत विषमता की शिकार महिलाएं कदम से कदम मिलाकर अपने बच्चों को गोद में लिए हुए भूखे-प्यासे स्वाधीनता आंदोलन में भाग ले रही थीं । उस समय कांग्रेस के वरिष्ठ नेता ने दलित और ग्रामीण महिलाओं की भूमिका को नकारने का भरपूर प्रयास किया और दलित महिलाओं का जातिगत अपमान किया । उदाहरण स्वरूप- "स्त्रियों ने संघर्ष के समय

[162] उद्धृत, ओलिवर हेरेन्समित, 'अम्बेडकर एंड हिंदू सोशल ऑर्डर', जोहेन्स बेल्ज और एस.जोंधेल द्वारा संपादित किताब रिविजनिंग दि वर्ल्ड : अम्बेडकर एंड बुद्धिज्म में संकलित दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाश्य

कई अवसरों पर पहल की, साथ ही उन्होंने संगठन संबंधी प्रश्नों में भी गहरी रूचि ली । उदाहरण के लिए अवध में अनेक स्त्रियों के नाम 1938-39 के कांग्रेस समिति के दफ़्तर में विरोध पत्र लेकर पहुंची । फैजाबाद की जिला कांग्रेस समिति द्वारा व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय स्त्रियों को सूचित नहीं किया, इस पर उन्होंने कहा, "हम गांधी जी की आज्ञा के अनुसार सत्याग्रह के लिए आई हैं । इस क्षेत्र की महिलाओं ने जेल जाने के लिए भी तत्परता दिखाई तो उन्हें अत्यन्त निराशा हुई जब जिला कांग्रेस समिति ने उन स्त्रियों को जेल जाने से रोका जिनकी गोद में छोटे बच्चे थे । इन स्त्रियों में अधिकांश गरीब किसान परिवार की स्त्रियाँ थीं । उनकी भागीदारी पर व्यंग्य एवं अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए जिला कांग्रेस समिति के एक वरिष्ठ नेता ने कहा, यदि उच्च परिवारों की स्त्रियाँ सत्याग्रह करने आतीं तो कांग्रेस का मान बढ़ता । शूद्र परिवारों की स्त्रियों की भागीदारी से क्या होगा ।"[163] इस प्रकार का दृष्टिकोण एक जातिगत दुर्भावना के शिकार व्यक्ति का ही हो सकता है । समाज में दलित और निम्न वर्ग की महिलाओं के प्रति ऐसे लोगों की असंवेदनशीलता हमेशा दिखाई देती है । अतः दलित स्त्रियों को हमेशा जातिगत स्तर पर अपमानित, अत्याचार और भीषण हिंसा का शिकार होना पड़ता है ।

भारत में दलितों की जनसंख्या लगभग 21 करोड़ है । इस इक्कीस करोड़ में आधा हिस्सा दलित-आदिवासी महिलाओं का है । ये दलित-आदिवासी स्त्रियां घर से बाहर तक जातिगत शोषण से उत्पीड़ित हैं । मनु ने जिस वर्ण समाज की स्थापना की, उसमें दलितों का उत्पीड़न एक गहरी सच्चाई है । यही ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक समाज दलित-आदिवासी महिलाओं का चौतरफा शोषण करने में सबसे आगे है । इस प्रकार दलित-आदिवासी महिलाओं के साथ हिंसा का कारण उनका निम्न और दलित जाति से होना है । ग्रामीण समाज की ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था के पैरोकार, सवर्ण सहित सभी जाति के जमींदार, पुलिस, न्याय-व्यवस्था व नौकरशाही अफसर सभी दलितों के विरुद्ध काम करते हैं । समाज में ऊंचे-ऊंचे पदों पर स्थापित उच्च जाति के लोगों के होने से दलित-आदिवासी महिलाओं को न्याय नहीं मिल पाता है ।

[163] सं.प्रतिभा जैन/ संगीता शर्मा (2008) भारतीय स्त्री: सांस्कृतिक सन्दर्भ, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पेज नं.229

भारत की अधिकतर जनता गांवों में निवास करती है। गांवों में अधिकांश संख्या भूमिहीन, अशिक्षित, गरीब, दलित और पिछड़े तथा आदिवासियों की है। 'ग्रामीण व्यवस्था में दलित लोगों की सशक्त भागीदारी को लेकर ग्राम-पंचायत में दलित-आदिवासियों के लिए आरक्षित स्थान रखे गये हैं परंतु जाति-व्यवस्था में घृणित रूप के चलते जो दलित-आदिवासी महिलाएं अगर सरपंच चुनकर आ भी जाती हैं तो वे केवल ऊंची जाति के लोगों की कठपुतली मात्र होती हैं और अगर वे दबंग तथा समझदार हुईं तो उन पर ऊंची जाति के अत्याचार का अनवरत सिलसिला शुरू हो जाता है। ऐसे में सरपंच बनने की कीमत दलित आदिवासी महिलाओं को अपनी जान देकर या सरेआम अपमानित होकर चुकानी पड़ती है।"[164] गांवों में पंचायती चुनाव में वैसे भी दलित महिलाओं की संख्या कम ही होती है उन्हें पितृसत्ता का दबाव भी सहना पड़ता है जिसमें उनके पति उनके मालिक होते हैं।

दलित महिलाओं के सरपंच बनने से ऊंची जातियों में आक्रोश का भाव हमेशा बना रहता है क्योंकि वे कभी भी दलित महिला को अपनी जाति से ऊपर नहीं आने देना चाहते हैं। जाति के नाम पर उनके साथ अत्याचार और उन्हें भद्दी-भद्दी गालियां भी दी जाती हैं। उदाहरणस्वरूप- 'अजमेर जिले के रसूल पुरा गांव की दलित महिला सरपंच छग्गी बाई भील जब निर्विरोध सरपंच चुनी गई तो पूर्व सरपंच श्रवण सिंह और उसके साथियों के क्रोध का ठिकाना न रहा, उन्होंने सरेआम छग्गीबाई को 'रण्डी' जैसे अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा कि, "अगर छग्गीबाई मेरे गांव में आई तो रण्डी की साड़ी फाड़ दूंगा, रोड पर नंगा करके गांव से निकाल दूंगा।'[165] यह एक ऐसी घटना है जो समस्त भारत में दलित महिलाओं के साथ जातिगत उत्पीड़न का गहरा यथार्थ बोध कराती है। दलित समाज में दलित महिलाओं की उन्नति और प्रगति के अवसर बहुत ही कम हैं। दलित महिलाओं के अपने प्रयासों से आगे बढ़ने पर ऊंची जाति के लोगों द्वारा उन्हें जातिगत घृणा का शिकार होना पड़ता है।

दलित स्त्री को जाति के आधार पर पग-पग दमन-शोषण और अवमानना सहने पड़ते हैं। भारत का नागरिक होने का अधिकार भी उससे छीन लिया जाता है। एक समाचार का उदाहरण-

---

[164] अनिता भारती: समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, पेज नं.136

[165] उद्धृत, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.137 राजस्थान में दलित महिला सरपंचों की कहानी : उन्हीं की जुबानी, पेज नं.1

"दौसा जिले की सिकराय तहसील के ठिकरिया गांव के सरकारी स्कूल में स्वतन्त्रता दिवस समारोह के अवसर पर कार्यवाहक़ महिला सरपंच मिश्री देवी को निर्वस्त्र कर उसके साथ मार-पीट करने वाले लोगों को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया है। इन पर आरोप था कि महिला सरपंच के दलित हरिजन होने के कारण वह उसके ध्वजारोहण के ख़िलाफ़ थे।"[166] (राष्ट्रीय सहारा 19.8.1998)। आखिर में दलित स्त्रियाँ भारतीय संस्कृति को किस रूप में अपना मानें जब उन्हें राष्ट्रीय ध्वज को भी फ़हराने पर अपमानित और लांछित किया जाता है। इस प्रकार उच्च जातियों के द्वारा लगातार निम्न जाति की दलित स्त्रियों का दमन किया जाता है।

दलित औरतों को जाति के जिस भयावह रूप का सामना करना पड़ता है उसके विभिन्न चित्रों को दलित स्त्री अपनी प्रत्येक रचनाओं में बयान करती है। हिन्दी की दलित स्त्री आत्मकथाओं में जातिगत शोषण की भयावहता का चित्र तो खींचा ही गया है इसके अतिरिक्त मराठी दलित स्त्री आत्मकथाओं में भी इसके चित्र मिलते हैं। 'जीवन हमारा' में बेबी कांबले इसी जातिगत भेदभाव का चित्र खींचती हैं "दुकानदार के छोटे बच्चे निवृत्त होने के लिए बाहर निकल रहे होते तो दुकानदार सजग हो जाता और बच्चों को निर्देश देता-छबु, अरे ओ छबु ! देख, दरवाजे पर डोमनी खड़ी है, उसे छूना मत, दूर से जाना।' डोमनी भी तत्काल सतर्क हो जाती। अपने शरीर का कपड़ा समेटते हुए कहती-'अरे छोटे बापू साहेब, दूर से जाओ, दूर से। डोमनी को छू मत लेना।'[167]

हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम व्यवस्था को पूरी राजनीतिक षड्यन्त्र की तरह ब्राह्मणों और उच्च सवर्ण जातियों द्वारा यथास्थित रूप में बनाया गया है जिसमें उनको तो लाभ है किन्तु दलितों को उतनी ही हानि। तीन हजार सालों से निम्न कर्म करने के लिए एक पूरी जाति को बाध्य कर दिया गया। हिन्दू धर्म की जाति व्यवस्था के ख़िलाफ़ सटीक टिप्पणी करते हुए भाषा सिंह लिखती हैं कि- "हिन्दू धर्म की जाति-व्यवस्था उस जहरीली बेल की तरह है जो धर्म बदलने, जातिगत पेशा छोड़ने के बाद भी पीछा नहीं छोड़ती बल्कि डसती रहती है। लिहाज़ा डी-कास्ट होना बेहद जटिल है, क्योंकि यहां जाति आपके

[166] उद्धृत, लेख-रजत रानी मीनू-हिन्दी दलित कहानियों में नारी, मंजू सुमन, दलित नारी: एक विमर्श, सम्यक प्रकाशन, पेज नं.95

[167] बेबी कांबले-जीवन हमारा, पेज नं.23

मानने या न मानने से तय नहीं होती। सिर पर मैला ढोने वाली औरतें इस बात की जिन्दा मिसाल हैं। जाति-व्यवस्था कैसी विडम्बनाएं रचती है कि ये सब औरतें जागीरदार हैं और जजमानी को आने वाली पीढ़ियों के लिए विरासत में देने के ज़हरीले तन्त्र का शिकार हैं। इन्सानी मैले की इस जागीरदारी और उसे रेहन रखने-ख़रीदने के दस्तावेज़ देख कर लगा कि इस समुदाय को मैले के नरक में धकेले रखने का तन्त्र वाक़ई किसी सुनियोजित ढंग से विकसित किया गया है।'[168] आखिर ऐसा क्यों है कि मैला ढोने का भार दलित महिलाओं के सिर पर मढ़ दिया गया। जीवन का अगर सबसे घृणित व्यवसाय और अन्तिम पहलू कोई हो सकता है तो वह मैला ढोना ही है। बहुत ही षड्यन्त्रकारी तरीके से इसमें केवल दलितों को ढकेल दिया गया ताकि वो इस नरक के इतर अपने उत्थान और प्रगति के बारे में सोच भी न सकें। अतुलनीय भारत और हिन्दू जाति व्यवस्था की यह एक जीती-जागती पूरी दुनिया के सामने अदृश्य तस्वीर है। अदृश्य इसलिए भी क्योंकि भारतीय सवर्ण हिन्दू समाज देख कर भी इसे अनदेखा करता है। "जाति व्यवस्था यह सोच गढ़ लेती है कि गन्दगी से जुड़ा सारा काम दलितों का है। इसी के चलते सवर्ण सामन्ती जातियां ही नहीं, मैला न ढोने वाली दलित जातियां भी मैला ढोने वालों को इन्सान समझना ही बन्द कर देती हैं।'[169] अतः यह साफ़ है कि हिन्दू धर्म में जिस संस्कृति को गौरवान्वित बना कर पेश किया जाता है वह महज़ झूठी संस्कृति है क्योंकि वह धर्म और जाति कभी भी श्रेष्ठ नहीं हो सकता जिसमें एक इन्सान दूसरे इन्सान का मैला सदियों से अपने ऊपर ढोने के लिए बाध्य कर दिया गया हो।

मैला ढोने की प्रथा भारत में आज़ादी से पहले से ही चली आ रही है। किन्तु आज़ादी के बाद और औद्योगिक व तकनीकि विकास के बावजूद भी सम्पूर्ण भारत में कहीं-न-कहीं दलित महिलाएं जातिगत बाध्यता और आर्थिक मजबूरी के कारण लगी हुई हैं। शुष्क शौचालय होने के कारण दलित पुरुष और महिलाएं इस नरक में लगे हुए हैं। भाषा सिंह अपनी पुस्तक 'अदृश्य भारत' में देश में अभी भी जारी मैला प्रथा के वीभत्स रूप का खुलासा करते हुए लिखती हैं- 'देश भर में इस समुदाय की औरतें इस कड़वे सच के ज़हर को पीते-पीते ही जी रही हैं कि उन्हें इन्सान नहीं समझा जाता। चाहे वह

[168] भाषा सिंह (2012) अदृश्य भारत, पेगुंइन बुक्स, भूमिका से, पेज नं. 20

[169] भाषा सिंह: अदृश्य भारत, मैला ढोने के बजबजाते यथार्थ से मुठभेड़, भूमिका से, पेज नं. 22

पश्चिम बंगाल के उत्तर 24 परगना ज़िले में भाटपाड़ा की लक्ष्मनिया हारी हो या गुजरात में अहमदाबाद की पल्लवी बेन, राजस्थान में टोंक की इन्दिरा, कश्मीर की रफ़ीका या आन्ध्रप्रदेश की नारायण अम्मा-सब अपनी-अपनी ज़िंदगी मैला ढोने में खर्च करने के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुंची हैं कि लोग उन्हें इन्सान ही नहीं समझते और सरकार को वे दिखायी नहीं देते, क्योंकि वह उन्हें देखना नहीं चाहती। वे अदृश्य हैं।'[170] हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ये कैसी वर्णव्यवस्था है जिसमें पूरी एक जाति को इस नारकीय कर्म के लिए आरक्षित कर दिया जाता है।

धार्मिक संस्कृति का खतरा दलित औरतों को कैसे सहना पड़ा है ये लगभग सभी दलित स्त्रियों की ज़ुबान से सुनने को मिलता है। एक धर्म के अन्दर रहकर उस धर्म के सभी रीति-रिवाजों का पालन करना और उसकी छोटी से छोटी रूढ़ियों और परम्पराओं में जकड़े रहना तथा उस धर्म से मुक्त होने की छटपटाहट भी दलित स्त्रियों के यहां बखूबी है। हिन्दू धर्म की यह चाल तो बहुत पुरानी है कि उसने दलितों को अपने धर्म में शामिल किया ही किन्तु वो सभी अधिकार जो उच्च जाति को शुरू से हासिल है, उससे दलितों को वंचित कर दिया-वो था मानवाधिकार। इस संबंध में विमल थोराट लिखती हैं कि 'विश्व के एक महत्वपूर्ण जनतंत्र का मखौल उड़ाने वाला कोई और नहीं यह जाति-प्रथा, छुआछूत, गैर-बराबरी, जन्म और कर्म सिद्धान्त को जायज बनाने वाली परंपराएं हैं। ब्राह्मणवादी षड्यंत्रों की यही सफलता करोड़ों दलितों को आज इक्कीसवीं सदी में भी साधनहीन, सत्ताहीन अपमानित कीड़े-मकोड़ों जैसा जीवन जीने पर मजबूर करती है। राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आंदोलनों द्वारा इस दमनकारी व्यवस्था का विरोध करने पर भी दलित अपमानित, प्रताड़ित होने और दूसरों का मैला सिर पर ढोने से नहीं बच पाया है और न ही यौन हिंसा से या देवदासी बनकर सवर्णों की भोगदासी बनने से दलित स्त्री बच पाई है।"[171] इस प्रकार देखा जाय तो दलित स्त्री अभी भी संवैधानिक अधिकारों से कोसों दूर है।

[170] वही, भूमिका से, पेज नं.22

[171] विमल थोराट (2008) दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर: अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा.लि., पेज नं.108

शिक्षा को डॉ.अम्बेडकर ने शेरनी का दूध कहा था किन्तु यह बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण है कि दलित महिलाओं में शिक्षा का स्तर सबसे कम है। 'शिक्षा की दर महिलाओं में 18 फीसदी व दलित महिलाओं में 32.76 फीसदी है जबकि सामान्य वर्ग की महिलाओं में 39 फीसदी है। दलित महिलाएं घरों में रात-दिन काम के बोझ के तले दबी हैं। इसके साथ-साथ विद्यालय में भी उनके प्रति विद्यालयी प्रशासन व शिक्षकों का रवैया जातिपूर्ण होता है। केरल की एक दलित छात्रा ने जब ग्यारहवीं कक्षा में 60 प्रतिशत से अंक लाए तो उच्च जाति की कक्षा अध्यापिका द्वारा बार-बार ये कहकर शारीरिक और मानसिक रूप से प्रताड़ित किया गया "तुम एस.सी. लोग तो केवल स्कूल से वजीफा लेने के लिए आते हो।'[172] अध्यापिका के बार-बार जातिसूचक शब्दों द्वारा प्रयोग करने व सार्वजनिक रूप से बेइज्जत करने से इस प्रतिभाशाली एवं संवेदनशील बालिका ने आत्महत्या कर ली।' उच्च जातियों द्वारा विद्यालयों में लगातार जातिगत उत्पीड़न और अत्याचार के कारण ही दलित लड़कियां स्कूल जाना बंद कर देती हैं जिससे वे शिक्षा से वंचित रह जाती हैं। यही कारण है कि उच्च शिक्षा तक मात्र 2-3 प्रतिशत तक ही दलित लड़कियां पहुंच पाती हैं।

दलित स्त्रियों में अशिक्षा के कारण ही चेतना की कमी तथा अंधविश्वास व्याप्त है। गांवों में अंधविश्वास और जादू-टोने तथा तांत्रिक-ओझे-शोखे की अधिकतर शिकार दलित स्त्रियाँ हैं। देश के विभिन्न प्रान्तों उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल तथा मध्य-प्रदेश में 'डायन' और 'चुड़ैल' घोषित कर दलित-आदिवासी महिलाओं की पत्थरों से मारकर तथा उन्हें निर्वस्त्र कर उनकी निर्मम हत्या कर दी जाती है। एक संस्था के सर्वेक्षण के निष्कर्ष के अनुसार '27 पंचायतों के 125 गांवों में 29 महिलाओं को डायन करार देने की घटना हुई। इन महिलाओं में सात विधवा महिला, 13 दलित और बाकी गरीब और पिछड़े वर्ग की महिलाएं थीं।'[173] गांवों में स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी के कारण कभी-कभी छोटे बच्चों की मौत का जिम्मेदार दलित व आदिवासी या विधवा महिला को मान लिया जाता है। दलित समाज में अशिक्षा और घोर अंधविश्वास व चेतना की कमी के कारण ही दलित-आदिवासी महिलाएं उच्च जातियों द्वारा 'डायन' घोषित कर दी जाती हैं। उदाहरण स्वरूप 'उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर से

[172] अनिता भारती : समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.143

[173] वही, पेज नं.142

460 किलोमीटर दूर, सुंदर गढ़ जिले के मुख्यालय से लगभग 85 किलोमीटर दूर वेलमुण्डा गांव में धर्मान्तरण के बाद ईसाई बने लुकास की पत्नी लेसी टोप्पी और बेटी ग्लोरिया को 28 अप्रैल 1996 को गांव की पंचायत ने पड़ोसी के 9 वर्षीय बच्चे की बीमारी का जिम्मेदार ठहराकर उनको 'डायन' करार दे, दोषी ठहराया । लैसी और ग्लोरिया को पंचायत के कहने पर खींचकर घर से बाहर निकाल, उन्हें नंगा कर पूरे पांच हफ्ते तक अमानवीय यातनाएं दी गईं । उनके गुप्तांग में लाठी ठूंसी गई तथा उन्हें जिन्दा जलाने की कोशिश की गई ।'[174] दलित-आदिवासी महिलाओं को 'डायन' घोषित करके नंगा घुमाये जाने की घटना आम है, इस मार्मिक यथार्थ का चित्रण निर्मला पुतुल अपनी कविता में करती हैं-

"लखना के बेटे को सांप ने काटा / तो सबके सब आ धमके हम पर

कहने लगे डायन हैं हम / कुछ कर दिया है उसके बच्चे को

वह तो अच्छा हुआ शरबतिया ने सांप देख लिया / नहीं तो पकलू बुढ़िया की तरह

मुझे भी घसीटकर ले जाते लोग कुलि में

और भरी पंचायत में सर मुंडवा

नचा देते नंगा / कर देते मुंह पर पेशाब / ठूंस देते मैला ।"[175]

उड़ीसा 2015 में जब जातिवादी हमले हुए तो उसमें सबसे ज़्यादा प्रताड़ित दलित स्त्रियाँ हुईं । उनको मारपीट भी सहनी पड़ी । 2015 के जनसत्ता के समाचार पत्र में एक दलित महिला को जबरन पेशाब पिलाया गया, और पांच आदिवासी महिलाओं को डायन करार देकर उनके सर को पत्थर से कुचलकर मार दिया गया । यह किसी 16वीं सदी की घटना नहीं है और न ही कोई तीन हजार साल पहले की घटना है । 21वीं सदी में जाति के नाम पर हमले तेज हो गये हैं और कुछ सवर्ण जातियां पहले से ज़्यादा हिंसक हो गयी हैं ।

उच्च सवर्ण जातियां दलितों को आगे बढ़ते हुए देखना भी नहीं चाहतीं । उनकी प्रगति और विकास उच्च जातियों के अहम को ठेस पहुंचाती है जिसके कारण सवर्ण ठाकुर, जमींदार और ब्राह्मण

[174] उद्धृत, डायन बताकर महिलाओं पर जुल्म ढाते लोग-अभिमूकनायक जुलाई 1996, अशोक भारती, अनिता भारती- समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.142

[175] निर्मला पुतुल-नगाड़े की तरह बजते शब्द, पेज नं.41-42

इत्यादि दलितों पर हिंसा कर उन्हें चोट पहुंचाते हैं। एक उदाहरण के रूप में देखें तो 'कुछ महीने पहले मध्य प्रदेश के रायपुर में एक दलित महिला लता साहू ने भूस्वामी वाली जातियों की इच्छा के ख़िलाफ़ चुनाव लड़ा था। उसे एक डायन के तौर पर दंडित किया गया। उसे नंगा किया गया। उसे पीटा गया। हाल ही में आंध्र प्रदेश के वारंगल जिले में पांच आदिवासी महिलाओं को डायन घोषित किया गया और उन्हें जिंदा जला दिया गया।'[176] डायन के रूप में हमेशा दलित-आदिवासी महिलाओं की हत्या कर दी जाती है जिसका कोई विश्वसनीय आंकड़ा भी नहीं है क्योंकिडायन के बतौर मार दिए जाने वाली दलित आदिवासी महिलाओं के मामले अलग श्रेणी में दर्ज भी नहीं किए जाते हैं। हालांकि उपलब्ध आंकड़े और प्रेस रिपोर्टों के संग्रह तथा समाचार ख़बरों से इस तरह के मामलों में बढ़ोत्तरी के संकेत मिलते हैं।

आंकड़ों के अनुसार 2008 के सितम्बर महीने के भीतर बिहार में दलित महिलाओं को डायन घोषित करने के पांच मामले सामने आए। आंध्र प्रदेश में 2006-2007 दो सालों में इस तरह के मामलों में 167 हत्याओं की रिपोर्ट है। असम में 2007 में इस तरह के मामलों का आंकड़ा 50 से भी अधिक था। डायन करार देना, खोजना और सजा देने में शामिल हो सकता है। पीड़ित को निर्वस्त्र करना और घुमाना, उसका सिर मुंडवाना, चेहरे पर कालिख पोतना और पीड़िता को तेज धारदार चाकू या किसी और औजार से चीरे लगाना, पीटना, जलाना या जिंदा गाड़ देना। 'डायन' के रूप में अकसर महिलाओं की ही बलि चढ़ायी जाती है। 'जातीय संरचना का संरक्षण और ऊंची जाति का प्रभुत्व भी दलित महिलाओं को डायन चिन्हित करने के मूल में है। कई मामलों में जहां उनकी जातीय प्रभुत्वकारी स्थितियों को चुनौती मिलती है, सवर्ण जाति के लोग दलित परिवार की महिलाओं को डायन के रूप में चिन्हित कर उन्हें अपना निशाना बनाते हैं। लता साहू के मामले में ऐसा ही हुआ। उसने भूस्वामी जातियों के चुनाव में खड़ा नहीं होने के आदेश को मानने से इनकार कर दिया। इस पर उसे डायन घोषित कर दिया गया, क्योंकि उसने अकेले दम पर उनकी राजनीतिक ताकत को चुनौती दी थी।'[177] दलित महिलाओं के साथ आये दिन इस तरह के अत्याचार होते रहते हैं।

[176] वृंदा करात -भारतीय नारी: संघर्ष और मुक्ति, पेज नं 215

[177] वही, पेज नं.217

एक गम्भीर प्रश्न है कि हिन्दू धर्म में फैला अंधविश्वास कभी उच्च जाति के लोगों में नहीं दिखायी देता वो नीची जाति में दलितों में ही सबसे ज़्यादा क्यों दिखायी देता है ? देवता और देवियां दलितों, भूत-प्रेत के शरीर में ही क्यों प्रवेश करते हैं उच्च जाति के लोगों में क्यों नहीं ? क्या ऐसा नहीं है कि दलितों में व्याप्त इस अंधविश्वास के पीछे उच्च वर्ण के लोगों की मानसिकता और षडयन्त्र है । दलितों को शिक्षा से दूर रखकर उन्हें अपने ही धर्मों के देवी-देवताओं के दुश्चक्र में तथा अंधविश्वास में बाध्य कर उनकी प्रगति और उत्थान पर ही बन्दिश लगा दिया गया । सवर्णों द्वारा स्वयं शिक्षा पर अपना एकाधिकार जमाकर दलितों को अंधविश्वास रूपी गुलामी में जकड़ दिया गया ताकि वे उससे बाहर ही न निकल सकें । इसकी सबसे ज़्यादा शिकार दलित स्त्रियाँ हुईं । उन्हीं के शरीर में तमाम तरह के देवी-देवता और भूत-प्रेत समा जाते हैं । यही कारण है कि इन अंधविश्वास में उलझे ये दलित पुरुष अपनी ही दलित स्त्रियों को कभी डायन करार देने में पीछे नहीं हटते उच्च जाति के पुरुषों का ही समर्थन करते हुए दिखते हैं ।

3.2.1 देवदासी : दलित स्त्री का वेश्यात्मक चढ़ावा

वेश्या का जीवन जीने को अभिशप्त महिलाएं समाज में एक ऐसी मार झेल रही हैं जहां उन्हें न पत्नी का दर्जा प्राप्त है और न ही कोई सम्मानजनक महिला का । पितृसत्ता के चलते वेश्यावृत्ति भी व्याप्त है । 'यह संस्था पुरुष को धन या अन्य सामग्री के एवज में स्त्री-संसर्ग की छूट देती है । वेश्यावृत्ति के कई रूप रहे हैं । ख़ासकर प्राचीन समाजों में मन्दिर या पवित्र कर्तव्य के नाम पर धार्मिक वेश्यावृत्ति का वज़ूद रहा है । मिसाल के तौर पर, भारत में देवदासी प्रथा । मंदिर व्यवस्था के तहत जन्मी यह प्रथा फलती-फूलती हुई दक्षिण भारत के कुछ भागों और उड़ीसा में बीसवीं सदी तक अस्तित्ववान रही । इस प्रथा का जाति से जुड़ा होना ध्यानतलब है ।'[178]

भारत जैसे देश में जातीय आधार पर दलित वर्ग की सुन्दर लड़कियों को सांस्कृतिक व धार्मिक चोला पहनाकर हिन्दू धर्म के ठेकेदार हिन्दू भगवान की प्रतिमा से विवाह रचाते हैं । जवान होने पर वे ही हिन्दू धर्म के मठाधीश उन कन्याओं से बलात्कार करके अवैध ढंग से उनका यौन शोषण करते हैं ।

[178] उमा चक्रवर्ती-जाति समाज में पितृसत्ता, पेज नं.84

भारत में ऐसी देवदासियों की संख्या लाखों में है। पूना में उनकी संख्या लगभग 6000 है। महाराष्ट्र व कर्नाटक में 10000 देवदासियां हैं, जिनसे उत्पन्न अवैध संताने सरकारी तथा गैर-सरकारी क्षेत्रों में उच्च पदों पर आसीन हैं। दक्षिण भारत में 10 प्रतिशत येलम्मा देवी की अनुयायी महिलाएं देवदासी हैं। देवदासी[179] उन्हें कहा जाता था जो लड़की मंदिर के देवता को समर्पित कर दी गई हो। उसका विवाह मंदिर के देवता से कर दिया जाता था इसलिए वह कभी विधवा नहीं होती थी। वह बाद में नर्तकी बनती थी। मंदिर के पुजारी उसके साथ यौन-संबंध स्थापित करते थे। दलित स्त्रियों का हिन्दू देवता को स्वयं को समर्पित करना एक ऐसी सोची-समझी ब्राह्मणों की साजिश थी जिसकी शिकार मात्र दलित कन्यायें थीं जबकि गैर-दलित कन्यायें इस प्रथा से पूरी तरह मुक्त थीं।

अस्सी के दशक के बाद नारीवादियों ने गहन छान-बीन और शोध के जरिये पितृसत्ता का यौनिकता और संपत्ति के बीच क्या संबंध है- इस समझ को विकसित किया, जबकि 1929 में देवदासी उन्मूलन का अभियान चलाया गया। जिसके कारण इस प्रथा के उन्मूलन के लिए जो विधेयक पारित किये गये उसने देवदासी प्रथा के साथ-साथ मंदिर की जमीनी-संपत्ति पर हासिल अधिकार को भी समाप्त कर दिया। जिसके चलते उन्हें विवाह बंधन में बंधना पड़ा जिससे उनके पास अब स्वायत्त स्वतन्त्र जीवन जीने का कोई दूसरा चारा न था। 1985 में पहली बार राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ब्रिटेन की संसद 'हाउस ऑफ कॉमन्स' में भारत की इस पथभ्रष्ट प्राचीनता को स्पष्ट किया गया। इससे पहले महात्मा ज्योतिराव फुले के नेतृत्व में देवदासी प्रथा के उन्मूलन के लिए एक आंदोलन भी चलाया गया। किन्तु बाद के समाज सुधारकों ने इस पथभ्रष्टता को अंधविश्वास कहकर महिलाओं की स्थिति सुधारने पर विशेष बल दिया। 1980 के दशक में देश के अनेक पत्रकार और कैमरामैन देवदासियों के गढ़ या देवदासी सम्प्रदाय के तीर्थस्थल कर्नाटक में जमा हुए और इसे समाप्त करने के लिए आवाजें उठाईं, किन्तु हिन्दू धर्म के मठाधीशों के विरोध करने पर उन्हें वापस लौट जाना पड़ा और अभी तक

[179] देवदासी गैर-ब्राह्मण जातियों से होने की वजह से ही बीसवीं सदी के आरम्भ में तमिलनाडु में देवदासी उन्मूलन के अभियान क्रम में चले बहसों में जाति के मसले ने ज़्यादा तूल पकड़ा। पेरियार के नेतृत्व में चले गैर-ब्राह्मण आंदोलन में इसे जाति व्यवस्था के चौखटे के तहत ही देखे जाने की बात की गई। कारण, एक भी देवदासी ब्राह्मण जाति की नहीं थी। वहीं ऐसे कई ब्राह्मण थे जो परंपरा और सांस्कृतिक अनूठेपन के नाम पर इसे बने रहने देने की बातें कर रहे थे। पेरियार ने उनसे कहा कि यदि वे परंपरा को इतना महत्वपूर्ण मानते हैं तो क्यों नहीं अपनी औरतों को देवदासी बनाते हैं ? पेरियार का मानना था कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था देवदासी के नाम पर शूद्र स्त्रियों को यौन-दासी बनाता रहा है। शूद्र स्त्रियों को इस कालिख से मुक्ति दिलाना जरूरी है। मुतुलक्ष्मी रेड्डी, जो खुद एक देवदासी परिवार की थी और डॉक्टर होने के साथ-साथ मद्रास विधान सभा की सदस्य थी, ने इस प्रथा के उन्मूलन अभियान का समर्थन किया।'

वहां देवदासियों के निर्माण की प्रक्रिया जारी है। आज देवदासियों का उत्पीड़न और भी तीव्र हो गया है। पहले जहां मन्दिर के पुजारी उनका यौन शोषण करते थे आज जमींदारों यहां तक कि बैंक मैनेजर और सरकारी पदाधिकारी भी यौन कार्य करने के लिए दबाव डालते हैं।

वर्तमान में भी जातिगत पेशे के नाम पर पीढ़ी-दर-पीढ़ी 'बेड़ियां और बांछड़ा' जाति की दलित महिलाओं द्वारा वेश्यावृत्ति की जा रही है जो शारीरिक हिंसा व जातिगत उत्पीड़न का घृणित रूप है। आज भी इस समुदाय के दलितों के पास रोजगार नहीं हैं। शिक्षा का नामो निशान यहां अभी तक नहीं पहुंचा है। सर्वशिक्षा अभियान का नारा दलितों के लिए झूठा ही सिद्ध हुआ है। अशिक्षा की वज़ह से ये समुदाय अत्यन्त गरीबी, पारंपरिक अंधविश्वास में जी रहा है इसके चलते ही 'बेड़ियां और बांछड़ा' जाति की औरतें वेश्यावृत्ति करने पर विवश हैं। दलित महिलाओं को सार्वजनिक उपभोग का साधन माना जाता रहा है। जमींदार, ठाकुर सभी ऊंची जातियां भोग की वस्तु के रूप में उन्हें देखती हैं। इसीलिए 'दलित क मेहरारू, सबकर जोरू' जैसी कहावतें भी गांव-समाज में प्रसिद्ध हैं। बहुजुठाई जैसी प्रथा आदि इसी कहावत को चरितार्थ सिद्ध करता है। स्वरूपा रानी ने एक कविता के माध्यम से इसका मार्मिक चित्रण किया है-

"नवजात शिशु थी

तभी से वेश्या के रूप में देखी गई

यही मेरी पहचान बनी

मेरी कहानी सुनकर तो झुक जाना चाहिए

इस सभ्यता का सिर

नर्क की गहराई में गड़ जाना चाहिए इसे

अपने देश के महान इतिहास के किस

अध्याय में लिखना चाहोगे तुम यह कहानी?"---स्वरूपा रानी

दलित स्त्रियों का वेश्यात्मक जीवन जहां से प्रारम्भ होता है उसका यथार्थ और मार्मिक चित्रण करते हुए स्वरूपा रानी लिखती हैं 'निम्न जाति की गरीब लड़कियों को मंदिरों में दान दे दिया जाता है

जिसके बाद से वे सम्पूर्ण जाति के लिए वेश्या हो जाती हैं कोई भी जाति और समुदाय उसका उपभोग कर सकता है ।' एम.प्रभावती अपने लेख में उन धार्मिक कर्मकाण्डों का जिक्र करती हैं जो दलित स्त्री के यौनशोषण को बढ़ावा देते हैं । इसमें देवदासी कुप्रथा ने पूरे देश का ध्यान अपनी ओर खींचा तथा इसको समाप्त करने के लिए कानूनी प्रावधान बने । कर्नाटक के शिमोगा जिले के चंद्रागुटी गांव में एक मंदिर है । यहां से 3 किलोमीटर की दूरी पर एक नदी है । धार्मिक कर्मकांड के अनुसार दलित स्त्रियाँ इस नदी में नहाकर बिना वस्त्र पहने उपरोक्त मंदिर में पूजा करने जाती थीं । तीन किलोमीटर के इस रास्ते में भारतीय और विदेशी पुरुष इन निर्वस्त्र स्त्रियों को देखने के लिए खड़े रहते थे ।'[180] दलित स्त्रियों को नग्न अवस्था में देखने के लिए विदेशी और उच्च वर्ग के लोगों का खड़ा होना हैरतअंगेज कर देने वाली घटना है । धर्म के नाम पर यह दलित स्त्रियों का शोषण ही है । यह ब्राह्मणवादी सत्ता की चाल है कि दलित स्त्रियों के अशिक्षित होने से उन्हें धर्म के सबसे निकृष्ट कर्मकाण्डों में उलझाया जा सकता है ।

3.2.4 बहुजुठाई : एक प्रथा, उच्च सवर्ण जमीदारों द्वारा दलित महिलाओं का यौनिक शोषण

राजस्थान[181], झारखंड आदि क्षेत्रों में महिलाओं की स्थिति अत्यन्त वीभत्स है । 'एक समय था जब अश्वेत स्त्रियाँ वासना और मजे की स्वाभाविक वस्तु मानी जाती थीं । आरम्भिक साहित्य में मालिकों द्वारा अपनी दासियों से श्रमकार्यों के अलावा यौन सेवायें लेने के जिक्र पाते हैं । ऐसा सदियों तक चलता रहा । ऊंची जातियों की स्त्रियों की भांति निम्न श्रेणियों की स्त्रियाँ 'गृहिणी' या पारिवारिक नहीं मानी जाती थीं ।'.....निम्न जाति की स्त्रियों का यौन पात्रों के रूप में उपलब्ध रहना ऊंची जाति के पुरुषों की सत्ता संरचना का हिस्सा थी इसलिए निम्न जाति की स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही इस व्यवस्था का पालन करने के लिए मजबूर थे ।' हालांकि देखा जाय तो इस प्रथा को बहुजुठाई प्रथा के नाम से भी कहीं-कहीं जाना जाता है । उत्तर-प्रदेश, बिहार, झारखण्ड की निम्न जातियों के स्त्री-पुरुष के विवाह के

---

[180] गोपा जोशी :भारत में स्त्री असमानता, उद्धृत लेख: दलित स्त्री शोषण के विभिन्न आयाम, पेज नं.133

[181] 'राजस्थान के राजपूत परिवार में एक रिवाज यह था कि नववधू एक डरोगा स्त्री के साथ ही ससुराल में गृह-प्रवेश करे । उस डरोगा स्त्री को उसी गांव में डरोगा पुरुष से ब्याह दिया जाता था । घर में काम-काज करने के साथ-साथ वह स्त्री घर के मर्दों की यौन-तुष्टि भी करे, उससे यह अपेक्षा की जाती थी । ऐसे संबंधों से जन्मे बच्चों से एक अलग जाति 'खोसवाल राजपूत' विकसित हुई । ऊंची जाति के पुरुषों के लिए इस तरह निम्न जाति की स्त्रियों के साथ यौन संबंध बनाने के जो चलन या प्रावधान थे वैसा निम्न जाति के पुरुषों के लिए सोचा भी नहीं जा सकता था ।'

पहली रात ठाकुर या फिर जमींदार के यहां उस नई-नवेली दुल्हन को जाना पड़ता था। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के चलते दलित स्त्रियों का लैंगिक आधार पर उत्पीड़न होता था। इस प्रकार दलित महिलाओं का जातिगत उत्पीड़न अनवरत जारी है।

21वीं सदी में भी बलात्कार की घटनाओं मे सबसे ज़्यादा शिकार दलित महिलाओं को बनाया गया है। इसके साक्ष्य भी हम देख सकते हैं डेल्टा मेघवाल का बलात्कार 2016, भगाणा की लड़कियों के साथ बलात्कार 2014। देश में दलित महिलाओं की दशा एवं दिशा दोनों ही दयनीय है। भारतीय समाज में गुंडे प्रत्येक राज्य में प्रतिवर्ष पांच दलित महिलाओं की हत्या, यौन शोषण करने के बाद, सिगरेट से जला-जलाकर और रेजर ब्लेड से उनके बदन को काट देते हैं। जिसकी कोई रिपोर्ट दर्ज नहीं होती है। ग्रामीण क्षेत्र में दलित महिला वर्ग के शोषण की प्रक्रिया तीन स्तरों पर होती है पहला पुरुष पति द्वारा, दूसरा परिवार द्वारा और तीसरा समाज के बाहरी तत्वों द्वारा। इन स्तरों पर होने वाले शोषण में 85 प्रतिशत दलित महिलाओं की शोषण से मुक्ति के लिए कोई विशेष कानून नहीं है। संविधान में भारतीय दंड संहिता की धारा 319-326 के अंतर्गत जो अपराध आते हैं, उनके ख़िलाफ़ कोई क्रियान्वयन नहीं होता। गांव में शराब पीकर पत्नी को पीटने का अपराध एक ऐसा अपराध है जिसका कोई रिकार्ड नहीं है।

इस प्रकार समाज में दलित महिलाओं को दोहरा अभिशाप सहना पड़ता है। वह जातिभेद, छुआछूत, अपवित्रता और असमानता की यत्रंणा को लगातार सहती हैं। यौन शोषण की घटनाएं अधिकतर दलित महिलाओं के साथ ही घटित होती हैं। कभी-कभी अन्तर्जातीय विवाह के कारण उनको जान से मारने की धमकी भी दी जाती है। दलित महिलाएं घर में शौचालय न होने के कारण बाहर जाने पर बलात्कार की शिकार भी होती हैं। बदायूं कांड इसका पुख्ता उदाहरण है। उच्च जातियों और निम्न जाति में पारस्परिक झगड़ों में दलित महिलाओं को शिकार बनाया जाता है। दलित स्त्री के शोषण को आज सरेआम हम देख सकते हैं। दलित महिलाएं जहां एक तरफ छोटी जाति की होने के कारण अधिकतर सवर्ण पुरुष की मारपीट का भी शिकार बनती हैं वहीं दूसरी तरफ अपने समाज और परिवार में दलित पुरुषों की हिंसा, अपमान, अन्याय और अत्याचार की भी शिकार होती हैं।

3.2.2 वर्चस्वशाली समाज के चक्रव्यूह में दलित स्त्री का घुटता दम, सम्मान और मरता जीवन

रॉबर्ट हार्डग्रेबन ने 18वीं सदी के बाद उच्चकुलीन समूहों द्वारा ट्रावनकोर और तिनेवेल्ली की शनार स्त्रियों पर जताए गये अधिकारों का अध्ययन किया है। ग़ौरतलब है कि शनार महिलाओं को उच्चकुलीन पुरुषों के समक्ष अपने वक्ष ढंकने की अनुमति नहीं थी । ब्राह्मणवादियों के द्वारा थोपे गये इस विशेषाधिकार का शनार महिलाओं ने विरोध किया, किन्तु उन्हें निराशा हाथ लगी क्योंकि इसमें कोई खास सुधार नहीं हुआ। उन्होंने इस तरह के अत्याचार से बचने के लिए बड़ी संख्या में धर्म परिवर्तन किया और वे ईसाई हो गईं। रेवरेंड डब्ल्यू जानसन के हवाले से 'केरल की पुलिया जाति के पुरुष और महिला दोनों ही घास के बनाए कपड़े पहनते थे।' ट्रावनकोर के पूर्वी जिलों में दलितों की स्थिति और भी खराब थी। जहां सवर्णों का आना-जाना होता था वहां की सड़कों पर दलितों के लिए प्रतिबंध था। बाजार में भी वे नहीं जा सकते थे।

महिलाओं पर सामाजिक बंधन अधिक था इन बंधनों के नियमानुसार ही कुछ इलाकों में महिलाओं को ऊपरी वस्त्र पहनने की इजाजत नहीं थी। पुरुष लगभग अर्धनग्न रहते थे। हटन ने रामनाड जिले की एक प्रभु जाति कल्लर और दलितों के बीच संघर्ष का वर्णन किया है। दिसम्बर, 1930 में रामनाड में कल्लरों ने आठ निषेध घोषित किए, जिनका उल्लंघन करने पर वे दलितों के साथ मारपीट करते थे। केरल में ही दलित समाज की महिलाओं को अपने वक्ष ढंकने की इजाजत नहीं थी । इस निषेध का उल्लंघन करने पर उनकी छातियां काट डाली जाती थीं । ऐसा केरल के दलित समाज सुधारक आयंकली 1863-1941 के समय में कई बार हुआ।'[182] धर्म का सहारा लेकर इस देश में दलित और निचली जाति की महिलाओं के साथ अत्याचार और शोषण की रणनीति हिन्दू धर्म का आधार रहा है।

3.2.3 दलित जाति की नादर स्त्रियों का प्रतिरोध : धर्म परिवर्तन-शोषण से मुक्ति

यह भारतीय समाज के लिए बहुत ही आश्चर्य और दातों तले उंगली दबा लेने वाली बात होगी कि केरल के त्रावणकोर में निम्न जाति की नादर स्त्रियों को अपने शरीर का ऊपरी हिस्सा अर्थात वक्ष ढंकने की इजाजत नहीं थी। उन्होंने इस दकियानूसी परंपरा के लिए बड़ा प्रतिरोध किया। लेकिन यह भी ताज्जुब

[182] सं.अभय कुमार दुबे, आधुनिकता के आईने में दलित, पेज नं.232

की बात है कि इस प्रकार का प्रतिबंध न केवल अवर्ण जाति की महिलाओं पर था बल्कि नंबूदिरी ब्राह्मण और क्षत्रिय नायर जैसी जातियों की औरतों पर भी शरीर के ऊपरी अंग को न ढकने जैसे अनेक नियम थे। नंबूदिरी औरतों को घर के भीतर ऊपरी शरीर को खुला रखना पड़ता था। वे घर से बाहर निकलते समय ही अपना सीना ढक सकती थीं। लेकिन मंदिर में उन्हें ऊपरी वस्त्र खोलकर ही जाने की इज़ाजत थी। इसके इतर नायर औरतों को ब्राह्मण पुरुषों के समक्ष अपना वक्ष खुला रखना होता था। किन्तु दलित महिलाओं को अपना ऊपरी अंग ढकने की हर जगह मनाही थी। 1859 में केरल के महाराजा ने अवर्ण औरतों को शरीर के ऊपरी भाग पर कपड़े पहनने की इज़ाजत दी। वहां की औरतों को ऊपरी अंगवस्त्र पहनने के लिए 50 साल से ज़्यादा संघर्ष करना पड़ा। इस जातिगत घटना से वीभत्स और क्या हो सकता है कि निम्न जाति की महिला के ब्लाउज पहनने पर वहां की रानी ने उसके स्तन कटवा दिये।'[183] उन्नीसवीं सदी की यह प्रथा कहीं-कहीं बदले रूप में आज भी मौजूद है। जहां जाति संघर्ष के कारण उच्च जातियां दलितों की प्रगति देखते ही उन पर हिंसा करने लगती है।

1814 में अंग्रेजों के शासनकाल में त्रावणकोर के दीवान कर्नल मुनरो ने ईसाई नादन और नादर महिलाओं को ब्लाउज पहनने का आदेश निकलवाया किन्तु इसका कोई विशेष फायदा नहीं हुआ। 'उच्च वर्ण के पुरुष इस आदेश के बावजूद लगातार महिलाओं को अपनी ताकत और असर के सहारे इस शर्मनाक अवस्था की ओर धकेलते रहे। आठ साल बाद फिर ऐसा ही आदेश निकाला गया। एक तरफ शर्मनाक स्थिति से उबरने की चेतना का जागना और दूसरी तरफ समर्थन में अंग्रेजी सरकार का आदेश। इस आदेश के बाद कई महिलाओं ने शालीन कपड़े पहनने शुरू कर दिए। इधर उच्च वर्ण के पुरुषों का प्रतिरोध भी उतना ही तीखा हो गया।' जाति और पितृसत्ता कितनी हिंसक और क्रूर हो सकती है

[183] एक घटना के अनुसार 'जिसमें एक निम्न जाति की महिला अपना सीना ढक कर महल में आई तो रानी अत्तिंगल ने उसके स्तन कटवा देने का आदेश दे डाला। इस अपमानजनक रिवाज के ख़िलाफ़ 19वीं सदी के शुरुआती दौर में आवाजें उठनी शुरू हुईं। 18 वीं सदी के अंत और 19 वीं सदी के आरंभ में केरल से कई मज़दूर, खासकर नादन जाति के लोग, चाय बागानों में काम करने के लिए श्रीलंका चले गए। बेहतर आर्थिक स्थिति, धर्म बदल कर ईसाई बन जाने और यूरोपीय असर की वजह से इनमें जागरूकता ज़्यादा थी और ये औरतें अपने शरीर को पूरा ढकने लगी थीं। धर्म-परिवर्तन करके ईसाई बन जाने वाली नादर महिलाओं ने भी इस प्रगतिशील कदम को अपनाया। इस तरह महिलाएं अकसर इस सामाजिक प्रतिबंध को अनदेखा कर सम्मानजनक जीवन पाने की कोशिश करती रहीं। यह कुलीन मर्दों को बर्दाश्त नहीं हुआ। ऐसी महिलाओं पर हिंसक हमले होने लगे। जो भी इस नियम की अवहेलना करती उसे सरे बाजार अपने ऊपरी वस्त्र उतारने को मजबूर किया जाता। अवर्ण औरतों को छूना न पड़े इसके लिए सवर्ण पुरुष लंबे डंडे के सिरे पर छुरी बांध लेते और किसी महिला को ब्लाउज या कंचुकी पहना देखते तो उसे दूर से ही छुरी से फाड़ देते। यहां तक कि वे औरतों को इस हाल में रस्सी से बांध कर सरे आम पेड़ पर लटका देते ताकि दूसरी औरतें ऐसा करते डरें। (उद्धृत www.streekal.com)

इसका वर्णन और अनुभव हमें दलित महिलाओं के साथ हुई घटनाओं से मिलता है । कुछ चित्रों के माध्यम से यह साक्ष्य दिया जा रहा है -

184

स्तन ढकने के अधिकार के लिए केरल की महिलाओं द्वारा किया गया ऐतिहासिक विद्रोह

185

184 www.streekaal.com

185 वही, लिंक

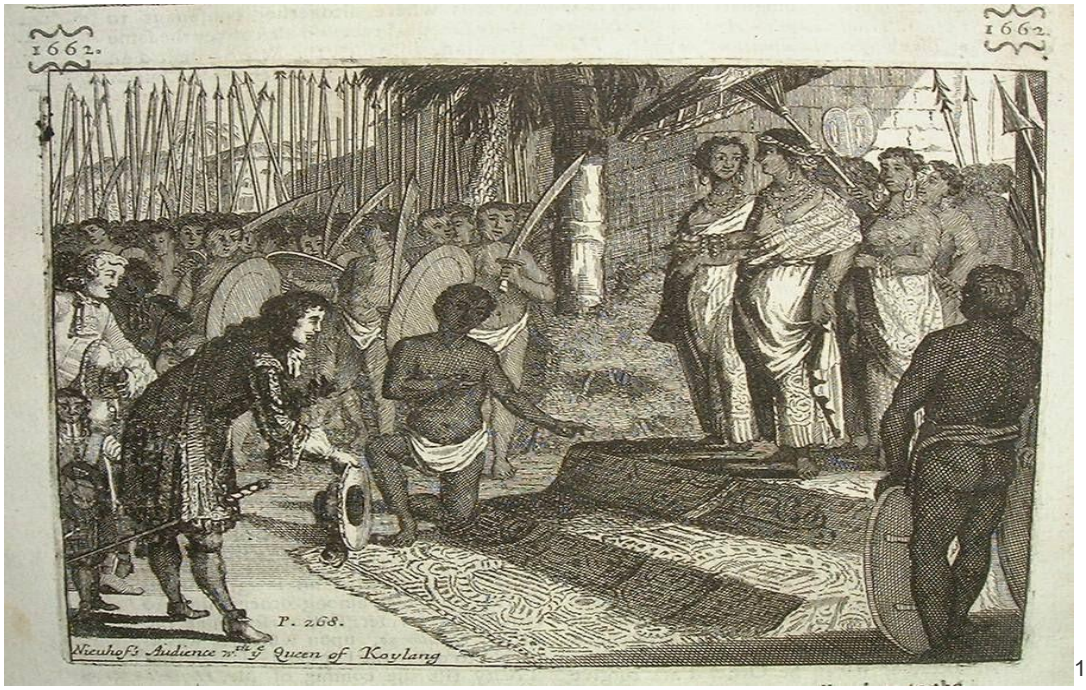

[186]

इस पूरे आंदोलन का सीधा संबंध भारत की आज़ादी की लड़ाई के इतिहास से भी है। नारायण गुरू और अन्य सामाजिक, धार्मिक गुरुओं ने भी इस सामाजिक रूढ़ि का विरोध किया। बाद में अंग्रेजों और नादर आदि अवर्ण जातियों के दबाव में त्रावणकोर के राजा को घोषणा करनी पड़ी कि सभी महिलाएं शरीर का ऊपरी अंग वस्त्र से ढक संकती हैं। 26 जुलाई 1859 को राजा के आदेश से महिलाओं के ऊपरी वस्त्र न पहनने के कानून को बदल दिया गया। आखिरकार लम्बे संघर्ष के बाद त्रावणकोर की महिलाओं ने अपने वक्ष ढकने जैसा बुनियादी हक़ पर विजय प्राप्त किया।

समाज में सम्मान की ज़िंदगी जीने के लिए दलित महिलाओं को एक लम्बा संघर्ष करना पड़ा। जाति के नाम पर होने वाला उत्पीड़न हिन्दू धर्म की एक जीती-जागती सच्ची तस्वीर पेश करता है जिस धर्म या समाज में इतनी खामियां हो और निरन्तर एक ही जाति का दमन और शोषण होता हो उस जाति, धर्म, समाज को छोड़ना ही सही रास्ता है। इस प्रकार उच्च जातियों द्वारा शोषण और उत्पीड़न की घटनाओं से बहुत सी दलित जातियों ने धर्म परिवर्तन किया। दलित जातियों ने उस समय ईसाई

[186] वही, लिंक

धर्म इसलिए भी ग्रहण किया क्योंकि अंग्रेज शिक्षा और आर्थिक बल पर ज़्यादा ध्यान देते थे जिससे कुछ दलितों की स्थितियों में परिवर्तन भी आया।

जातिगत उत्पीड़न का दूसरा रूप दलित महिलाओं का परंपरागत पेशे में संलिप्त रहना है। आज़ादी के कई दशक बीत जाने पर भी मैला प्रथा एक ऐसा घृणित व्यवसाय है जिसे केवल दलित महिलाओं के ऊपर थोप दिया गया है। भारत में आज भी हाथ से मैला उठाने और ढोने की कुप्रथा जारी है। अनिता भारती लिखती हैं कि 'सूखे शौचालय विकासशील भारत के माथे पर कलंक है। मैला उठाने का पेशा मानवीय गरिमा के ख़िलाफ़ है। आज सफ़ाई कर्मचारी वर्ग के बच्चे जो पढ़-लिखकर इस पेशे को छोड़ना चाहते हैं जातिगत व्यवस्था कायम रहने के कारण चाहते हुए भी मना नहीं कर पा रहे हैं।' इस सन्दर्भ में नीरा परमार की एक महत्वपूर्ण कविता का उदाहरण देना यहां सार्थक होगा-

'माथे पर तुम्हारे जब तक यह सनद है

तब तक उनकी व्यवस्था को राहत है कि

तुम्हें किसी

नाम पहचान अधिकार की

परवाह न होगी !

याद रखो माथे पर जब तक

यह भारी डगमगाती विष्ठा की बाल्टी है

तुम्हें अपने और इस विष्ठा-सने झाड़ू-

अस्पृश्य बाल्टी भिनकती मक्खी में

कोई फर्क महसूस नहीं होगा।"[187]

21वीं सदी के भारत की यह कौन सी तस्वीर है 'जहां देश बदल रहा है' का सन्देश वर्तमान सरकार सम्पूर्ण भारत में प्रचारित–प्रसारित कर रही है। भारतीय संस्कृति का दम्भ भरने वाले सभी शासक वर्ग उसी भारत का यह छद्म चेहरा छुपाये रखना चाहते हैं, यह तो तय है कि चाहे कोई सी भी

[187] उद्धृत, सं.विजयपाल (2014) विवेक कुमार-दलित साहित्य का समाजशास्त्र, श्री नटराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पेज नं 96

सरकार आये या जाये लेकिन दलित स्त्रियों की सुध लेने वाला कोई नहीं है। इस प्रकार देखा जाए तो जाति एक ऐसी भयानक सच्चाई के रूप में दलित स्त्रियों के यहां नज़र आती है जिससे सबसे अधिक उत्पीड़ित यदि कोई है तो वह दलित स्त्री ही है।

3.3 वर्गीय/ आर्थिक शोषण

'पुरुष आर्थिक चाबुक से स्त्री पर शासन करता आया है, इसीलिए स्त्री की आर्थिक आज़ादी को उसकी आज़ादी की लड़ाई का पहला चरण माना गया है।'[188]

"बुर्जुआ प्रजातन्त्र सिर्फ लम्बी चौड़ी बातों, जोरदार भाषण, आडम्बरपूर्ण यादों और स्वतन्त्रता तथा समता की बड़ी-बड़ी आवाज़ उठाने वाला प्रजातन्त्र है। लेकिन काम के समय यह प्रजातन्त्र स्त्रियों की स्वतन्त्रता-हीनता और विषमता, मेहनती और शोषितों की स्वतन्त्रता-हीनता और विषमता को नज़रअन्दाज़ करता है। नाश हो इस जघन्य झूठ का। अत्याचारी और पीड़ितों के बीच, शोषक और शोषितों के बीच कभी समता नहीं हो सकती, न है और न होगी। जब तक पुरुषों के गिरफ़्त से विशेष कानूनी सुविधा के जरिए स्त्रियों को स्वतन्त्रता नहीं मिलती, जब तक पूंजी के चंगुल से श्रमिक और पूंजीपति, जमींदार तथा साहूकार के चंगुल से मेहनती कृषकों को मुक्ति नहीं मिलती, तब तक 'स्वतन्त्रता' नहीं मिल सकती। वह न है, और न होगी।"[189]

मार्क्स की क्रान्ति केवल मज़दूरों की क्रान्ति थी। भले ही वह बुर्जुआ बनाम सर्वहारा का उद्देश्य लेकर चला हो किन्तु मार्क्स ने मज़दूरों के हितों को ही ज़्यादा महत्व दिया। सवर्ण स्त्री रचनाकारों ने मार्क्स के वर्ग-संघर्ष को उपयोगी माना है। किन्तु यह ध्यान रहे कि मार्क्स के वर्ग-संघर्ष के केन्द्र में केवल पुरुष मज़दूरों का शारीरिक श्रम था और महिलाओं के अनुभव व श्रम जो विशेष रूप से घरेलू जीवन से जुड़े थे, उनके केन्द्र में नहीं थे। मज़दूरों के जीवन की भौतिकी स्थितियों के महत्व को प्रतिपादित करने वाला मार्क्सवादी सिद्धान्त महिलाओं के जीवन की भौतिकता अथवा श्रम के लैंगिक विभाजन के विषय में चुप है। 'दरअसल घर में महिलाओं के उत्पादक और प्रजननात्मक श्रम को स्वाभाविक मानकर चला गया। इस वज़ह से नारीवादियों ने मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना की और उसे आगे बढ़ाते हुए कहा कि वर्ग की तरह जेंडर भी सामाजिक विभेद का एक प्रकार है और यह

[188] कुमुद शर्मा (2011) आधी दुनिया का सच, सामयिक प्रकाशन, पेज नं.60

[189] प्रावदा, 6 नवम्बर 1969

अधीनता और हाशियाकरण की ओर ले जाता है। वे लोग जो व्यवस्था के भीतर हाशिये पर हैं, उनके पास जेंडर की संरचनाओं की ज़्यादा मजबूत और संपूर्ण समझ हो सकती है।'[190]

भारतीय हिन्दू वर्णवादी समाज में पुरुष को परिवार का आर्थिक आधार माना जाता है जबकि ऐसा नहीं है क्योंकि दलित महिलाएं उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष का समान सहयोग करती हैं किंतु उनकी इस भूमिका और सहयोग को नज़रअंदाज कर दिया जाता है और पुरुष को ही अर्थोपार्जन का श्रेय दिया जाता है। जबकि वास्तविकता यह है कि अर्थोपार्जन में नारी की अतिरिक्त भूमिका रहती है। वह पुरुष से कहीं अधिक हाड़तोड़ मेहनत करती है किंतु उसके श्रम का मूल्यांकन नहीं होता और उसका लगातार शोषण होता रहता है। चाहे नौकरी पेशा महिलाएं हों या खेतिहर-मजदूर महिलाएं उन्हें शोषण की दोहरी चक्की में पिसना पड़ता है। अर्थोपार्जक कार्यों के साथ-साथ वह घर गृहस्थी के सभी कार्य स्वयं निपटाती है। इतना सब करने के बावजूद भी उन्हें तिरस्कार और अपमान सहना पड़ता है। वर्गीय विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दलित स्त्री का वर्गगत शोषण भी एक सच्चाई है।

भारतीय स्त्री ने आर्थिक आज़ादी के रास्ते पर अपना पहला कदम रखा है। घरेलू भूमिका निभाने वाली स्त्री शिक्षित होकर आत्मनिर्भर बन रही है। किन्तु ये कौन सा वर्ग और वर्ण है जिसे सम्मानजनक रोजगार आसानी से मिल रहा है और कौन सा तबका है जिसे आज भी नारकीय कामों में ढकेला जा रहा है ? अधिक श्रम वाले रोजगार जैसे, ईंट ढोना, कूड़ा बिनना, झाड़ू लगाना, मैला ढोने आदि का काम दलित स्त्रियाँ ही करती हैं। भारत में सभी स्त्रियों की स्थिति एक जैसी नहीं है और न ही उनका दर्जा क्योंकिसमाज में वर्ग की भिन्नता से स्त्रियों के काम और व्यवसायों में भी भिन्नता है। जो काम उच्च सवर्ण महिला करती है वही काम एक दलित भंगी महिला को नहीं दिया जाता। इसके इतर समाज में सवर्ण महिलाओं और दलित जाति, अल्पसंख्यक महिलाओं की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में बड़ा अन्तर है।

[190] संपादन-रंजीत अभिज्ञान और पूर्वा भारद्वाज (2011) जेंडर और शिक्षा, रीडर, भाग-2:, निरंतर, नई दिल्ली-पहला संस्करण, पेज नं.3-4

रामनरेश राम लिखते हैं कि 'वामपंथी आंदोलन ने आरम्भ में समाज का केवल वर्गीय विश्लेषण किया, जाति की सच्चाई पर उतना ध्यान नहीं दिया। अस्मिताओं के विकास के लिए उर्वरक ज़मीन मौजूद थी। दलित जीवन में दलित पुरुष तो बहिर्मुखी होता है लेकिन दलित स्त्री की बहिर्मुखता में भी एक तरह की अंतर्मुखता होती है। दलित महिलाएं अपने जीवन के इर्द-गिर्द एक फैंटेसी की दुनिया रचती हैं जिसका आधार उनकी तथाकथित संस्कृति और रीति-रिवाज हैं। इन सामाजिक जातिवादी व्यवहारों में ऐसी चीजें हैं जिनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो उसकी जड़ समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र में मिलेगी। ऐसा क्यों हैं कि आर्थिक संरचना और सामाजिक उपेक्षा की घोरतम शिकार दलित स्त्री के ही शरीर पर देवी जी सवार होती हैं ?'[191] जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज में खास तरह का मानसिक विभाजन कर दिया। विभाजन इतने स्तरों पर हो गया कि इसने राष्ट्र-चेतना क्या समुदाय चेतना को भी निर्मित नहीं होने दिया। मुक्तिबोध कहते हैं कि वर्ग विभाजित समाज में व्यक्ति का मन भी विभाजित होता है। तो यह विभाजन केवल वर्गीय नहीं बल्कि जातीय भी है। अतः कहा जा सकता है कि भारत एक जातीय अस्मिताओं वाला देश है।[192]

आंकड़ों को आधार बनाकर देखा जाय तो भारत में दलित जातियों की तस्वीर कुछ इस रूप में उभरती है – "भारत की आबादी में करीब 16 फीसद अनुसूचित जातियां हैं और उनमें करीब 36 फीसद श्रमिक हैं जिनका 48 फीसद हिस्सा खेतिहर मजदूरी करता है। भूमि के मालिकाने के हिसाब से करीब सत्तर फीसद दलित छोटे और सीमाँत किसान हैं जिन्हें अपना गुजर-बसर के लिए दूसरों के यहां भी काम करना पड़ता है। अनुसूचित जातियों का बहुत छोटा सा करीब पांच फीसद हिस्सा बड़े और धनी किसानों की श्रेणी में माना जा सकता है। श्रमिक और खेत मज़दूरों के रूप में काम करने वाले बहुत से दलित अतीत की जजमानी प्रथा से निकले खाल उतारने और मैला ढोने जैसे पारम्परिक जाति पेशों से बंधे हुए नहीं है।"[193] इन जातियों की महिलाओं को अतिरिक्त शारीरिक और मानसिक श्रम करना पड़ता है किन्तु श्रम के अनुकूल उनको पारिश्रमिक नहीं मिलता। स्त्रियों को दोयम दर्जा देना और उनके

[191] रामनरेश राम- दलित स्त्रीवाद की अत्मकथात्मक अभिव्यक्ति, पेज नं.26

[192] वही, पेज नं.26

[193] अभय कुमार दुबे, 'आधुनिकता के आईने में दलित', पेज नं.196

श्रम का सही मूल्यांकन न करना, उन्हें ज़्यादा काम देना तथा उनकी मजदूरी पुरुषों की अपेक्षा कम करना ये सभी पूंजीवाद की चाल है। इस सन्दर्भ में 'पूंजीवादी उत्पादन ने समाज में ऐसी स्थितियां पैदा कीं हैं जिससे सामाजिक उत्पादन में स्त्री मजदूरों की और कोर्पोरेट सेक्टर में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी है चूंकि घरेलू गुलाम होने के कारण उनकी श्रमशक्ति सबसे सस्ती थी। इसी आधार पर पूंजीवादी शक्तियों द्वारा यौन-भेद और यौन-उत्पीड़न तथा यौनिक आधार पर पार्थक्य, निर्वासन और उपनिवेशन के जटिल सांस्कृतिक-सामाजिक मूल्यों-संस्थाओं का एक समूचे तंत्र का विकास हुआ है।'

दलित महिलाओं के मुद्दे किस प्रकार अभिजन वर्ग की महिलाओं के मुद्दे नहीं बन सके और उनके प्रश्नों की घोर उपेक्षा की गयी इस पर कात्यायनी लिखती हैं कि 'एक ओर यदि वे स्त्री की स्वतन्त्र अस्मिता के प्रश्न को तथा नैतिकता और परिवार आदि से जुड़े मुद्दों को उठाकर ऐतिहासिक तौर पर प्रगतिशील भूमिका निभा रही थीं, दूसरी ओर उनके सरोकार काफ़ी कुछ अभिजन समाज तक सिमटे हुए थे। उजरती गुलामी और घरेलू गुलामी के पाटों के बीच पिसती व्यापक मेहनतकश वर्गों की स्त्रियों के जीवन तक उनकी सोच की पहुंच नहीं थी और यदि कहीं थी भी तो महज धार्मिक-नैतिक सदाशयता और दयालुता के रूप में ही।"[194]

सवर्ण स्त्रियों के आंदोलन में दलित स्त्रियों की जिस तरह अनदेखी की गयी उससे उनमें व्याप्त सवर्ण जातिवादी मानसिकता स्पष्ट परिलक्षित हो जाती है। यह अकारण नहीं था कि दलित स्त्रियों को अपने स्तर पर अपनी लड़ाई स्वयं लड़नी पड़ी है। सामाजिक विषमता के साथ-साथ वे आर्थिक आज़ादी का संघर्ष भी स्वयं कर रही हैं। दलित पुरुषों ने भी अपनी कोई भूमिका अदा नहीं की बल्कि दलित स्त्रियों को अपने पुरुषों से भी लड़ना पड़ा। अर्थोपार्जन करके जब दलित स्त्रियाँ घर पर आती हैं तो उनकी पूंजी को उनके पतियों द्वारा हथिया लिया जाता है और फिर दलित स्त्रियों का उनके वेतन पर भी कोई अधिकार नहीं रह पाता है। दलित स्त्री परिश्रम करने के बावजूद भी अपने श्रम की मालिक बनने से वंचित है। सुशीला ताकभौरे ने अपनी आत्मकथा में इसका हवाला दिया है कि किस प्रकार उनके द्वारा कमाये हुए पैसों को उनके पति छीन लेते थे।

[194] जान स्टुअर्ट मिल : स्त्रियों की पराधीनता, अनु.कात्यायनी, भूमिका, पेज नं.15

दलित स्त्री जिन सवर्ण घरों में काम करती हैं वहां उनसे अस्पृश्यता का बर्ताव भी किया जाता है। इसी व्यथा-कथा का चित्रण बेबी हालदार अपनी आत्मकथा 'आलो आंधारि' में करती हैं 'मेरा काम उन लोगों को बहुत पसंद आया। वे लोग जात से ब्राह्मण थे और छुआछूत का ध्यान रखते थे लेकिन फिर भी मुझसे सभी काम कराते थे क्योंकि मेरे बिना उनका काम नहीं चलता था।"[195] जातिगत भेदभाव के चलते ही दलित महिलाओं के श्रम और उनकी प्रतिभा का अवमूल्यन किया जाता है। ऊंची जातियां अपने जातिगत दृष्टि वाले चश्मे से दलित महिलाओं का निरन्तर शोषण करती रहती हैं।

डॉ.अम्बेडकर ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद दोनों को बड़ा शत्रु मानते थे। उन्होंने सामाजिक और आर्थिक लड़ाई के लिए एक साथ लड़ने के लिए कहा क्योंकि जाति का प्रश्न आर्थिक प्रश्न के साथ जुड़ा हुआ है। सदियों से दलित जातियां वर्णाश्रम व्यवस्था के तहत जिस व्यवसाय के लिए बाध्य कर दी गयी थीं वे अभी भी उसी रूप में मौजूद हैं। जन्म के साथ जुड़े हुए पेशे अभी तक ख़त्म नहीं हुए हैं। अभी भी तेरह लाख लोग सिर पर मैला ढोकर अपनी रोज़ी-रोटी कमाते हैं। मैला ढोने के पेशे में 95 फ़ीसदी अभी भी दलित महिलाएं लगी हुई हैं।

मैला प्रथा आज भी भारत के कई शहरों में जीवित है और इस काम में वाल्मीकि जाति की महिलाएं अधिक लगी हुई हैं। 'कानूनी तौर पर मानव मल-मूत्र सिर पर उठाना बन्द करवा दिया गया है। शुष्क शौचालय सन्निर्माण अधिनियम के अनुसार "कोई भी व्यक्ति मल-मूत्र हाथ से ले जाने के कार्य में नहीं लगेगा तथा न किसी अन्य व्यक्ति को इस कार्य हेतु नियोजित करेगा।' लेकिन इस अधिनियम के बावजूद दिल्ली, राजस्थान, हरियाणा, मध्यप्रदेश, बिहार, उत्तर-प्रदेश आदि राज्यों में मल-मूत्र उठाने का कार्य बतौर पेशा करवाया जाता है। इस कार्य में भारत के विभिन्न राज्यों के 13 लाख लोग लगे हुए हैं। इस कार्य में 98% अछूत दलित है। जिनमें महिलाओं की संख्या 68% है।"[196] मैला ढोने में लगी महिलाएं विभिन्न रोगों की शिकार भी हो जाती हैं जिसमें चर्म रोग, हैजा, एनीमिया, दस्त, पीलिया आदि घातक रोग हो जाता है। इसके अतिरिक्त वे दलित महिलाएं जो गर्भावस्था में भी रोज़ी-रोटी के

[195] बेबी हालदार: आलो आंधारि, पेज न.90

[196] संपादक: संगीता आनन्द, लेख- हेमलता, दलित महिलाओं का रोजनामचा, वर्तमान संदर्भ, अगस्त -2009,वर्ष 8, अंक 18, पेज नं.142

लिए ये कार्य करने के लिए मजबूर होती हैं उनके बच्चे भी चर्म रोग से ग्रस्त हो जाते हैं। मैला ढोने वाली दलित महिलाओं को समाज में छुआछूत, अपमान और भेदभाव का दंश झेलना पड़ता है। यहां तक कि उन्हें वेतन भी सबसे कम मिलता है। आर्थिक अभाव, गरीबी में वे जीवन यापन करने पर मजबूर हैं। उनके बच्चे भी जाति भेदभाव के कारण शिक्षा से वंचित रह जाते हैं।

भाषा सिंह की रौंगटे खड़ी कर देने वाली पुस्तक अतुलनीय भारत की एक अनोखी तस्वीर पेश करती है, वह है- 'अदृश्य भारत'। इस पुस्तक में **(अदृश्य भारत)** भारत में उन दलित स्त्रियों की व्यथा-कथा है जो जाति में निम्न स्तर पर होने के कारण घृणित और नारकीय काम करने पर मजबूर हैं और गरीब होने के कारण अपनी जीविका चलाने के कारण भी। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी, तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, बैंगलोर, राजस्थान, गुजरात और देश की राजधानी तक में यह प्रथा आज भी जीवित है। अपनी पुस्तक की भूमिका में भाषा सिंह लिखती हैं "जाति कोई रूमानी चीज़ नहीं है जो एक बार साथ खाने-पीने से खत्म हो जाती है। वे इस सच्चाई से वाकिफ़ हैं कि अर्थव्यवस्था के विकास के साथ-साथ जाति और धर्म की जकड़ने टूटना तो छोड़ ही दीजिए कमजोर होने की बजाय ज़्यादा मजबूत ही हुई है। जाति एक राजनीतिक प्रश्न है और इसका गहरा रिश्ता वर्ग-चेतना से है।"[197]

'वाल्मीकि समुदाय की मीना से हेमलता अपने साक्षात्कार में उनके दर्द को उन्हीं के शब्दों में बयान करते हुए लिखती हैं- "सफ़ाई कर्मचारी आंदोलन' से जुड़ने से पहले मैं 'मैला उठाने' का काम करती थी। लकड़ी के टोकरे में 'मानव मल' सिर पर ढोने का काम करते हुए कई बार गन्दे होने की संभावना रहती थी। बरसातों में तो बुरा हाल हो जाता था। टोकरे से गन्दा पानी रिस-रिस कर मुंह से लेकर पूरे शरीर पर बहता था। बहुत ही गंदा लगता था। लेकिन क्या करे कोई दूसरा काम ये बड़े जात वाले हमें करने देते ही नहीं। इसलिए मजबूरी में यह गंदा काम करना पड़ता था। मेरे माता-पिता भी यही काम करते हैं। आज भी वे सवेरे घरों में मैला उठाते हैं और फिर दिन में कूड़े से पन्नी बिनने का काम करते हैं तब जाकर कहीं दो वक्त की रोटी का जुगाड़ हो पाता है।"[198] आर्थिक रूप से दलित

[197] भाषा सिंह-अदृश्य भारत, पेज नं.भूमिका -28

[198] संपादक: संगीता आनन्द, लेख- हेमलता, दलित महिलाओं का रोजनामचा, वर्तमान संदर्भ, अगस्त -2009,वर्ष 8, अंक 18, पेज नं .143

स्त्रियाँ गरीबी का तो दंश झेलती ही हैं किन्तु सामाजिक रूप से निम्न जाति की होने के कारण इन्हें कई तरह के अपमान और नारकीय काम भी करने के लिए मजबूर होना पड़ता है जिससे सवर्ण स्त्रियाँ अछूती हैं।

आर्थिक रूप से मैला ढोने के काम में भी लैंगिक भेदभाव किया जाता है। इसमें जहां दलित पुरुषों को महीने में एक हजार रूपए मिलते हैं वहीं दलित महिलाओं को महज पांच सौ रूपए थमाए जाते हैं। इस प्रकार लिंग, जाति और वर्ग का सवाल दलित महिलाओं के यहां एकसूत्रीय रूप में दिखायी देता है। तीन स्तरों पर शोषण उनकी निजी ज़िंदगी के तमाम आयामों में घटित होता है, जिसकी वे अकेली शिकार हैं।

परिवार में स्त्रियों द्वारा किए गए घरेलू श्रम को परिश्रम के अन्तर्गत नहीं माना जाता है जिससे दिन-रात महिलाओं के घर में खटने का कोई मूल्य ही नहीं दिया जाता। भारत की गणतंत्रीय व्यवस्था में भी नीति निर्माताओं, कानूनवेत्ताओं तथा नीतियों और कानून को लागू करने वालों का दृष्टिकोण स्त्रियों के प्रति भारतीय तथा पश्चिमी दुराग्रहों से ग्रसित रहे। इसीलिए भारतीय जनगणना में 1981 तक आर्थिक सक्रियता के मापदंड पश्चिमी समाजों में स्वीकृत मापदंड थे। इनके अनुसार श्रम क्रय-विक्रय की वस्तु होती है। जो बिकता नहीं वह श्रम नहीं है। जबकि भारत जैसे विकासशील देश में सारा श्रम बाजार के लिए नहीं किया जाता। दूसरा काम के आधार पर मजदूरी व्यवस्था, जो असंगठित क्षेत्र की व्यवस्थाओं में से एक है, में स्त्री घर में बैठकर काम करती है। ये दोनों प्रकार के श्रम पश्चिमी मापदंडों के अनुसार श्रम नहीं है। यहां विडम्बना यह भी है कि जनगणना में इस प्रकार के कामों को आर्थिक भागीदारी नहीं माना जाता है। यहां तक कि जनगणना में स्त्रियों द्वारा घरेलू अर्थव्यवस्था के लिए किया जाने वाला काम जैसे पशुपालन भी श्रम के अन्तर्गत नहीं आता। इसके अतिरिक्त घरेलू काम से जुड़ी आर्थिक गतिविधियों जैसे लकड़ी, पानी या चारा इकट्ठा करना आदि भी श्रम के अन्तर्गत नहीं आता। दलित स्त्रियाँ चूंकि उदारीकरण और औद्योगिकीकरण के चलते मशीनीकरण होने से उनकी छटनी हुई है जिससे बाहर भी उन्हें सम्मानित रोजगार नहीं मिलते। विश्वविद्यालयों के छात्रावासों के भोजनालयों (मेस) और मिड डे मिल जैसी योजनाओं में उन्हीं महिलाओं की नियुक्ति की जाती है जो उच्च जाति से हैं और छात्रावासों और संस्थानों के शौचालयों की साफ़-सफ़ाई के लिए निम्न दलित जाति

की महिलाओं को ही लगाया जाता है। आर्थिक क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी के बावजूद उनका योगदान कम आंका जाता है क्योंकि आधुनिक और औद्योगिक क्षेत्र में 'भारी' और 'महत्वपूर्ण' कामों की जिम्मेदारी पुरुषों की होती है। इन 'महत्वपूर्ण' कामों को संभव बनाने की पृष्ठभूमि वाली जिम्मेदारियां स्त्रियों को दी जाती है।

भारत में महिलाओं की श्रम शक्ति दर अपेक्षाकृत कम है। 1991 की जनगणना के अनुसार मात्र 22.7 प्रतिशत महिलाएं श्रम शक्ति में शामिल थीं। उसके बाद कुल महिला श्रमिकों का 27.2 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत हैं। नई बीज उर्वरक तकनीक की व्यापकता के कारण पारंपरिक रूप से महिलाओं द्वारा किए जाने वाले श्रम कार्यों में उनकी भागीदारी बढ़ी है। इससे जोखिम भरे कामों में महिला श्रमिकों की माँग में वृद्धि हुई है। 'गैर कृषि क्षेत्र में पुरुषों के बढ़ते रोजगार के कारण भी महिला श्रमिकों की माँग में वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप पुरुष श्रम की अपेक्षा महिला श्रम के वास्तविक पारिश्रमिक में वृद्धि हुई है। जबकि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का श्रम लागत और मजदूरी आज भी कम है।'[199]

स्त्रियों की शिक्षा, रोजगार इत्यादि संबंधी आंकड़े जाति, धर्म, वर्ण के आधार पर इन आंकड़ों की विवेचना नहीं करते। उदाहरण के लिए 1901 में, यह घटकर 12.1 प्रतिशत ही रह गई। भागीदारी में इस कमी का कारण मशीनीकरण के कारण, पारंपरिक रोजगारों से स्त्रियों का बाहर हो जाना बताया गया। परंतु किस जाति, धर्म, वर्ण की स्त्रियाँ किस प्रकार के मशीनीकरण से बेरोजगार हुईं इसका खुलासा नहीं मिलता। जातिगत भेदभाव के चलते स्त्रियों से संबंधित आंकड़े टूटे-टूटे हैं। अधिकतर निचली जातियों की स्त्रियाँ असंगठित क्षेत्र में रोजगार पाती हैं। 'विकास' प्रक्रिया में विस्थापित होने से मध्यम तथा उच्च जाति की स्त्रियाँ भी रोज़ी-रोटी के लिए बाहर निकलने लगी हैं। जिससे रोजगार पाने के लिए भीड़ इकट्ठा हुई है। परंतु जनगणना तथा अन्य सर्वेक्षणों से स्त्रियों के लिए रोजगार की उपलब्धता, मजदूरी, काम करने की परिस्थितियों आदि की सही तस्वीर नहीं मिलती है।

[199] नारीवादी राजनीति: संघर्ष एवं मुद्दे, पेज नं.257

3 अरब गरीब आबादी में से 70 प्रतिशत महिलाएं हैं। वह दुनिया की खाद्य सामग्री के 50 प्रतिशत का उत्पादन करती हैं जबकि बदले में उन्हें मात्र 10 प्रतिशत आय प्राप्त होती है। महिलाएं पुरुषों की अपेक्षा कम संसाधनों का उपयोग करती हैं और पुरुषों की तुलना में उन संसाधनों पर उनका स्वामित्व भी कम है। यहां तक कि जिस संपत्ति पर उनका स्वामित्व होता भी है, प्रायः उसका रखरखाव और नियंत्रण भी परिवार के पुरुष सदस्यों के पास होता है। भारतीय अर्थव्यवस्था में ग्रामीण क्षेत्रों का योगदान 72.18 प्रतिशत है। संविधान द्वारा जेंडर के आधार पर समानता दिए जाने के बावजूद महिलाएं सामाजिक-आर्थिक सूचकांक के प्रत्येक समूह में पुरुषों की अपेक्षा पीछे छूटी हुई हैं।'[200]

कृषि मजदूरों में 85 प्रतिशत मजदूर दलित आदिवासी हैं। इसमें भी अधिकतर संख्या दलित-आदिवासी कृषि मजदूर महिलाओं की है। इन दलित महिलाओं के साथ कार्यस्थल पर यौन-शोषण तो किया ही जाता है इसके अतिरिक्त इनका आर्थिक शोषण भी किया जाता है। 'जमींदारों के खेतों में दलित-आदिवासी महिलाएं सूरज निकलने से लेकर सूरज डूबने तक मेहनत-मशक्कत करती हैं परंतु बदले में उनको मजदूरी 4 से 6-8 रूपए तक ही मिलती है, वह भी रोज नहीं मिलती है। मजदूरी माँगने पर इनके साथ दुर्व्यवहार किया जाता है, अपमानित किया जाता है। 'डग' सामाजिक संस्था द्वारा आयोजित जनसुनवाई में सुल्तानपुर की ईशरा ने बताया कि वह दिन भर धान पीसने के बाद जब खेत के मालिक बजरंगी शर्मा के घर मजदूरी माँगने गई तो वह बोला, "कैसी मजदूरी? तुम तो हमारे खेत से घास ले गई थी।"[201]

भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्न जाति की महिलाओं की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। लिंग और जाति के आधार पर भी उनका शोषण आर्थिक क्षेत्र में जारी है। 'हरित क्रांति के आरंभ होने से पहले तक दक्षिण एशिया में भूमिहीन और गरीब किसान परिवार की महिलाओं ने अपने परिवारों की आजीविका और कल्याण के लिए अपने सामान्य पारिवारिक कर्तव्यों और पारिवारिक आयों में योगदान के जरिए बहुमूल्य भूमिका अदा करती रहीं। लेकिन तकनीकि परिवर्तन ने उनके आय अर्जित करने और

[200] वही, पेज नं.251

[201] समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.139

परिवार के निर्वहन की उनकी क्षमता पर गंभीर अतिक्रमण किया है। अधिकतर भूमिहीन महिलाएं अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों से संबंधित हैं और उनकी आय अर्जित करने की क्षमता सिंचित क्षेत्रों की अपेक्षा सूखी ज़मीन और वर्षा पर आधारित कृषि वाले क्षेत्रों में ज़्यादा बुरी तरह नष्ट हुई है।

मशीनीकरण के चलते महिलाओं को रोजगार से बेदखल भी होना पड़ा है। इसकी सबसे ज़्यादा शिकार दलित महिलायें हुईं। समाज में उच्च और निम्न जाति की महिलाएं इस मशीनीकरण से अलग-अलग प्रभावित हुईं। कृषि के पूर्ण मशीनीकरण से समाज की उच्च तबके की महिलाओं ने फायदा उठाया और उन्होंने स्वयं को कृषि कार्यों से मजबूत किया तथा अपने खाली वक़्त को ऐसे क्षेत्रों में उपयोग किया जहां उनकी जीवन शैली में सुधार की गुंजाइश थी। इसके बरक्स निम्न तबके की महिलाओं पर मशीनीकरण का बेहद नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

आर्थिक क्षेत्रों में होने वाला शोषण दलित महिलाओं के लिए उनके रोजगार की समस्या तथा अपने परिवार को चलाने के लिए रोज़ी-रोटी का प्रबन्ध करने आदि जैसी भीषण समस्याएं और मुद्दे हैं जिनसे दलित स्त्री समाज अत्यंत निचले पायदान पर स्थित होने के कारण निरन्तर जूझती है। 1961 की जनगणना के अनुसार केवल 16 प्रतिशत ग्रामीण स्त्रियाँ आर्थिक क्षेत्र में सक्रिय थीं। लेकिन स्त्रियों के काम को समग्र रूप से देखने वालों के अनुसार स्त्रियों की भागीदारी 51 प्रतिशत है। कृषि क्षेत्र में पूरे देश के 70 प्रतिशत लोगों को रोजगार मिलता है। स्त्रियों में यह आंकड़ा 84 प्रतिशत है। सन् 1971-81 के दशक में गांवों में बालिका मजदूरों की संख्या बढ़ी और बालक मजदूरों की संख्या कम हुई। अनुसूचित जाति एवं जनजाति की ग्रामीण स्त्रियों का अनुपात पूरे देश की ग्रामीण स्त्रियों की कुल संख्या का केवल एक चौथाई है, परंतु कृषि मजदूरों में इनका प्रतिशत 50 है। 'कृषि के क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी उनकी जाति के अनुसार घटती-बढ़ती है। ऊंची जाति की स्त्रियों की उत्पादन कामों में सबसे कम भागीदारी 58.6 प्रतिशत थी। बीच की जातियों की 81.01 प्रतिशत, निम्न जातियों की 83.9 प्रतिशत तथा अछूतों की 81.6 प्रतिशत थी।'[202]

[202] गोपा जोशी: भारत में स्त्री असमानता, पेज नं.240

दलित स्त्रियों को आर्थिक रूप से किसी भी प्रकार की सुदृढ़ता नहीं प्राप्त है। विकास का जो मॉडल है उसमें दलित स्त्रियों की आर्थिक समृद्धता की बात तो होती ही नहीं। उन्हें गांवों में जमींदारों और साहूकारों के यहां मजदूरी और बेगारी करनी पड़ती है और शहरों में उत्पीड़न (mode of exploitation) अलग प्रकार का है। शहरों में दलित औरतें असंगठित क्षेत्रों में जुटी हैं, जैसे अखबार, धूपबत्ती, कपड़े-लत्ते की फेरी कर बिक्री करना, कबाड़ चुनना, कागज बीनना, कोयला, लोहा बीनना, चौका-बर्तन साफ़ करना जैसे असंगठित और उत्पादन क्षेत्र हैं, जो अस्वच्छ और न्यूनतम मूल्य तथा कठोर परिश्रम पर आधारित हैं। दूसरा निर्माण-कार्य, सड़क बनाना, ईंट-भट्टों पर कार्य करना, बीड़ी या खिलौने बनाना सभी कड़ी मेहनत के कार्य हैं। वहां भी मशीनीकरण होने से छंटनी होती है। इसलिए दलित महिलाओं को अधिक भागदौड़, अधिक मेहनत करनी पड़ती है। उनके लिए रोज़ी रोटी जुटाना पहाड़ खोदने से कम नहीं है। ऊपर से यौन शोषण की समस्या से वे निरन्तर प्रताड़ित होती हैं।

दलित स्त्री की आर्थिक असमृद्धता का चेहरा हमें दलित स्त्री आत्मकथाओं में देखने को मिलता है। जहां कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में उनकी आजी और नानी तथा माँ के श्रम का वर्णन है वहीं सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा में भी उनकी माँ के श्रम का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त दलित पुरुष आत्मकथाओं में भी 'जूठन', मुर्दहिया, मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में भी दलित समाज की स्त्रियों द्वारा मजदूरी के चित्रण को दिखाया गया है। इसी तरह मराठी आत्मकथाओं में भी दलित महिलाओं के श्रमिक जीवन का मार्मिक चित्रण मिलता है।

इस प्रकार देखा जाय तो भारतीय साहित्य में दलित स्त्री लेखन ने ऐसा परिवेश पैदा किया है कि अब ये स्त्रियाँ इस बात की मोहताज नहीं हैं कि और कोई उन पर लिखे बल्कि वे खुद अपने जीवन-अनुभव अभिव्यक्त कर रही हैं। जो मानसिक संवेदना लिखने का कारण बनी, वह पितृसत्ता के साथ टकराहट से उपजी है। आर्थिक विषमता को दलित लेखिकाओं ने बड़ी सूक्ष्मता से अपने लेखन में उठाया है। "जीवन हमारा' में एक ऐसे मानव-समुदाय का विशाल और समग्र चित्र सामने आता है जो अंतहीन गरीबी, गुलामी और दमन का शिकार होने के कारण जानवरों से गया-बीता जीवन जीता है। वह भूखों मरने से बचने के लिए कभी मरे हुए जानवरों का माँस खाता है तो कभी नागफनी का फल। उस समुदाय के सभी लोग वस्त्र के नाम पर चिथड़े पहनते हैं और जीवन-भर नागफनी के कुस तथा कांटों से

लड़ते हुए मरते हैं। वे अपने घर में और बाजार में ही नहीं बल्कि राह चलते भी सवर्णों की घृणा के शिकार होते रहते हैं।"[203]

प्रसिद्ध समाजशास्त्री विवेक कुमार जी लिखते हैं कि "ये दलित महिलाएं दलितों में दलित हैं यानि ये दोहरे शोषण की शिकार हैं। एक तो आम महिलाओं के रूप में उनका शोषण होता ही है, फिर दलित महिला होने के नाते उनका घर के बाहर शोषण एवं दोहन होता है। .....अगर यह कहा जाए कि दलित महिलाओं का अपने परिश्रम के साथ-साथ अपने जिस्म पर भी कोई अधिकार नहीं है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। सामंतवादी व्यवस्था में भूमिहीन मज़दूर के रूप में जमींदार आज भी दलित महिलाओं से सस्ता श्रम खरीदते हैं और जब जी चाहे उनका भोग कर लेते हैं। यहां तक कि दलित पुरुषों की आवाज़ को दबाने के लिए वे उनकी महिलाओं पर अत्याचार भी करते हैं। एस.सी./एस.टी. कमिश्नर की रिपोर्ट के अनुसार दलित महिलाओं के साथ हर साल बलात्कार की हजारों घटनाएं होती हैं। इनकी तादाद साल दर साल बढ़ती ही जा रही है।"[204]

जाति और वर्ग की मार एक साथ सहने वाली दलित स्त्रियाँ इस उत्पीड़न की शिकार कैसे होती हैं इन दोनों जाति और वर्ग के बीच का जो संबंध है उसको बहुत ही सधे ढंग से रेखांकित करते हुए गेल ओमवेत लिखती हैं ....."जाति जमीनी हकीकत है, इसकी बुनियाद जमीनी है। यह केवल एक स्वरूप (फॉर्म) भर नहीं, बल्कि ठोस वस्तु (कंटेट) है। इसने भारतीय समाज के आधार को रूप-आकार प्रदान किया है और आज भी आर्थिक स्तर पर यह महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।" गेल ओमवेत जिस तरफ इशारा कर रही हैं उससे साफ़ जाहिर है कि सामाजिक और आर्थिक स्तर पर जाति और वर्ग दोनों का आधारभूत संबंध रहा है और दलित स्त्रियाँ इससे सबसे अधिक प्रभावित होती हैं।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जो पदानुक्रमता विद्यमान है वह दो स्तरों पर है पहला आनुष्ठानिक शुद्धता के स्तर पर है जिसमें ब्राह्मण सर्वोपरि है और निम्न-अछूत। दूसरा स्तर राजनीतिक और आर्थिक है जिसमें भूस्वामी सर्वोपरि है और भूमिहीन श्रमिक सबसे निम्न। 'पहला व्यवस्था के

[203] बेबी कांबले: जीवन हमारा, पेज नं.8

[204] संपादक: संगीता आनन्द, लेख- हेमलता, दलित महिलाओं का रोजनामचा, वर्तमान संदर्भ, अगस्त -2009, वर्ष 8, अंक 18, पेज नं.142

स्वरूप का प्रतिरूप है और दूसरा इसकी हकीकत। दोनों ने मिलकर असमानता के एक अनोखे रूप की रचना की है जिसे हम जाति व्यवस्था के रूप में जानते या समझते हैं। बंधुआ या कर्ज के एवज में कई पीढ़ियों तक अनिवार्य श्रम दोहन का चलना आज भी जारी है। सामान्यतः वर्ग के तहत देखे-समझे जाने वाले ये संबंध जाति व्यवस्था को उचित ठहराने वालों द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले ऐसे पैटर्न या ढांचे में फिट नहीं किए जा सकते जो मेलजोल और परस्पर निर्भरता पर आधारित हो यानी 'जिसमें जो लायक है वह वैसा काम करता है, जिसमें सबको सबकी जरूरत है।' जाति व्यवस्था को इस तरह के ढांचे के रूप में प्रस्तुत करने वाली ऊंची जातियां दरअसल व्यवस्था के शोषणपरक आयामों पर बात करने से कतराती हैं, कारण, ऐसा करना उनके हित के ख़िलाफ़ ठहरता है।"[205] वर्ग और जाति के इस पदानुक्रम के अनुसार दलित स्त्रियाँ शोषित होती हैं। देखा जाय तो उनका उत्पीड़न न केवल जाति, वर्ग के स्तर पर है बल्कि जेण्डर के स्तर पर भी है। काम का दोयम दर्जा जो है वह दलित स्त्रियों के ही हिस्से में है जिससे जाति के आधार पर उच्च जाति की स्त्रियाँ बच जाती हैं। चूंकि उच्च जाति की स्त्रियों के यहां काम उनके सम्मान और प्रतिष्ठा को देखकर दिया जाता है जैसे-पूंजी संचयन का काम, व्यापार का काम, इसके अतिरिक्त जिससे सामाजिक प्रतिष्ठा बनी रहे वही काम इनको दिये जाते हैं। जबकि पारंपरिक काम जैसे कूड़ा बिनना, मैला उठाना, झाड़ू-सफ़ाई का काम आदि दलित स्त्रियों को दिए जाते हैं। श्रम और काम का जो बंटवारा है वहां भी इनका दोहरा शोषण होता है। जाति का फैक्टर तो यहां बहुत बड़ी भूमिका निभाता ही है उसके साथ-साथ जेण्डर भी अपनी प्रमुख भूमिका अदा करता है। यह स्पष्ट है कि वर्ग, जाति और जेण्डर इन तिहरे स्तर पर एक दलित महिला का उच्च जाति की स्त्रियों और पुरुषों की तुलना में अधिक उत्पीड़न किया जाता है। दलित और दलित स्त्रियों के साथ उत्पीड़न की घटनाओं का अरुन्धति राय एक सर्वेक्षण प्रस्तुत करती हैं-

[205] उमाचक्रवर्ती : जाति समाज में पितृसत्ता, पेज नं.23

"According to the National Crime Records Bureau, a crime is committed against a Dalit by a non-Dalit every sixteen minutes; every day, more than four Untouchable women are raped by Touchables; every week, thirteen Dalits are murdered and six Dalits are kidnapped.In 2012 alone, the year of the Delhi gang- rape and murder, 1,574 Dalit women were raped the rule of thumb is that only 10 per cent of rapes or other crimes against Dalits are ever reported, and 651 Dalits were murdered.Not the stripping and parading naked, the forced shit-eating literally।, the seizing of land, the social boycotts, the restriction of access to drinking water."[206]

दलित स्त्रियों की स्थिति उच्च जाति की स्त्रियों से भिन्न होती है। अपने परिवार में पितृसत्तात्मक दबाव के चलते वे ऊंची जाति के पुरुषों के दबाव में भी रहती हैं। दलित जाति की वर्जनाओं के साथ-साथ वे स्त्री होने के नाते यौन शोषण का भी शिकार होती हैं। आर्थिक क्षेत्र में दलित जाति के लोग कमजोर ही होते हैं। अपनी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक कमजोरी के कारण ये स्त्रियाँ तिहरे-चौहरे शोषण तथा उत्पीड़न की शिकार होती हैं। सत्तर के दशक में देश के विभिन्न भागों की अनुसूचित जातियों पर किए गए अध्ययनों में पाया गया कि संविधान में दिए गए संरक्षणों तथा लोकहितकारी राज्य द्वारा दी गई सुविधाओं के बावजूद इनका बहुआयामी शोषण बंद नहीं हुआ।

1973 में के.वागेश्वरी के तमिलनाडु के 800 दलित परिवारों तथा 197 अन्य परिवारों के अध्ययन के तहत यह पाया गया कि दलितों के साथ विभिन्न प्रकार का शोषण तथा भेदभाव किया जाता है। संविधान में मिले अधिकारों के बावजूद सामाजिक समानता उनको अभी तक नहीं मिली है। हर्सद आर.त्रिवेदी ने 1976 के अपने पंजाब राज्य के तीन जिलों के 203 दलित स्त्रियों के अध्ययन में पाया कि 'शिक्षा की कमी के कारण अधिकतर दलित स्त्रियाँ आज भी अधिक मेहनत तथा कम मेहनताने वाले पेशे अपनाने को मजबूर हैं। शिक्षा की कमी के कारण वे शहरों में अच्छे रोजगार के लिए भी पलायन नहीं कर सकतीं। वेश्यावृत्ति के व्यापार में उन्हें हमेशा से कुछ पुरुषों द्वारा धकेला जाता रहा है।'[207]

---

[206] Arundhati Roy: The Doctor and the Saint, Navayana, March 2014, Annihilation of Caste, The Annotated Critical Edition: B.R.AMBEDKAR edited and annotated by S.Anand, page no.21

[207] गोपा जोशी : भारत में स्त्री असमानता, पेज नं.244

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लिंग, जाति और वर्ग की तिहरे मार से दलित स्त्रियाँ समाज में प्रताड़ित की जाती रहीं हैं। देश के निरन्तर विकास करने के बावजूद भी इन दलित महिलाओं का कोई विकास नहीं हो पा रहा है। पितृसत्ता द्वारा दमन की तो यह शिकार हैं ही साथ ही जातिगत भेदभाव के चलते अपमानित और तिरस्कृत भी की जाती हैं। वर्ग और लिंग का सवाल ऐसा सवाल है जिससे सवर्ण स्त्रियाँ भी प्रताड़ित हैं किन्तु दलित महिलाएं आर्थिक स्तर पर घोर पीड़ा और विषमता की शिकार रही हैं। उन्हें दो रोटी के लिए जातिगत दुर्भावना की मार सहनी पड़ती है। आज भारतीय हिन्दू संस्कृति के समक्ष यह प्रश्न कोई महत्व रखता है कि नहीं 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते,रमन्ते तत्र देवता' जहां नारियों की पूजा होती है वहां देवता निवास करते हैं, क्योंकि दलित स्त्रियाँ भारत में बजबजाते नरक में मैला ढोने के लिए अभी भी बाध्य हैं, एक सड़ान्ध में जीवन जीती लगातार घरेलू हिंसा, पानी के लिए जद्दोजहद, घर और बाहर लैंगिक शोषण की शिकार, बलात्कार, देवदासी, वेश्यावृत्ति, बहुजुठाई प्रथा, डायन करार देना आदि समस्याओं से पीड़ित हैं फिर इन महिलाओं की पूजा कौन करता है ? कौन सा ऐसा समाज है जहां दलित स्त्रियों की पूजा होती है और वहां देवता निवास करते हैं ? क्योंकि हिन्दू संस्कृति में नारियों के प्रति इस श्लोक को बहुत ही महिमामण्डित किया जाता है। 21वीं सदी में यदि इस प्रश्न का उत्तर किसी भी समाज जाति, धर्म और समुदाय के पास नहीं है तो यह सबको मानना होगा कि दलित स्त्रियों का विकास नहीं हो रहा है। वे लगभग प्रत्येक दिन, प्रत्येक घंटे तिहरे शोषण की शिकार होती हैं। जब तक दलित महिलाओं का शोषण बन्द नहीं होता, उन्हें भी समाज की अन्य उच्च महिलाओं की तरह मान-सम्मान नहीं मिलता, तब तक कोई भी समाज और देश विकास की

यदि बात करता है तो झूठा सिद्ध होगा और यहीं पर डॉ.अम्बेडकर का सवाल फिर से चरितार्थ हो जाता है कि 'मैं किसी भी समाज की प्रगति उस समाज में रहने वाली महिलाओं की प्रगति से मानता हूं ।'

चौथा अध्याय
दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श

'लड़कियों को शिक्षा देने से ही उनमें स्वाभिमान की ज्योति प्रज्जवलित होती है । अपनी उन्नति की गाड़ी का दूसरा पहिया (चाक) स्त्री समाज है उसको अपनी बराबरी की व्यवस्था में रखकर उसे भी शिक्षण का लाभ देना चाहिए-इस बेला (समय) में हमें खामोश नहीं बैठना चाहिए ।..भावी पीढ़ी को शिक्षामृत पिलाकर उन्नति के शिखर पर पहुंचने का मार्ग सुलभ करें ।'---डॉ.अम्बेडकर

दलित विमर्श का उदय जिस ज़मीन पर हुआ उसका आधार गौतम बुद्ध की करूणा, डॉ. अम्बेडकर की समानता, स्वतन्त्रता, बंधुता और मानवता की स्थापना था । सबकी मुक्ति की बात दलित विमर्श में निहित थी किन्तु दलित विमर्श ने अपने लेखन में अपने ही समाज की दलित स्त्री की समस्याओं की अनदेखी की । जब दलितों में जागरण आया तो उस समय दलित स्त्रियाँ भी जागृत हुईं किन्तु दलित पुरुषों ने दलित स्त्रियों के जागरण को उतना महत्व नहीं दिया जितना अपने जागरण और प्रतिरोध को महत्व दिया । अन्ततः दलित स्त्री के मुद्दे एकदम हाशिए पर चले गये । इसलिए दलित पुरुषों के नेतृत्व में जो दलित विमर्श खड़ा हुआ उससे दलित स्त्रियों का घोर अंतर्विरोध भी दिखता है । यह अंतर्विरोध वहां स्पष्ट हो जाता है जहां दलित विमर्श अपनी समस्याओं, प्रश्नों की बात तो करता है किन्तु अपनी जाति की स्त्री के मुद्दों, प्रश्नों और समस्याओं की उपेक्षा करता है । उसकी रचनाओं में यदि दलित स्त्री का चित्रण कहीं है भी तो वह शोषित, पीड़ित और लाचार ही दिखायी देती है । दलित साहित्य में दलित पुरुष रचनाकारों ने दलित स्त्री का एक ही पक्ष दिखाया जो उसकी सहानुभूति और संवेदना पर आधारित था किन्तु उसने दलित स्त्री की चेतना वाला पक्ष छोड़ दिया जिसकी अलग बुनियाद डाली दलित स्त्री विमर्श ने ।

डॉ. अम्बेडकर द्वारा चलाये गये जाति-उच्छेद आंदोलन और धर्म के नाम पर होने वाला किसी प्रकार का अत्याचार, उत्पीड़न, दमन और भेदभाव विरोधी विचारधारा को अपनाकर दलित पुरुषों ने वैसे तो बहुत से दलित आंदोलन चलाए किन्तु दलित पुरुषों ने डॉ.अम्बेडकर की स्त्री-मुक्ति संबंधी विचारधारा को अपने जीवन और आचरण में कोई खास महत्व नहीं दिया । गोपाल गुरु लिखते हैं कि “अम्बेडकर के बाद वाले समय-काल में दलित नेताओं ने दलित स्त्रियों को हमेशा अपने अधीन रखा और उनकी स्वतन्त्र राजनीतिक चेतना को दबाया । इस तरह स्वयं को राजनीतिक हाशिये पर डाले जाने को दलित स्त्रियों ने कई क्षेत्रीय सभाओं व दिल्ली बैठक में भी खुले तौर पर अनुचित माना । दलित स्त्रियों को यह निर्वासन सिर्फ राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं झेलना पड़ा । उदाहरण के लिए सांस्कृतिक क्षेत्र में भी उन्होंने साहित्यिक परिदृश्य को पुरुषों द्वारा आच्छादित करने के प्रयासों की निन्दा की । दलित पुरुषों ने अपनी स्त्रियों के साहित्यिक प्रयासों को कभी गंभीरता से नहीं लिया और उन्हें फिजूल

सिद्ध करने की कोशिश करते रहे ।"[208] ब्राह्मणवादी सवर्ण पुरुषों द्वारा जब दलित पुरुष प्रताड़ित और लांछित होते हैं तो ठीक वैसा ही पितृसत्तात्मक चरित्र अपनाकर वे अपने घर की स्त्रियों को अपमानित और प्रताड़ित करते हैं। जहां तक दलित स्त्रियों की मुक्ति की बात है वहां दलित पुरुष मुकर जाते हैं। वे केवल अपनी मुक्ति की बात तो करते हैं लेकिन जब दलित स्त्रियों की पराधीनता और दमन की बात आती है तो इसका विरोध करने लगते हैं। श्वेता सिंह लिखती हैं कि "पुरुषों द्वारा चयनात्मक भूलने की बिमारी यह दर्शाती है कि पुरुष अभी भी परिवार, समुदाय और बड़े स्तर पर दलित आंदोलनों में दलित महिलाओं की स्वतन्त्र भूमिका और योगदान को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। पुरुषों के आख्यानों में महिलाओं की अनुपस्थिति सुनियोजित एवं सुविचारित थी। इन पुरुषों के द्वारा महिलाओं को साहित्यिक प्रतिनिधित्व में समानता देने से मना कर दिया गया था। महिलाओं का मुंह बंद करने की रूढ़िबद्ध कोशिशों के कारण महिलाओं द्वारा स्वयं ही वैकल्पिक मंच या आवाज का नेतृत्व किया गया ।"[209] दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श के इस अध्याय में उन पहलुओं पर गम्भीरता से विचार किया जायेगा जिसने दलित स्त्री लेखन और विमर्श को पनपने का अवसर प्रदान किया।

ग़ौरतलब है कि दलित स्त्री विमर्श के उभरने से दलित पुरुष में गहमागहमी मच गयी, इसके पीछे उनका तर्क था कि- ''सर्वप्रथम दलित नारीवाद को अलग से स्वीकृति मिलने के बाद व्यापक दलित एकता टूटेगी और आंदोलन कमजोर होगा, दूसरा तर्क यह है कि दलित स्त्रियों की समस्याएं सामान्य दलित लेखन में आ रही हैं तो उन पर अलग से विचार करने की आवश्यकता नहीं, तीसरा यह कि पितृसत्ता का प्रश्न जाति समस्या के मुकाबले में ज़्यादा महत्वपूर्ण नहीं है और पितृसत्ता को जाति के समकक्ष रख देने से मुक्ति का 'असली संघर्ष' भटक सकता है ।"[210] इन तर्कों का अध्ययन करने पर ही हम यथार्थ का पता लगा सकते हैं कि वास्तव में दलित स्त्री विमर्श के आने से क्या दलित आंदोलन कमजोर पड़ गया है या दलित एकता टूट जायेगी ? गौतम बुद्ध की करुणा और बाबासाहेब के सपनों को पूरा करने की ललक जिस दलित आंदोलन और दलित साहित्य में रही हो क्या वह दलित स्त्री विमर्श के आने से ही कमजोर हो जायेगा ? देखना यह भी है कि समूचे मानव की मुक्ति, समानता की

---

[208] दलित स्त्रीवाद, स्त्रीकाल, 2013 पेज नं.8

[209] यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, पेज नं.243

[210] वही, पेज नं. 230

बात करने वाला दलित साहित्य यथार्थ में दलित स्त्री मुद्दों के प्रति कितना सजग और संवेदनशील है ? आखिर वे कौन से कारण हैं जिसकी बुनियाद पर साहित्य तथा समाज में एक ऐसी खाई बनती जा रही है जहां दलित साहित्यकार और दलित स्त्री साहित्यकार एक दूसरे के साथ चलने की बजाय एक दूसरे के बरक्स खड़े हैं। इन्हीं कुछ बिंदुओं पर मेरा यह अध्याय केन्द्रित है।

दलित विमर्श और स्त्री विमर्श की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि उन्होंने सामाजिक और साहित्यिक आंदोलन में अत्यन्त पिछड़ी दलित स्त्री को और पीछे छोड़ दिया। इस संबंध में बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं- "जाति-व्यवस्था के ख़िलाफ़ लड़ने वाले दलित संगठनों ने जहां इस मुहिम को थोड़े शक की नज़र से देखते हुए दरकिनार करने की कोशिश की वहीं स्त्रीवादी संगठनों ने जाति और पितृसत्ता के गठजोड़ को तवज्जो देने लायक नहीं समझा।"[211] यही कारण है कि दलित स्त्री विमर्श एक उपेक्षित भाव-बोध से उपजा विमर्श है। दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श की जो पृष्ठभूमि बनी उसका रूप तो हमें साफ़-साफ़ दिखायी देता है जिससे इस बात की पड़ताल करने में आसानी होगी कि वह कौन से मुख्य आधार बिन्दू हैं जो इस प्रश्न को जन्म देता है।

दलित स्त्रियों के स्वयं के विमर्श के लिए आवाज उठाना दलित पुरुषों को अच्छा नहीं लगा, वे इसकी खुलकर आलोचना करने लगे कि दलित स्त्री विमर्श दलित विमर्श को तोड़ने का काम कर रहा है। "किन्तु यह स्त्री (दलित स्त्री) जब स्वयं कदम उठाती है, बाहरी और भीतरी हिंसा के ख़िलाफ़ संघर्ष में उतरती है, न्याय की माँग करती है, अपनी शर्तों पर ज़िन्दगी जीने के ख़्वाब बुनती है तो अस्मितावादियों और पारम्परिक वर्चस्ववादियों-दोनों को खटकने लगती है। वर्चस्ववादियों का खटकना तो तुरन्त समझ में आ जाता है लेकिन अस्मितावादियों का विडंबनापूर्ण लगता है।"[212] अस्मितामूलक विमर्श अपनी-अपनी अस्मिता की लड़ाई में व्यक्तिवादी बनता चला गया, यही कारण है कि दलित विमर्श भी दलित स्त्री को साथ लेकर नहीं चला और पूरी तरह से उसे हाशिए पर डाल दिया। इस प्रकार दलित पुरुष लेखक समष्टि से व्यष्टि की तरफ बढ़ते चले गये। उनके लिए अपना अस्तित्व और अपनी अस्मिता ही प्रमुख रह गयी। दलित साहित्य में समतामूलक समाज और सबकी मुक्ति का

---

[211] वही, पेज नं. 207

[212] वही, पेज नं. 219

उद्देश्य मात्र एक सपना बन कर रह गया। गैर-दलित जातियों के वर्चस्व को समझना आसान है क्योंकि हाशिए मूलक समाज पर उनका वर्चस्व एक-दो दिन का नहीं है यह वर्चस्व सदियों से चला आ रहा है किन्तु अस्मितामूलक विमर्शों के संघर्ष में दलित विमर्श का यह रवैया बहुत ही दुःखद था। हालांकि सत्ता और वर्चस्व का यह इतिहास रहा है कि जिनके हाथों में सत्ता आयेगी वह अपने से नीचे वालों का शोषण करेगी। इस प्रकार दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श अस्मिताओं के बीच का संघर्ष है, इसको इसी रूप में समझने का प्रयास किया जाना चाहिए।

दलित स्त्रीवाद ने विमर्श का रूप तब लिया जब डॉ.धर्मवीर ने दलित स्त्रियों पर कई लांछन लगाए। कथादेश और हंस में चली लगातार बहसों ने इसे पूरी तरह से विमर्श के रूप में पनपने में अपना योगदान दिया। दलित स्त्रीवाद की पैरोकार माने जाने वाली अनिता भारती ने कुछ दलित एकटिविस्टों जिनमें विमल थोराट, रजनी तिलक, पुष्पा भारती, रामरती इत्यादि शामिल थीं, के साथ मिलकर डॉ.धर्मवीर के स्त्री-विरोधी अभियान का व्यावहारिक विरोध किया। 'वह घटना इस तथ्य का प्रतीक थी कि दलित स्त्रियों को जितना-'ब्राह्मणवाद' से द्विज पुरुषों' से संघर्ष करना है उतना ही 'दलित पुरुष' से, जो जाने-अनजाने 'ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' का अपने भीतर जज्ब कर चुका है। यह घटना 'दलितवाद' का भी आंगिक क्रीटिक करते हुए दलित स्त्रीवाद का टर्निंग पाइंट मानी जाती है।'[213] इस रूप में इस अध्याय में दलित पुरुषों में घर कर गयी ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को उद्घाटित करने का भी प्रयास किया गया है।

4.1 दलित पुरुष लेखन और दलित स्त्री प्रश्न

सर्वप्रथम हमें यह देखना होगा कि दलित स्त्री के वे कौन से प्रश्न हैं जिस पर वे गम्भीरता से अपने लेखन में चर्चा करती हैं। जाति, वर्ग, जेण्डर इन तीनों प्रश्नों के अतिरिक्त भी बहुत से मुद्दे हैं जिनसे दलित स्त्री जूझती है। जैसे पानी की समस्या, गैर-दलित समाज और दलित समाज से चारित्रिक लांक्षनाएं, घरेलू हिंसा और यौन शोषण इत्यादि। इस प्रकार यह अध्याय तीसरे अध्याय के विकास का अगला पड़ाव है जिसमें दलित पुरुष लेखन बनाम दलित स्त्री विमर्श के माध्यम से हम यह सुध लेने की कोशिश करेंगे कि

[213] दलित स्त्रीवाद, स्त्रीकाल, पेज नं.4

वास्तव में दलित पुरुषों ने दलित महिलाओं के प्रश्नों को अपने साहित्य में कोई जगह दी भी है या नहीं ? इस सन्दर्भ में बजरंग बिहारी तिवारी की टिप्पणी उचित जान पड़ती है- "दलित अस्मिता विमर्श ने अपना जो शुरुआती घोषणापत्र पेश किया, उसमें तमाम छोटे-बड़े मुक्ति-संग्राम अन्तर्भुक्त होते दिखे-यह उम्मीद भी बंधी कि ब्राह्मणवाद का जो पितृसत्तात्मक रूप है, और उसमें स्त्री-दमन की जो तमाम तरकीबें हैं, उसका अन्त होगा और नई समाज व्यवस्था शोषणरहित, समतामूलक और अधिक मानवीय होगी । दलित आइडियोलॉग मानते हैं कि इतिहास ने उन्हें व्यवस्था के रूपान्तरण का एक दुर्लभ अवसर प्रदान किया है । वे विभिन्न प्रसंगों में अपनी इस ऐतिहासिक भूमिका की चर्चा करते हुए भी दिखाई पड़ते हैं । इस अस्मिता के एक प्रमुख हस्ताक्षर का कहना है- "दलित मुक्ति के महान उद्देश्य हमारे सामने साफ़ हैं, और इतिहास निर्माण करने की जिम्मेदारियों ने हमारे कन्धे मजबूत कर दिए हैं । साहित्य में नए युग का सम्पादन अब हम दलितों के हाथों से ही होना है ।"[214] यहां प्रश्न यह उठता है कि मानवमुक्ति की बात और इतिहास लेखन तथा नए युग का सम्पादन करने की बात जिस साहित्य के माध्यम से दलित विमर्श करता है क्या उस साहित्य में दलित स्त्री अपना कोई स्थान रखती है ?

दलित साहित्य सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक रूप से सम्पूर्ण मानव जाति की मुक्ति की बात करता है । अगर प्रारम्भिक दलित साहित्य की बात करें तो यह दलित पुरुषों द्वारा लिखा गया तथा दलित मुद्दों को केन्द्र में रखकर लिखा गया साहित्य है । दलित स्त्री विमर्श का मानना है कि दलित साहित्य पर दलित पुरुषों का आधिपत्य और वर्चस्व है । दलित स्त्री विमर्श दलित साहित्य में अपनी अनदेखी और अपने प्रश्नों को उपेक्षित मानता है । ऊंची जाति द्वारा दलित स्त्री का शोषण लैंगिक, आर्थिक और जातिगत उत्पीड़न को सतही और ऊपरी तौर पर ही दलित पुरुष लेखकों ने अपने साहित्य में दिखाया है । दलित स्त्री की छवि वहां स्पष्ट रूप में नज़र नहीं आती । दलित स्त्री बाहर के समाज और अपने दलित समाज द्वारा भी दोयम दर्जा तथा शोषण का शिकार है । उनकी दलील है कि- "हिन्दू धर्म के अनुसार चार वर्ण है, पांचवां वर्ण बन जाता है, दलित स्त्री का, क्योंकि इस स्त्री का शोषण अन्य समाज के साथ-साथ उसका अपना समाज भी करता है । जब ऊपर के तीनों वर्ण चौथे वर्ण का शोषण

[214] कथादेश जनवरी, 2003, पेज नं.40

करते हैं, तब दलित समाज अपने इस शोषण का क्रोध अपनी स्त्री पर अत्याचार करके उतार लेता है। सामाजिक अन्याय के साथ स्त्री अपने घर के लोगों के अन्याय का शिकार होती रहती है।"[215]

दलित स्त्री भारतीय समाज की अन्तिम सीढ़ी पर खड़ी है और समाज में अपने मूल अधिकारों से वंचित भी। समाज में जितनी वो उपेक्षित है उसी तरह से साहित्य में भी उपेक्षित रही है। भले ही प्राचीन काल में उसका अपना समृद्ध इतिहास क्यों न रहा हो। अस्मितामूलक विमर्शों से यह ज्ञात हो जाता है कि गैर-दलित पुरुष और स्त्री रचनाकारों द्वारा अपनी रचनाओं में उन्हें मुकम्मल और पर्याप्त जगह नहीं दी गयी और न ही उनके मुद्दे साहित्यिक पटल पर रखे गये जिनसे वह उत्पीड़ित है और पल-पल जूझती रहती है, वैसे ही दलित पुरुष लेखकों की रचनाओं में भी उसे उचित स्थान नहीं मिल पाया। इस प्रकार गैर-दलित स्त्री-पुरुष और दलित लेखकों ने अपने-अपने साहित्य में दलित स्त्री की अवमानना की। इस बात की पुष्टि दलित लेखक भी करते हैं- "शुरुआती दौर का ज़्यादातर दलित साहित्य दलित पुरुषों का साहित्य है, जिसमें दलित स्त्री उनकी अपनी सीमाओं के साथ वहां आती है, मगर उसका कोई स्पष्ट और मुकम्मल चेहरा वहां नहीं दिखाई पड़ता। दलित पुरुषों की पितृसत्तावादी सोच और उनकी पुरुषवादी संकीर्णता स्त्रियों को उनके स्वाभाविक और वास्तविक रूप में नहीं आने देती। ज़्यादातर दलित पुरुषों के साहित्य में पहली बात तो दलित स्त्री आती ही नहीं है, आती है तो बहुत ही कम या फिर केवल दैहिक, शारीरिक शोषित और घरेलू कामकाजी स्त्री के रूप में।"[216] इन बहसों को हम दलित पुरुष लेखक और दलित स्त्री लेखक की रचनाओं के अध्ययन करने पर ही सही निष्कर्ष पर जा सकेंगे।

4.2 दलित स्त्री-पुरुष लेखन और शिक्षा का सवाल

डॉ.अम्बेडकर के अनुसार 'शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति को मिलनी चाहिए' इसलिए उन्होंने दलितों को शिक्षा के लिए अनिवार्य बताकर उन्हें 'शिक्षित बनो' का मूलमंत्र दिया। हालांकि दलितों और स्त्रियों के लिए यह द्वार ज्योतिबा फुले और सावित्राबाई फुले के प्रयास से पहले ही खुल गया था किन्तु डॉ.अम्बेडकर ने

---

[215] सं.तेज सिंह, अपेक्षा त्रैमासिक पत्रिका, अंक 4, जुलाई-सितंबर 2003, पेज नं.58.

[216] वही, पेज नं.16

दलितों में शिक्षा के माध्यम से अलख जगाने का जो प्रयास किया वह काबिले-तारीफ था । दलित रचनाकारों को अपने जीवन में शिक्षा के लिए काफ़ी संघर्ष करना पड़ा । चूंकि भारतीय हिन्दू समाज में शिक्षा का द्वार केवल सवर्णों के लिए खुला था यहां तक कि स्त्रियाँ भी शिक्षा से अछूती थीं । इसलिए जब दलितों को शिक्षा हासिल करने का मौका मिला तो उनपर सवर्ण जातियों ने अत्याचार भी किया । द्रोणाचार्य जैसे शिक्षक प्रत्येक संस्थानों में आज भी मौजूद हैं जो निम्न जातियों तक शिक्षा पहुंचने ही नहीं देना चाहते हैं । वे तमाम षड्यन्त्र रचकर शिक्षा को केवल उच्च वर्ग तक सीमित रखना चाहते हैं । इन्हीं संघर्षों से अपना रास्ता अख़्तियार करते हुए दलितों ने शिक्षा प्राप्त किया ।

दलित साहित्यकारों ने अपने जीवन में शिक्षा हासिल करने के लिए जितना संघर्ष किया वो बहुत ही मार्मिक और यातनादायी था । 'जूठन', 'तिरस्कृत', 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', 'मुर्दहिया', 'अपने-अपने पिंजरे' तथा दलित स्त्री आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप', 'शिकंजे का दर्द' इत्यादि दलित आत्मकथाएं इसका जीता-जागता उदाहरण हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या शिक्षा के द्वार जब दलितों के लिए खोले गये तो जितना दलित घरों से विद्यालयों में पढ़ने के लिए लड़कों को भेजा गया उतना ही लड़कियों को भी भेजा गया ? क्योंकि दलित पुरुष आत्मकथाओं में जितना बेटे की शिक्षा को लेकर संघर्ष और प्रतिबद्धता दिखायी देती है उतना बेटियों की शिक्षा के प्रति नहीं है । दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जेण्डर के आधार पर वहां गैर-बराबरी की समस्या भी मौजूद है, जिसकों दलित पुरुषों ने नज़रअंदाज किया है । लेखकों का अपनी शिक्षा पर जितना जोर है उतना अपने घर में उपस्थित बहनों के लिए नहीं है । माता-पिता द्वारा भी लड़कियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान नहीं दिखायी देता है ।

शिक्षा व्यक्ति में स्वतंत्रता का अहसास व बराबरी का व्यवहार विकसित करती है । अतः ब्राह्मणवादी शक्तियों द्वारा दलितों को ज्ञान से ही वंचित कर दिया गया । ब्राह्मणवाद की यही बुराई दलित समाज में भी घर कर गयी, दलितों के लिए ब्राह्मणवाद ने ज्ञान पर ताला लगाया तो कुछ दलितों ने भी अपने घर की बेटियों, बहनों और बहुओं की शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगा दिया । जब दलितों के मुहल्ले में स्कूल खुलने लगे व दलितों के बच्चे स्कूलों में जाने लगे तो लड़कियों को स्कूलों में नहीं भेजा गया । वे घरों में सहायता करती थी ।' दलित स्त्रियों को घर के कामों में उलझाकर उन्हें शिक्षा से किस

तरह दूर रखा गया इसके विषय में मोहनदास नैमिशराय 'अपने-अपने पिंजरे' में लिखते हैं.."उस समय दलितों की बस्ती में स्कूल होना भी बड़ी बात थी। लोग स्कूल को शिक्षा का सूरज मानते थे। बस्ती में जैसे-जैसे सूरज उगेगा-बढ़ेगा वैसे-वैसे अशिक्षा के साथ कुरीतियां तथा कुप्रथाएं दूर होंगी। बस्ती के लोग अपने बच्चों को पढ़ाने-लिखाने में रूचि लेने लगे थे। पर लड़कियों को स्कूल में न भेजा जाता था। उनका स्कूल भेजना खराब माना जाता था। वे घर पर ही रहती थीं और माँओं, चाचिओं, भाभिओं के साथ घर के काम करती थीं। पोतड़े धोने से लेकर बच्चों को गोद में उठाए-उठाए खिलाने का कार्य अधिकतर उन्हें सौंपा जाता।"[217]

'जूठन' में लड़कियों की शिक्षा पर कोई प्रकाश ही नहीं डाला गया है। वाल्मीकि जी अपनी शिक्षा का हवाला देते हैं कि कितने संघर्षों के साथ उन्हें शिक्षा हासिल करनी पड़ी जबकि घर में बहन भी थी जिसकी शिक्षा के विषय में उन्होंने एक वाक्य में लिखकर इतिश्री कर ली है वे लिखते हैं.."सेवक राम मसीही के पास सिर्फ मुझे ही भेजा गया था। भाई तो काम करते थे। बहन को स्कूल भेजने का सवाल ही नहीं था।"[218] वाल्मीकि जी ने कहीं भी इस बात का जिक्र नहीं किया है कि बहन को स्कूल क्यों नहीं भेजा गया ? आखिर ऐसा कौन सा सवाल था जिससे बहन स्कूल नहीं जा सकती थी ? यदि उस समय जातिगत अपमान का दंश सहते हुए लड़का स्कूल जा सकता था तो लड़की क्यों नहीं ? उदाहरण के लिए 'जूठन' में लेखक की शिक्षा के लिए जितना प्रयास दिखायी देता है उतना उनकी बहन के लिए नहीं। वाल्मीकि जी के पिता जी उन्हें प्यार से 'मुंशी जी' पुकारते थे। एक दिन स्कूल के मास्टर कलीराम वाल्मीकि जी से स्कूल में तीन दिनों से झाड़ू लगवा रहे थे जिससे लेखक का मन भी बहुत आहत था...ऐसा करते हुए उनके पिता जी ने देख लिया। उन्होंने मास्टर द्वारा अपने साथ हुई जातिगत प्रताड़ना का बयान अपने पिता जी के समक्ष रखा। वाल्मीकि जी लिखते हैं.."पिताजी ने मेरे हाथ से झाड़ू छीनकर दूर फेंक दी। उनकी आंखों में आग की गर्मी उतर आई थी। हमेशा दूसरों के सामने तीर-कमान बने रहने वाले पिताजी की लंबी-लंबी घनी मूंछे गुस्से में फड़फड़ाने लगी थीं। चीखने लगे, कौण-सा मास्टर है वो द्रोणाचार्य की औलाद, जो मेरे लड़के से झाड़ू लगवावै है..."[219] 'जूठन' में घर के

---

[217] मोहनदास नैमिशराय: अपने-अपने पिंजरे, पेज नं.38

[218] ओमप्रकाश वाल्मीकि: जूठन, पेज नं.12

[219] वही, पेज नं.16

किसी सदस्य में बेटियों को पढ़ाने की लालसा नहीं दिखायी देती है। भाभियां भी अपने जेवर बेचकर 'लेखक' की पढ़ाई को सुचारु रूप से जारी रखने में हर संभव मदद करती हैं किन्तु उसी घर की बेटी और बहन की शिक्षा के बारे में किसी का भी ध्यान नहीं जाता। जबकि शिक्षा के मामले में दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं (दोहरा अभिशाप, शिकंजे का दर्द) में उनकी अपनी शिक्षा के साथ-साथ भाई-बहनों का भी जिक्र आता है जिसके लिए माता-पिता संघर्षरत थे। दलित स्त्री आत्मकथाओं में बेटा-बेटी की शिक्षा में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है बल्कि समान रूप से दोनों की शिक्षा पर बल दिया गया है।

दलित स्त्री आत्मकथाओं में लड़कियों की शिक्षा को लेकर गहरी प्रतिबद्धता दिखाई देती है। शिक्षा के प्रति उनके माता-पिता में भी गहरी ललक की भावना प्रतिलक्षित होती है। जाति के दंश को झेलते हुए और आर्थिक रूप से कमजोर होने के बावजूद भी वे अपने सभी बच्चों बेटे और बेटियों को स्कूल भेजते हैं। कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में अस्पृश्य दलित महिला 'जाई बाई चौधरी' और आदिवासी महिला 'झूला बाई' के दलित घरों और समाज में शिक्षा को लेकर किए गये सराहनीय प्रयास का वर्णन करती हैं। लेखिका की माँ ने शिक्षा के महत्व को समझा और लेखिका तथा उनकी बहन को स्कूल भेजना शुरू किया। लेखिका की माता पर डॉ.अम्बेडकर के कस्तूरचन्द पार्क में दिये गये भाषण का विशेष प्रभाव था। माँ के उसी प्रभाव का वर्णन करते हुए कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं-"माँ अब सब बहनों को स्कूल भेजती थीं। हम दोनों बहनें भिडे कन्याशाला में पढ़ने जाती थीं। उसके बाद वाली बहन को माँ ने हिन्दी माध्यम वाले अम्माजी के स्कूल में डाला। वह नागपुर में हिन्दी माध्यम वाला प्रसिद्ध स्कूल था।...सबसे छोटी बहन को भी माँ ने सेंट उरसुला गर्ल्स हाईस्कूल में डाला।...भाई ने बस्ती गड्डीगोदाम के नगरपालिका स्कूल से अच्छे नंबरों से प्राइमरी पास की। उसे भी नागपुर के सरकारी स्कूल पटवर्धन हाईस्कूल में प्रवेश मिला।"[220]

इस प्रकार देखा जाय तो दलित स्त्रियों द्वारा शिक्षा के लिए किए गये सराहनीय प्रयासों का जिक्र दलित पुरुषों की आत्मकथाओं में देखने को नहीं मिलते हैं। यह बात सच है कि लड़कियों की शिक्षा को लेकर दलित पुरुष आत्मकथाओं में उदासीनता दिखायी देती है।

---

[220] दोहरा अभिशाप, पेज नं.45

4.3 दलित लेखन: आत्मसम्मान का सवाल : बनाम जाति/ गरीबी

जाति प्रथा दलित विमर्श के लिए सबसे बड़ा शत्रु है। जाति का मुद्दा एक ऐसा मुद्दा है जो दलित पुरुष और दलित स्त्री आत्मकथाओं में तथा उनकी अन्य रचनाओं में प्रमुखता से आता है। ग़ौरतलब है कि जाति एक ऐसा फैक्टर है जिसके कारण ही दलित स्त्री-पुरुष सामाजिक अपमान, अवमानना, उत्पीड़न और भेदभाव सहते हैं। निम्न जाति के कारण ही दलित अच्छा खा-पी नहीं सकते थे, पहन-ओढ़ नहीं सकते थे। अच्छा काम/रोजगार नहीं कर सकते थे।

दलित साहित्य में दलित लेखकों का पूरा फोकस ब्राह्मणों तथा सवर्ण जातियों पर है। उनकी आत्मकथाओं में गरीबी का सवाल भी साथ में चला आता है किन्तु वह उतना प्रमुख नहीं जितना जातिगत भेदभाव और जाति के नाम पर हिंसा। जाति की केंचुल छोड़कर दलित लेखक समाज में सम्मान से जीवन जीने की कामना करते हैं। कवंल भारती अपनी कविता में लिखते हैं कि..'गरीबी नहीं/ सामाजिक बेइज्जती अखरती है।' इसी तर्ज में वाल्मीकि जी अपनी आत्मकथा 'जूठन' में लिखते हैं.."गरीबी और अभाव से किसी तरह निबटा जा सकता है, जाति से पार पाना उतना ही कठिन है।"[221] जाति का सवाल हटा दें तो दलित साहित्य में आत्मसम्मान का सवाल ज़्यादा जगह घेरता है। वाल्मीकि 'जूठन' में लिखते हैं.."अतिथि की जाति ही उसे आदर दिलाती है। वैसे भी आदर पाने का हमें अधिकार ही कहां था।"[222] एक दूसरे प्रसंग में वे लिखते हैं "मैंने रोटी लेने से इनकार कर दिया। फौजा चिल्ला रहा था। गालियां दे रहा था। लेकिन मैं अपनी जगह खड़ा रहा। मेरे भीतर विरोध जन्म ले चुका था, "अबे चूहड़े के...आजा...दो अच्छर क्या पढ़ लिए, सोहरे का दिमाग चढ़ गिया है...अबे, औकात मत भूल..." फौजा का एक-एक शब्द मेरे जिस्म में एक साथ हजार-हजार दंश भर रहा था।"[223] यहां लेखक का आत्मसम्मान सबसे बड़े सवाल के रूप में पूरी आत्मकथा में आता है जबकि दलित नारीवादियों के यहां अस्मिता की लड़ाई, जाति का मुद्दा तो है किन्तु इन सवालों के साथ-साथ इसी समय में गरीबी का मुद्दा भी बहुत बड़ा सवाल है।

---

[221] जूठन, पेज नं.28

[222] वही, पेज नं.66

[223] वही, पेज नं.73

कौसल्या बैसंत्री 'दोहरा अभिशाप' में गरीबी के विषय में अपनी दोस्त कमल से कहती है कि "गरीबी से मेरा बहुत नजदीक का रिश्ता है। क्या तुमने कभी गरीबी नजदीक से देखी है ? एक दिन चलो मेरे साथ, मैं तुम्हें दिखाऊंगी कि गरीबी क्या होती है, इंसान कैसे जीते हैं। कमल को मैं अपने साथ अपनी बस्ती में ले आई। इसके पहले उसे कल्पना भी नहीं थी कि मैं उस बस्ती में रहती हूं।"[224] इस रूप में दलित लेखिकाओं के यहां जाति से लेकर आर्थिक सवाल भी बड़े सवाल के रूप में दिखायी देता है। बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं.."यह ग़ौरतलब है कि दलित लेखन में जितना आग्रह जातिवादी, ब्राह्मणवादी षड्यन्त्रों को पहचानने, अनावृत्त करने पर है उसका थोड़ा भी हिस्सा बुनियादी सामाजिक इकाईयों मसलन परिवार, विवाह आदि में मौजूद पितृसत्ता और जातिवाद को चिन्हित करने, परिहार करने पर नहीं है।"[225]

4.4 दलित रचनाकार की संवेदना और दलित स्त्री रचनाकार की चेतना

दलित पुरुष रचनाकार अपनी रचनाओं में दलित स्त्री के साथ एक संवेदनात्मक रिश्ता रखते नज़र आते हैं। उनकी कहानियों, कविताओं और उपन्यासों में दलित स्त्री की पीड़ा और उनके उत्पीड़न के प्रति उनमें बहुत हमदर्दी तो दिखाई देती है किन्तु दलित स्त्री के ऊपर गैर-दलित समाज द्वारा जो अत्याचार होते हैं, उस पर वह अपनी सहानुभूति मात्र रखते हैं। शोषण से निजात पाने और दलित स्त्री को न्याय दिलाने का जो संघर्ष व चेतना उनमें होना चाहिए, एक तरह से दलित लेखकों में उसका अभाव दिखायी देता है। जबकि दलित स्त्री रचनाकार अपनी रचनाओं में अपने ऊपर हुए अत्याचार का बदला लेती हैं। वे चुप नहीं बैठती हैं। दलित स्त्री चेतना का पक्ष उनकी रचनाओं में मुखरता से आता है। इसके लिए हम उनकी कुछ रचनाओं का उदाहरण लेंगे। सर्वप्रथम उदाहरण के रूप में सूरजपाल की कहानी 'बदबू' और अनिता भारती की कहानी 'सुजाता रूक मत जाना' को देख सकते हैं। इन दोनों कहानियों में दलित पुरुष लेखक की विचारधारा बनाम दलित स्त्री लेखिका की चेतना को बहुत ही स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है। सूरजपाल की कहानी 'बदबू' की नायिका संतोष है। उसके जीवन को ही केन्द्र में रखकर यह कहानी लिखी गयी है। संतोष सामाजिक और आर्थिक रूप से पीड़ित होने के साथ

---

[224] दोहरा अभिशाप, पेज नं.93

[225] लेख-बजरंग बिहारी तिवारी-दलित नारीवाद की अवधारणा, अन्यथा, जून- 2008, पेज नं.175

घरेलू हिंसा की भी शिकार है। इसके बावजूद भी अपने शोषण के विरूद्ध किसी भी प्रकार की मुक्ति की छटपटाहट उसमें नहीं दिखाई देती है। घरेलू हिंसा, उच्च वर्ग के घरों और शौचालयों की सफाई से मुक्ति का एक आवाह्न दलित स्त्री की तरफ से होना चाहिए था वैसा कोई भी दृश्य इस कहानी में नहीं है। सूरजपाल ने कहानी की नायिका के साथ हो रहे शोषण तथा उसकी दीन-हीन दशा का चित्रण किया है। इसके इतर अनिता भारती की कहानी 'सुजाता रूक मत जाना' में दलित स्त्री चेतना दिखाई देती है। उदाहरण के आधार पर इसकी समीक्षा उचित होगी-

सूरजपाल की 'बदबू' कहानी की नायिका संतोष इंटर-कॉलेज की परीक्षा पास की हुई अपने कस्बे की पहली दलित लड़की है। अपनी अन्य सहेलियों की तरह वह आगे पढ़ना चाहती है किन्तु उसके पिता उच्च शिक्षा की जगह उसका विवाह करना उचित मानते हैं। उच्च शिक्षा को लेकर संतोष का जो उत्साह है वो पितृसत्ता के चलते निस्तेज हो जाता है। उसका विवाह राजेन्द्र से कर दिया जाता है जो एम.सी.डी. में सफाई कर्मचारी के रूप में नौकरी करता है। वह नवीं फेल है। सास भी दिल्ली में लोगों के यहां मोहल्ले कमाने का काम करती है। विवाह बाद संतोष को भी मोहल्ले कमाने का काम करने के लिए बाध्य किया जाता है, जिसका वह प्रतिकार करती है किन्तु उसके मना करने पर उसका पति उसे खूब मारता है और कहता है-

"तू नहीं करेगी तो क्या तेरा बाप करने आएगा?" बात करते-करते उसने संतोष को एक थप्पड़ भी जड़ दिया। वह कुछ देर रोती रही। फिर थोड़ी देर बाद हिम्मत जुटाते हुए बोली-

"चाहे मेरी जान चली जाए पर मैं यह गंदा काम हरगिज नहीं करूंगी।"

"साली तू कौण-सी बणिया या बामण की जाई है जो यह काम ना करेगी?" पति ने इस बार लात का वार उसकी पीठ पर किया। वह अब पलंग से धरती पर जा गिरी।"226

कहानीकार सूरजपाल ने दलित पितृसत्ता का एक तरफ वीभत्स रूप दिखाते हुए दलित स्त्री का लैंगिक शोषण भी दिखाया है। दूसरी तरफ इस कहानी में सूरजपाल ने कहानी की नायिका संतोष में पारम्परिक काम करने का निषेध तो दिखाया है किन्तु संतोष में कहीं भी दलित स्त्री चेतना नहीं दिखायी है। कहानी का अन्त नायिका की हार और पितृसत्ता की जीत से होता है – "संतोष अनमनी

226 सं.मुद्राराक्षस-नयी सदी की पहचान : श्रेष्ठ दलित कहानियां सूरजपाल चौहान-बदबू, पेज नं.132

और गुमसुम बनकर रह रही थी। हां, अब वह सास के साथ मोहल्ला कमाने जाने लगी है। सास और उसका पति रजिन्दर यह सोचकर खुश थे कि बहू काम में जी लगाने लगी है, लेकिन संतोष की हालत दिन-दिन खराब होती गई। वह सहज होने का पूरा प्रयास करती, लेकिन असफल रहती।"[227]

इसके बरक्स दलित लेखिका अनिता भारती की कहानी 'सुजाता रूक मत जाना' को देखें तो वहां कहानी की नायिका सुजाता अपनी शिक्षा को लेकर अपने माता-पिता से जिद्द करती है और शिक्षा के मार्ग पर निरन्तर बढ़ती है। दलित स्त्री लेखिकाओं की कहानियों में लड़कियों को स्कूल न भेजने की मनुवादी परम्परा चकनाचूर होती दिखायी देती है। सुजाता अपने माता-पिता से कहती है कि- "मैं भी स्कूल जाऊंगी, मेरा भी बस्ता लाओ, मेरी नीली ड्रेस लाओ।"[228] दलित लेखिकाओं की नायिकाओं में पढ़ने के प्रति जो जीजिविषा और ललक है वह डॉ.अम्बेडकर के मूलमंत्र से 'शिक्षित बनो' से अपनी प्रेरणा और दलित स्त्री चेतना ग्रहण करता है। हालांकि दलित लेखकों की रचनाओं में भी यह चेतना है किन्तु वहां दलित पितृसत्ता इतनी हावी है कि स्वयं कुछ दलित लेखक अपनी नायिकाओं से इसका विरोध नहीं करा पाते हैं और दलित स्त्री पितृसत्ता के भार तले इतनी दब जाती है कि वह अपने लिए आवाज भी नहीं उठा पाती है।

कहानी का अगला उत्कर्ष तब दिखायी देता है जब बचपन में ही सुजाता का विवाह जोगी से तय तो कर दिया जाता है किन्तु सुजाता शिक्षा में निरन्तर अव्वल आती है और जोगी फेल होता जाता है। वह किसी भी प्रकार से सुजाता के योग्य नहीं है। अच्छी शिक्षा से सुजाता डॉक्टरी की तैयारी करती है किन्तु इधर जोगी के माता–पिता शादी के लिए बार-बार सुजाता के माता-पिता पर दबाव डालने लगते हैं। योग्य वर न होने की वजह से सुजाता शादी के लिए तैयार नहीं होती है, जिसके कारण जोगी के माता-पिता गांव में पंचायत बुला लेते हैं। वहां वे सुजाता के माता-पिता के ऊपर शादी न करने के लिए धोखा देने का आरोप लगाते हैं। पंचायत का फैसला जोगी तथा उसके माता-पिता के पक्ष में जाता है। पंचायते हमेशा से दलितों की घोर शत्रु रही हैं। पंचायत सुजाता के पिता के समक्ष अपना फैसला सुनाते हुए कहती है- "क्यों रे मंगू, अब इस मामले में तेरा क्या कहना है ? क्या तू अपनी

---

[227] वही, पेज नं.135

[228] अनिता भारती : एक थी कोटे वाली तथा अन्य कहानियां, लोकमित्र प्रकाशन, 2012, पेज नं.53

छोरी सुजाता को कलेक्टर बनाकर मर्द बनाएगा ? देख भैया हमारे यहां तो ऐसा नहीं चलता और अगर तुझे अपनी लड़की को कलेक्टर बनाना है तो तुझे एक हजार रूपये माँगे को हर्जाने के रूप में देना पड़ेगा और बिरादरी को मीट-शराब की दावत देनी पड़ेगी ।"[229]

इस कहानी में लेखिका ने ग्रामीण पंचायतों द्वारा शोषण का खुलासा तो किया ही है साथ ही वह अपनी नायिका सुजाता के माध्यम से सरपंच तथा पंचायत के फैसले का पूरा विरोध करती है । सुजाता कहती है –"सरपंच बाबा, आपने मेरे माँ-बाप से जो जुर्माना भरने को कहा है उससे मैं बिल्कुल सहमत नहीं हूं । आप लोग कब तक उन्नीसवीं सदी में रहोगे ? दुनिया अंतरिक्ष तक के रास्ते खोज चुकी हैं, कभी आपने सोचा है कि आखिर विधाता का कौन सा ऐसा कानून है जिसमें यह लिखा हो केवल हमारी बिरादरी ही गली-मोहल्ले बुहारे, लोगों की गन्दगी साफ़ करे, झूठा-सूठा खाएं । आपकी पीढ़ी को यह अच्छा लगता होगा पर हमारी पीढ़ी अब यह सब नहीं करेगी ।"[230] यहां दलित स्त्री चेतना की स्पष्ट झलक दिखायी देती है । एक दलित स्त्री की चेतना वैज्ञानिक तथा तर्क के आधार पर पंचायत और उसके द्वारा होने वाले शोषण की शलाकाओं को ध्वस्त कर देना चाहती है । वह आगे कहती है- "एक बात मेरी आप सभी बड़े सुनलो आपके डराने धमकाने से भी मैं रूकने वाली नहीं ।"[231]

सूरजपाल चौहान और अनिता भारती की कहानियों में मूल अन्तर दृष्टि का है । दलित पुरुष की दृष्टि जहां दलित समाज के अन्दर हो रहे दलित स्त्री के शोषण का मात्र चित्रण करना है वहीं दलित स्त्री की दृष्टि दलित घरों में हो रहे दलित स्त्री के शोषण को दिखाते हुए उसकी समस्या का समाधान तथा दलित स्त्री में चेतना का निर्माण करना है जिससे वे अपने फैसले स्वयं ले सके ।

भारत की अधिकतर जनता गांवों में निवास करती है । गांव जहां किसी एक वर्ग और वर्ण के लिए आदर्श है वहीं किसी दूसरे वर्ग और वर्ण के लिए शोषण का कारखाना तथा नरक का द्वार । दलितों के लिए गांव कभी भी आदर्श नहीं रहा क्योंकि मनुवादी ब्राह्मणवाद, वर्णाश्रम व्यवस्था जितनी सक्रिय गांवों में है उतनी और कहीं नहीं और इसी कारण दलितों का शोषण गांवों में निरन्तर जारी है । सभी

---

[229] वही, पेज नं.54

[230] वही, पेज नं.54

[231] वही, पेज नं.54

दलित स्त्री-पुरुष रचनाकार अपनी रचनाओं में गांव में ब्राह्मणों, जमींदारों, साहूकारों द्वारा अपने ऊपर होने वाले अन्याय और अत्याचार का कच्चा-चिट्ठा खोलते हैं।

ग़ौरतलब है कि दलित पुरुष लेखकों की रचनाओं में गांव के प्रति एक आकर्षण, परंपरा के प्रति प्रेम है। कहीं-कहीं दलित लेखकों में भी शहर में बसने की चाह दिखायी देती है किन्तु वह पूरी तरह से गांव नहीं छोड़ पाते। सूरजपाल की कहानी 'बदबू", मोहनदास नैमिशराय की कहानी "अपना गांव' में गांव को लेकर प्रेम, स्नेह अधिक है, वहीं दलित स्त्री रचनाकारों में ग्रामीण दलित स्त्री गांव की परंपरा, रूढ़ियों से मुक्ति चाहती है। दलित स्त्री रचनाकारों की नायिकाएं ग्रामीण जाति-व्यवस्था में हो रहे शोषण के विरुद्ध शहर जाकर बसना चाहती हैं। अनिता भारती की कहानी 'तीसरी कसम', 'ठाकुर का कुआं' पार्ट-2 में गांव छोड़कर शहर में विकास की तरफ अग्रसर होने का चित्रण है। डॉ.अम्बेडकर का मानना था कि गांव लोकतंत्र की हत्या तथा शोषण के कारखाने हैं। इसीलिए डॉ. अम्बेडकर ने गांव छोड़ शहर में बसने की बात कही थी, क्योंकि शहर में प्रगति का मार्ग खुला हुआ है।

दलित लेखक मोहनदास नैमिशराय की कहानी 'अपना गांव' है। कहानी की केन्द्रीय पात्र **कबूतरी** है जिसका बलात्कार ठाकुर का बेटा कर देता है। कहानीकार ने कबूतरी का इतना असहाय और बेबस चित्रण किया है कि वह केवल चिल्ला सकती है और आंसुओं के साथ अपनी हीन दशा पे अपने आपको निम्न जाति के होने पर पछतावा करती है- ''कबूतरी को चुप कराने में लगी थे बिरमो तथा रामकली। जितना वे चुप करातीं, उतनी ही उसकी हिचकी बंधती। आंसुओं के साथ उसका कातर स्वर उभर रहा था, "भैया...मेरा तो गांव में कोई भी नई है। मुझे ठाकुरों ने नंगा कर दिया और सब देखते रह गए।"[232] गांव के निम्न जाति के लोग कबूतरी के साथ बस सहानुभूति रखते हैं। गांव के किसी भी आदमी में इतनी हिम्मत नहीं है कि कोई आगे उठकर आये और ठाकुर के ख़िलाफ़ कुछ बोल सके। जब शहर से उसका पति सम्पत लौट कर आता है तो वह पुलिस-थाने में जाकर उसकी रपट भी कराता है, गांव के कुछ लोग संगठित भी होते हैं किन्तु कबूतरी का यौन शोषण करने वाले ठाकुर के बेटे के विरूद्ध कोई कुछ नहीं कर पाता। कहानी में सदियों से दलितों के साथ हो रहे शोषण का ही एक तरह से चित्र खींचा गया है। बदला अगर कुछ है तो बस इतना ही कि सम्पत शहर से आता है और

[232] सं.रमणिका गुप्ता-दलित कहानी संचयन कहानी अपना गांव-मोहनदास नैमिशराय, साहित्य अकादमी, पेज नं.51

शोषण के ख़िलाफ़ आवाज उठाता है लेकिन वह आवाज बस आवाज बनकर रह जाती है। कहानी के अन्त में हरिया द्वारा यह घोषणा करना कि "तो हम नया गांव बसाएंगे।" 'नया गांव और अपना गांव।" कहानीकार ने दलितों को कई हजार वर्षों से हो रहे गुलामी के अहसास का बोध करा कर उनमें प्रतिरोध विकसित करने की कोशिश की है किन्तु इस कहानी में दलित स्त्री की चेतना का पक्ष कहीं छूटता नज़र आता है।

दलित स्त्री की चेतना का समावेश सुशीला टाकभौरे ने अपने उपन्यास 'नीला आकाश' में अपने दलित स्त्री पात्रों में किया है। उपन्यास में ब्राह्मणवादी मानसिकता के ब्राह्मण और बनिया शिक्षक दलित छात्राओं को कुत्सित नज़रों से देखते हैं। उनका ध्यान शिक्षण कार्य पर कम और दलित छात्राओं को छेड़ने में ज़्यादा रहता है। राधा अपनी माँ से मास्टर की शिकायत करते हुए कहती है.."माँ मक्खन चतुर्वेदी मास्टर हमको हमेशा घूर-घूर कर देखता है। बनिया गुरूजी भी हमें घूरता रहता है। ऐसे तो छूआछूत मानते हैं, मगर कभी-कभी मेरा हाथ पकड़ लेते हैं। हमें उनसे डर लगता है।" चन्दरी यह सुनते ही गुस्से से फुंफकार उठी-गरीब अछूतों की बच्चियों के लिए, ऐसी बुरी नियत ? इनका सत्यानाश हो जाये।" चन्दरी सदियों से सवर्ण जातियों के इस रवैये को याद करके क्रोध से भड़क उठती है और मास्टर को सबक़ सिखाने के लिए वे बच्चियों के स्कूल पहुंच जाती है। "डर के कारण मक्खन मास्टर उसके सामने नहीं आया। उस दिन चन्दरी को यह महसूस हुआ, उसने यह विजय पाई है।"[233]

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में श्यौराज सिंह बेचैन ने अपने परिवार में दलित स्त्रियों के गहरे शोषण का वर्णन किया है। वे पितृसत्ता की मार खाती हैं और उसे अपनी नियति मानकर सहती हैं। प्रतिरोध का स्वर उन दलित स्त्रियों की तरफ से नहीं दिखाई देता है। विपिन तिवारी अपने समीक्षात्मक लेख 'दलित स्त्री और मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में लिखते हैं..."मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' की अन्य दलित स्त्रियाँ-चाहे श्यौराज की बुआ हो, उसके गांव की मानती हो या गंगावासी की माँ, सब मुखी की तरह मुखर नहीं हैं। सब उसी व्यवस्था के बीच रहते हुए शोषण का शिकार हो रही हैं। गांव की ये दलित स्त्रियाँ अपनी समस्या का समाधान बहुत सहज ढंग से करती हैं। वहां न तो किसी तरह का पुरुष समाज से कोई टकराव है और न ही अपने लिए कुछ करने की कामना। यहां स्त्रियाँ जो कुछ

[233] सुशीला टाकभौरे-नीला आकाश, पेज नं.36-37

भी चाहती हैं, वह अपने परिवार के लिए, अपने पति के लिए, पुत्र के लिए। इस बात की तह में जाएं तो एक बात साफ़ हो जाती है कि दलित स्त्रियाँ अपने समाज में मुखर होने के बावजूद उन्हीं बने-बनाये सामाजिक प्रतिमानों में ही अपने परिवार की बेहतरी चाहती हैं। यह स्त्रियाँ कहीं भी इन सबके पीछे काम करने वाली असली शक्तियों पर कोई प्रश्न-चिन्ह नहीं खड़ा करती हैं। मुखी इसीलिए पहले रामलाल और फिर भिकारी लाल के घर बैठ जाती है। वहीं गंगावासी की माँ गांव के एक ठाकुर की खुले रूप से रखैल बनकर रहने लगती है।"[234] उपर्युक्त रचनाओं में जहां दलित लेखकों ने दलित स्त्री का असहाय वर्णन किया है वहीं दलित लेखिकाओं ने दलित स्त्री की चेतना और उसके साहसी व्यक्तित्व को उभारने की कोशिश की है। यह एक बड़े सवाल के रूप में सामने आता है कि दलित लेखकों की रचनाओं में दलित स्त्री की दशा बेहद खराब तो है ही, किन्तु असहाय सी ये दलित स्त्री पात्र अपने ऊपर हुए अत्याचार का विरोध क्यों नहीं कर पाती हैं ?

दलित साहित्य की प्रारम्भिक रचनाओं में दलित स्त्रियों की छवि लगभग बेचारी सी है। वे उच्च जातियों के दमन का शिकार होती हैं और उस अत्याचार को सहती चली जाती हैं। सुशीला टाकभौरे 'मेरे साक्षात्कार' में लिखती हैं.."दलित साहित्य में नारीवादी लेखन बहुत कम है। सतही रूप में संवेदना के साथ नारीवादी साहित्य लिखा गया है। दलित पुरुष साहित्यकार दलित नारी को परम्परावादी आदर्श स्त्री के रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। माँ, बहन, पत्नी के रूप में घर और बच्चों को संभालने वाली आदर्श स्त्री के रूप में और कहीं-कहीं वह पुरुष की सफलता की प्रेरणा के रूप में दिखाई देती है। स्वतन्त्र रूप से उसके व्यक्तित्व का अंकन और चित्रण बहुत कम हुआ है। कुछ दलित साहित्यकारों ने नारी को जमींदारों, ठेकेदारों और सवर्ण गुण्डों की वासना तृप्ति के मात्र 'खिलौना रूप' में ही प्रस्तुत किया है। पुरानी परम्पराओं और घटनाओं को बार-बार दोहराकर, दलित नारी का केवल उपभोग रूप प्रस्तुत किया है। बचपन से बुढ़ापे तक वह केवल अवैध शारीरिक सम्बन्धों के मात्र साधन रूप में दिखाई जाती रही है। शोषित दलित नारी को अपने ही लोग, अपने साहित्य में आज भी बार-बार नंगा कर रहे हैं।" सुशीला टाकभौरे ऐसे लेखकों से प्रश्न करना चाहती हैं कि "क्या दलित नारी का अतीत केवल यही है ? वर्तमान की उसकी समस्याएं और भविष्य का उसका तीखा तेज स्वरूप

[234] संवेद-54, जुलाई-2012

सजीवता के साथ चित्रित नहीं हो पाता है । चाहे कविता हो या कहानी, लेख हो या संस्मरण, आत्मकथा हो या उपन्यास प्रत्येक विधा में नारी चित्रण के साथ अन्याय किया जाता है ।"[235] जबकि दलित स्त्रीवाद अपने लेखन में दलित स्त्री चेतना को पूरे ठसक के साथ लाता है । उनका लेखन अम्बेडकरी विचारधारा को आत्मसात करते हुए उनकी क्रान्तिकारी चेतना से ऊर्जा ग्रहण करता है । दलित स्त्री रचनाकार उन सभी वर्चस्वशाली व्यवस्था का विरोध करती हैं जो सदियों से उन्हें गुलाम बनाये रखने पर विवश करती रही है।

दलित स्त्री रचनाकारों के लेखन में उनकी नायिकाएं अपने ऊपर हो रहे ज़ुल्म और अत्याचार का बदला स्वयं लेती हैं, वे किसी का इन्तज़ार नहीं करती कि कोई पुरुष (कृष्ण-अवतार) आयेगा और उसकी रक्षा करेगा क्योंकि स्वाभिमान और अस्मिता को कैसे बचाना है, इसका निर्णय वे स्वयं करना सीख गयी हैं और अपराधियों को सबक़ सीखाना भी । दलित स्त्री कहानीकारों ने अपनी नायिकाओं में साहस, बौद्धिकता, तर्कबुद्धि का समावेश खूब किया है । न तो वे रिरियाती हैं और न ही किसी के सामने घुटने टेकती हैं । वे सूझबूझ से अपनी प्रगतिशीलता और साहस का प्रमाण भी देती हैं । इस क्रम में हम कुसुम मेघवाल की कहानी 'अंगारा', सुशीला टाकभौरे की कहानी 'सिलिया', रजनी दिसोदिया की कहानी 'तर्कबुद्धि' को देख सकते हैं । 'दोहरा अभिशाप' में कौसल्या बैसंत्री अपने साहस का परिचय देते हुए गली के लड़कों की शरारतों का खरा जवाब देती हैं । दलित स्त्री पात्रों की ऐसी मिसाल दलित पुरुष की कहानियों तथा अन्य रचनाओं में कम मिलती है । उनके यहां दलित स्त्री का शोषण, उत्पीड़न और अत्याचार का घूंट पीना और यातना को अपना भाग्य समझना दिखाया गया है । अधिकतर दलित पुरुष रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में पुरुष पात्रों में साहस, ओजस्विता का तो समावेश किया है किन्तु दलित स्त्री पात्र भीगी बिल्ली के रूप में दिखायी देती हैं । यह बात सच है कि समाज में यौन-शोषण का शिकार अधिकतर दलित स्त्रियाँ होती है किन्तु ये बात उतनी ही सच है कि इसका प्रतिकार भी वो करती हैं । आत्मनिर्भर होने के कारण उनमें दलित स्त्री चेतना भी है जो दलित पुरुष लेखकों की रचनाओं में शायद ही दिखायी देती है । दलित स्त्री-कविताओं में भी जातिवादी और पितृसत्तात्मक

[235] टाकभौरे, सुशीला (2016) मेरे साक्षात्कार, शिल्पायन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स, पेज नं.25-26

व्यवस्था के विरूद्ध आक्रोश है किन्तु साथ ही साथ उससे मुक्ति पाने का रास्ता भी वे स्वयं ढूंढती हैं। इस रूप में सुशीला टाकभौरे की कविता 'विद्रोहिणी' को देख सकते हैं-

'माँ बाप ने पैदा किया था

गूंगा!

परिवेश ने लंगड़ा बना दिया

चलती रही निश्चित परिपाटी पर

बैसाखियों के सहारे.....

विस्फरित मन हुंकारता है-

बैसाखियों को तोड़ दूं!!

प्रचलित परिपाटी से हटकर

मैं भागती हूं-सब ओर एक साथ

विद्रोहिणी बन चीखती हूं!

मुझे अनन्त आसमान चाहिए।"236

अनन्त आसमान की आकांक्षा लिए दलित स्त्री समाज में अपनी अस्मिता को दर्ज कराना चाहती है। शायद ही इस प्रकार की दलित स्त्री की आकांक्षा और चेतना का चित्रण किसी दलित लेखक ने अपने लेखन में किया हो। इसी तरह सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में भी दलित स्त्री की स्वाभिमान के साथ जीवन जीने की चेतना प्रतिलक्षित होती है। लेखिका की दलित स्त्री चेतना उन सवर्ण स्त्रियों को मुंह चिढ़ाने के साथ उन दलित पुरुषों के साथ न देने का भी बोध कराती है जो डॉ.अम्बेडकर के सपनों का भारत बनाना चाहते हैं। कौसल्या बैसंत्री स्वाभिमान भरे शब्दों में अपनी आत्मकथा के अन्त में लिखती हैं.."अगर हम स्वाभिमान से अपनी उन्नति करना चाहते हैं, तब हमें अपने

236 सं.कंवल भारती : दलित-निर्वाचित कविताएं, पेज नं.142-143

पांव पर खड़ा होकर, अपने पर भरोसा रखकर, आगे बढ़ना होगा । हमें अपने अंदर शक्ति पैदा करनी होगी । किसी का सहारा लेकर चलने से काम नहीं चलेगा ।"[237]

कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में नानी के जीवन संघर्ष तथा उनमें स्वाभिमान की लालसा का भी वर्णन करती हैं । उनकी नानी अपने पति के अत्याचारों से तंग आकर अकेले जीने का निर्णय करती हैं । इस प्रकार का निर्णय दलित स्त्री चेतना के स्वाभिमान को रेखांकित करता है जहां एक दलित स्त्री अपना फैसला स्वयं लेती है । कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं.."आजी ने पक्का निश्चय कर लिया कि वह अब इस घर में नहीं रहेंगी । भाइयों के पास भी नहीं जाएंगी । खुद अपने पांव पर खड़ी रहकर अपने बच्चों को पालेंगी । उनको बड़ा करेंगी ।"[238] एक दलित स्त्री आर्थिक रूप से गरीब और सामाजिक रूप से निम्न जाति के होने के बावजूद भी अपने आत्म-सम्मान को खत्म नहीं होने देती । यही दलित स्त्री की जीजिविषा है ।.."आजी बहुत स्वाभिमानी थीं । अपने मायके वालों से भी कहला भेजा कि वह अपनी लड़ाई खुद लड़ेंगी और वे उनके लिए परेशान न हों ।"[239] दलित स्त्री उत्पीड़ित स्त्री के सभी छवियों को त्यागकर शक्ति संपन्न और ऊर्जा से ओत-प्रोत है । अपनी समस्त रचनाओं में उसकी पारम्परिक छवि टूटी है । 'नयी दलित स्त्री खुदमुख़्तार है । अपनी जिम्मेदारियों से वाकिफ़ और अपने अधिकारों के प्रति सचेत है । उसका संघर्ष और संकल्प बेहतर वर्तमान के साथ काम्य भविष्य के निर्माण के लिए है ।'[240] दलित स्त्री चेतना सभी दलित स्त्री रचनाकारों का अनिवार्य पक्ष है ।

विमल थोराट दलित स्त्री लेखन के संबंध में लिखती हैं कि- "तिहरे शोषण की शिकार दलित स्त्री, दग्ध जीवनानुभवों की अभिव्यक्तियों में जाति अपमान, तिरस्कार, यौन हिंसा, पितृसत्ता और गरीबी से मुक्ति के लिए तीखा तेवर अपना रही है । यह जानना भी ज़रूरी है कि दलित स्त्री-लेखन किस प्रखरता से मनु निर्धारित नैतिकता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था का विरोध कर रही है । अपनी रचनाओं में वह दलित स्त्री के प्रति सवर्ण पुरुष की भोगवादी दृष्टि को बदलने का संकल्प भी लेती है और गांव-देहात, जंगल-वनों, पहाड़ों में रहने वाली श्रमिक दलित स्त्री को आत्मसजग बनाने की पहल कर चुकी है

---

[237] दोहरा अभिशाप, पेज नं.124

[238] वही, पेज नं.19

[239] वही, पेज नं.20

[240] स्त्रीकाल, दलित स्त्रीवाद, अंक-9, सितम्बर-2013, पेज नं.90

। जो स्वयं उसके भीतर अपनी सुरक्षा के लिए विपरीत स्थितियों से और दबंगों से लड़ने का ताप भी पैदा करेगा ।"[241]

यह स्पष्ट है कि दलित लेखक अपनी रचनाओं में दलित स्त्री को नायिका के रूप में प्रस्तुत तो करते हैं किन्तु उसकी दशा बहुत ही दयनीय है । उन्होंने दलित स्त्री (पात्र) को दीनता और हीनता की स्थिति से उबारकर उसके अन्दर आत्मविश्वास तथा अपने अस्तित्व व अस्मिता के लिए संघर्षरत नहीं दिखाया है । जबकि दलित स्त्री रचनाकार अपनी रचनाओं में अपनी नायिकाओं को सामाजिक और आर्थिक रूप से ऊंचा उठाने का प्रयत्न करती है और समाज में सम्मानित जगह भी दिलाती है । समाज में फैली विषमताओं को ये नायिकाएं समाप्त करने का दृढ़-निश्चय करती हैं । डॉ.अम्बेडकर की चेतना उनके अन्दर एक मिसाल तथा हौंसले के रूप में कार्यान्वित होती है । चाहे सुशीला टाकभौरे की कहानी की पात्र 'सिलिया' हो या फिर उनकी अन्य रचनाओं में आये पात्र जैसे 'तुम्हें बदलना होगा', 'नीला आकाश' (उपन्यास), 'व्हील चेअर' (नाटक) के ओजस्वी तथा प्रभावशाली पात्रों की सृष्टि लेखिका ने इन रचनाओं में की है । इसके अतिरिक्त अन्य रचनाएं जैसे 'तुम भी जानो', 'हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), 'संघर्ष' जैसी कहानियां ही क्यों न हो, रजनी तिलक का 'हवा सी बेचैन युवतियां,' 'पदचाप' (काव्य संग्रह), अनिता भारती का 'एक कदम मेरा भी', 'रूखसाना का घर' (काव्य संग्रह), 'तीसरी कसम', 'एक थी कोटेवाली' (कहानी), हेमलता महिश्वर का 'नील नीले रंग के' (काव्य संग्रह), रजत रानी मीनू का 'हम कौन हैं' (कहानी संग्रह) और 'पिता भी होते हैं माँ' (काव्य संग्रह) इत्यादि रचनायें समाज में सनातनी परंपरा, मनुवादी आचार-संहिता ब्राह्मणवादी और पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर चोट करती हैं और सबके कदम में 'एक कदम मेरा भी' है दलित स्त्रियाँ इसका बोध कराना चाहती हैं ।

4.5 दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र : दलित स्त्री का सवाल

यह एक गम्भीर प्रश्न है कि पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र की मान्यताओं को खारिज़ करते हुए दलित साहित्य ने जिस दलित सौन्दर्यशास्त्र की रचना की उसमें दलित स्त्री को जग़ह क्यों नहीं मिली ? शरण कुमार लिंबाले और ओमप्रकाश वाल्मीकि दोनों दलित साहित्यकारों ने दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र पर

[241] विमल थोराट (2008) दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.लि.), नई दिल्ली, पेज नं.10

बेहतरीन पुस्तकें निकालीं। इन दोनों पुस्तकों में दलित स्त्री लेखन का संज्ञान तक नहीं लिया गया है। मराठी के प्रसिद्ध दलित रचनाकार शरण कुमार लिंबाले अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र 'में पश्चिमी साहित्य (अमेरिकन नीग्रो साहित्य) तथा भारतीय साहित्य (मार्क्सवाद, नक्सल आंदोलन) इत्यादि की चर्चा बखूबी करते हैं किन्तु एक भी अध्याय में दलित स्त्री लेखन की चर्चा करना उचित नहीं समझा। 'दलित वीमेंस राइटिंग', की संपादक के. सुनीता रानी ने पुस्तक के बारे में अपनी आपत्ति दर्शाते हुए कहा कि 'पश्चिमी साहित्य, भारतीय साहित्य और दलित साहित्य की चर्चा करने वाले लेखक ने दलित स्त्री साहित्य का उल्लेख तक क्यों नहीं किया। यह तब जबकि मराठी दलित साहित्य में दलित स्त्रियों की सशक्त आवाज मौजूद थी।"[242] ओमप्रकाश वाल्मीकि भी अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में दलित स्त्रियों की समस्याओं, उनकी पीड़ा को किसी भी अध्याय में महत्व तक नहीं देते हैं। वाल्मीकि दलित साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र' अपनी पुस्तक में दलित स्त्री के लेखन का उल्लेख करना क्यों भूल गये ? वजह जो भी रही हो किन्तु दलित पितृसत्ता तथा दलित स्त्री मुद्दे की उपेक्षा का एक रूप यह हो सकता है।

समकालीन दलित साहित्य में दलित स्त्रियों को अपने लेखन में नायिका बनाना दलित पुरुष लेखकों द्वारा यह उल्लेखनीय पहल कही जा सकती है किन्तु सबसे बड़ा सवाल यह है कि दलित स्त्री क्या अपनी पारंपरिक छवि से बाहर आ पायी है ? उसकी पारंपरिक भूमिका, छवि और मूल्यबोध को दलित पुरुष लेखक कितना बदल पाया है, यह बहुत बड़ा मुद्दा है। 'दलित लेखन में नवोदित रचनाकार लैंगिक मुद्दों के प्रति दलित स्त्री विमर्श को लेकर थोड़े संवेदनशील दिखाई देते हैं। यह संवेदनशीलता उनकी रचनाओं में दिखाई देती है किन्तु लैंगिक संवेदनशीलता के कई स्तर हैं।' कुछ रचनाकारों की रचनाओं का अध्ययन करने पर पता चलता है कि स्त्री-पुरुष की समानता और स्वाधीनता का जहां सवाल है वहां तो वैचारिक स्तर पर वे दलित स्त्री के साथ खड़े हैं किन्तु पितृसत्तात्मक पूर्वाग्रहों, संस्कारों और सौंदर्यबोध के सवाल पर वो चुप्पी साधे दिखायी देते हैं। वह पारंपरिक सौन्दर्यबोध से मुक्त नहीं हो सके हैं।

[242] शरण कुमार लिंबाले : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, अनु.रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पेज नं.117

दलित स्त्री की पारंपरिक सौन्दर्यबोध जैसी छवि को पेश करते हुए संदीप मील अपनी कहानी 'थू-थू' में लिखते हैं.."दो बच्चों की माँ होते हुए भी जब देवकी घूंघट निकालकर बाहर निकलती थी, तो बड़े-बड़े सूरमाओं का ईमान डोल जाता लेकिन क्या मजाल कि वे उसे कुछ कह पायें। उसका व्यवहार घर में अलग होता और बाहर अलग। आज तक किसी पराए मर्द ने उसका चेहरा नहीं देखा होगा।...औरत की स्वतन्त्रता का पक्षधर होते हुए भी वह मुझे पर्दे में ही अच्छी लगती, देवकी के पास दो ही चीजें तो थीं-एक उसका स्वाभिमान और दूसरी घूंघट में छिपी खूबसूरती।"[243] दलित लेखक द्वारा एक दलित स्त्री की इस तरह की छवि का वर्णन करना, मुख्यधारा के साहित्य की रीतिकालीन परम्परा की तरफ़ हमारा ध्यान अनायास ही खींच ले जाता है। फिर इसे दलित साहित्य का कौन सा सौन्दर्यशास्त्र कहेंगे जो उसे मुख्यधारा के सौन्दर्यशास्त्र से अलग करता हो ? कवितेन्द्र इन्दु इस संदर्भ में उचित ही लिखते हैं 'घर-बाहर के विभाजन, परम्परागत नैतिकता और घूंघट के ऐसे महिमामंडन को पढ़कर समझ में नहीं आता कि इसमें दलित-स्त्रीवाद को तलाशें तो कहां तलाशें। जिन 'असूर्यशम्पा' नायिकाओं की कल्पना दरबारी साहित्य में की गई है, लेखक का आदर्श उससे किस तरह भिन्न है।'[244]

इन कहानियों के मूल्यांकन का आधार क्या होना चाहिए क्योंकि दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र 'सत्यम्, शिवम्, सुंदरम्' से भिन्न है। शरण कुमार लिम्बाले लिखते हैं 'दलित साहित्य कलावादी अथवा रंजनावादी साहित्य नहीं है इसलिए कलावादी साहित्य के सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र सिद्ध करने की चर्चा नहीं की जा सकती।'[245]

4.6 जेण्डर का सवाल और दलित पुरुष की चुप्पी

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में जेण्डर का सवाल एक बड़ा सवाल है जिस पर पुरुष वर्ग सदियों से चुप्पी साधे रहा है। स्त्री-पुरुष समानता की बात न तो गैर-दलित पुरुषों में दिखायी देती है और न ही दलित पुरुषों में। यही कारण है कि स्त्री विमर्श का उदय हुआ और उसके बाद जाति, वर्ग और जेण्डर

---

[243] यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कहानियां, संदीप मील की कहानी-थू-थू, लोकमित्र, नई दिल्ली, 2012, पेज नं.73-74

[244] उदधृत- यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, पेज नं.152

[245] शरण कुमार लिंबाले : दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, अनु.रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पेज नं.117

का सवाल लेकर दलित स्त्री विमर्श भी उदित होता है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था एक दमनकारी व्यवस्था है जिसका निर्माण मनु ने किया और मनुवादी मानसिकता से ग्रस्त लोग ही जिसे अभी भी पाल-पोष रहे हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था भी इसी से संचालित है। दलित विमर्श वर्णाश्रम व्यवस्था का निषेध करता है। इस व्यवस्था के विध्वंश से ही निम्न तबके दलित और स्त्रियों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अधिकार मिल सकते हैं और वे भी समाज में सम्मानपूर्ण जीवन जी सकते हैं। किन्तु जिस मनुवादी मूल्यों के नकार में दलित आंदोलन और दलित साहित्य विकसित हुआ वह स्त्रियों के मुद्दों पर मनुवाद को कितना नकारता है, यह विचारणीय है। दलित विमर्श से यह प्रश्न है कि वह स्त्री को एक मानवी के रूप में दर्जा देने तथा सभी मूलभूत अधिकारों को मुहैया कराने में उसका कितना सहयोगी है ? एक स्वतन्त्र प्राणी के रूप में वह उसे कितनी स्वतन्त्रता प्रदान करता है ? क्योंकि दलित विमर्श जिन उद्देश्यों के लिए लड़ रहा है उसमें वंचितो, शोषितों, स्त्रियों, आदिवासियों की मुक्ति का उद्देश्य भी शामिल है किन्तु स्त्री के अधिकारों के लिए वह कितना प्रयत्नशील दिखायी देता है ? यह महत्वपूर्ण सवाल है। दुनिया के बड़े-बड़े आन्दोलनों ने भी दलित स्त्री के मुद्दों को अनदेखा कर दिया। चाहे वह मार्क्सवादियों का आंदोलन हो, स्त्री आंदोलन हो या फिर आज़ादी के लिए भारतीय स्वाधीनता आंदोलन ही क्यों न हो ? जहां तक दलित आंदोलन है वह डॉ. भीमराव अम्बेडकर के आंदोलन से अपना निहितार्थ ग्रहण करता है इसलिए अपने समुदाय की स्त्रियों की मुक्ति के लिए उससे अधिक उम्मीद की गयी। जहां घोर निराशा हाथ लगी।

दलित स्त्री विमर्श के दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने पर कुछ प्रश्न खड़े होते हैं कि क्या जेण्डर के आधार पर दलित स्त्री के साथ होने वाले शोषण को उन्होंने अपनी रचनाओं में जगह दी है ? सवाल यहां केवल यही नहीं है। सवाल यह भी है कि क्या दलित समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था कायम नहीं है ? यदि है, तो वहां दलित स्त्री का घर के अन्दर होने वाले लैंगिक शोषण का चित्रण क्या दलित पुरुष रचनाकारों ने अपनी रचनाओं में किया है ? या बाहरी जगत में गैर-दलित जातियों द्वारा होने वाले लैंगिक शोषण का ही चित्रण बहुत बढ़ा-चढ़ा कर किया गया है। दलित स्त्रियाँ वहां मानुषी के रूप में आती हैं या नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में जाने पर हमें एक गहरे यथार्थ का बोध होता है कि दलित पुरुषों में भी गैर-दलित पुरुषों की भांति पितृसत्ता व्याप्त है।

श्यौराज सिंह बेचैन इतना तो मानते हैं कि दलित स्त्रियाँ दलित पुरुषों द्वारा सतायी गई हैं किन्तु इसके पीछे वे सामन्ती प्रभाव को जिम्मेदार ठहराते हैं, "दलित महिलाएं दलित पुरुषों द्वारा भी यदि कहीं सतायी गई हैं, तो वे सवर्ण-सामंती प्रभावों के कारण सतायी गई हैं ।"[246] अपनी आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में सौतेले पिता भिकारी द्वारा अपनी माँ के ऊपर किये गये अत्याचार का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं--"अम्मां पाली में भी परेशान रहती थी । सबसे दुखद यह कि भिकारी अम्मा को लाठी-डण्डे, कलाबूत या फरहे से मारा-पीटा करता था ।"[247] दलित पुरुष भी अपनी स्त्रियों पर अपना अधिकार समझकर उन्हें मारते-पीटते हैं । ''भिकारीलाल और अम्मां में अकसर झगड़ा होता था । वे पति-पत्नी एक-दूसरे की ज़रूरत और मजबूरी थे, किन्तु उनके स्वभाव और संस्कारों में कोई मेल नहीं था । न तो वे एक-दूसरे को समझ पा रहे थे और न समायोजन कर पा रहे थे । सप्ताह में छह दिन उनमें झगड़ा ही होता था । भरण-पोषण कर्ता होने, घर का मालिक और पुरुष होने के नाते भिकारी माँ को तिहरे अधिकार से मारता था ।''[248]

इसी तरह तुलसीराम ने भी दलित पितृसत्ता के दंश और उसके घृणित रूप का अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में वर्णन किया है । दलित समाज में पितृसत्ता का वीभत्स रूप हर घर में देखने को मिलता है । पितृसत्ता के वर्चस्व को जॉन स्टुअर्ट मिल ने सही अर्थों में व्याख्यायित किया है ..''हर पुरुष के धाड़ में एक हांड़-माँस की एक स्त्री के रूप में इसका अस्तित्व है, यह शक्ति किसी मोची-धोबी के पास भी उतनी ही है, जितनी किसी राजा-महाराजा के पास, और यह मामला कुछ ऐसा है कि इसमें शक्ति की इच्छा सबसे ज़्यादा होती है-क्योंकि जो लोग हमारे निकट होते हैं, उन्हीं पर शक्ति प्रदर्शन का सबसे ज़्यादा आनन्द आता हैं और उन्हीं की स्वतन्त्रता हमारी पसन्द-नापसन्द में दखलन्दाजी कर सकती है ।''[249] कमोबेश दलित स्त्रियाँ भी इसी अत्याचार और उत्पीड़न की शिकार होती हैं । दलित समाज में दलित पुरुष ठीक वैसा ही सुलूक अपनी स्त्रियों के संग करते हैं जैसा सवर्ण अपने घरों की स्त्रियों के साथ । राजेन्द्र यादव का मानना है कि, ''स्त्री हमारा अंश और विस्तार है । वह हमारी ऐसी जन्मभूमि है, जिसे

---

[246] श्यौराज सिंह बेचैन: स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, पेज नं.8

[247] श्यौराज सिंह बेचैन, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पेज नं.47

[248] मेरा बचपन मेरे कंधों पर, पेज नं.55

[249] मिल, जॉन स्टुअर्ट, स्त्री और पराधीनता ('द सब्जेक्शन ऑफ विमेन') प्रकृति, शक्ति और भूमिका से जुड़े प्रश्न, अनुवाद एवं प्रस्तुति-युगांक धीर, संवाद प्रकाशन, मुम्बई : मेरठ, संस्करण-2008, पेज नं.21

हमने अपना उपनिवेश बना लिया है। हमारी सोच और संस्कृति के सारे सामन्ती और साम्राज्यवादी मूल्य उपनिवेशों के आधिपत्य और शोषण को जायज ठहराने की मानसिकता से पैदा होते हैं। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दुनिया भर में जो उपनिवेश भौतिक और मानसिक रूप से स्वतन्त्र हुए, उनमें 'स्त्री' नाम का उपनिवेश भी है। दलित हमारे घरों और बस्तियों से बाहर होता है। स्त्री हमारे भीतर होती है, इसलिए उसका संघर्ष ज़्यादा जटिल है।"[250]

कौसल्या बैसंत्री ने अपने आत्मकथात्मक उपन्यास 'दोहरा अभिशाप' में दलित समाज के अभिशप्त और संत्रास जीवन का वर्णन तो किया ही है साथ ही दलित स्त्रियों के साथ हुए भीषण अत्याचार का भी चित्रण किया है। उन्होंने घरेलू हिंसा, जातिगत भेदभाव, सामाजिक हिंसा तथा दलित घरों में व्याप्त दलित पितृसत्ता की विद्रूपता को भी उघाड़ा है। दलित घरों में यह अकसर देखने को मिलता है कि पति शराब पीकर बच्चों एवं पत्नी से मारपीट करता है। उसके आत्म-सम्मान को हमेशा चोट पहुंचाता है जबकि पत्नी श्रम-परिश्रम करके सुचारु रूप से घर चलाने का प्रयत्न करती है। 'दोहरा अभिशाप' में लेखिका अपने पति देवेन्द्र की थोथी प्रगतिशीलता का कच्चा-चिट्ठा खोलते हुए उसके सामन्ती और पितृसत्तावादी मानसिकता का वर्णन करती है जिसका शिकार लेखिका को होना पड़ा – "मेरी और देवेन्द्र कुमार की नहीं बनी। देवेन्द्र कुमार सिर्फ अपने घेरे में रहने वाला आदमी है। गर्म मिजाज और जिद्दी। अपने मुंह से कहता कि मैं बहुत शैतान आदमी हूं। उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात-बात पर गाली, वह भी गंदी-गंदी और हाथ उठाना। मारता भी बहुत क्रूर तरीके से।' देवेन्द्र कुमार को पत्नी सिर्फ खाना बनाने और उसकी शारीरिक भूख मिटाने के लिए चाहिए थी। दफ़्तर के काम और लिखना यही उसकी चिंता थी। मुझे किसी चीज की ज़रूरत है, इस पर उसने कभी ध्यान नहीं दिया।"[251]

यह सच है कि जेण्डर के आधार पर होने वाले शोषण से अकेली स्त्रियाँ प्रताड़ित हैं। शरण कुमार लिंबाले अपने एक साक्षात्कार में दलित स्त्रियों के उत्पीड़न के पक्ष में अपना विचार रखते हैं कि "दलित स्त्री जैसे जाति-व्यवस्था की गुलाम है वैसे पुरुष-सत्ता की भी गुलाम है। उसका दोहरा शोषण

---

[250] राजेन्द्र यादव (2001) आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन, भूमिका

[251] दोहरा अभिशाप, पेज नं.104

होता है। दलित स्त्री जाति-व्यवस्था के विरुद्ध और दलित पुरुष सत्ता के विरुद्ध लड़ रही है। दलित पुरुष इस व्यवस्था का गुलाम है तो दलित स्त्री गुलाम बनी है। हम समता और सामाजिक न्याय का समर्थन करते हैं। हम दलित स्त्री पर होने वाले अन्याय के ख़िलाफ़ हैं। इतना ही नहीं हम किसी भी स्त्री पर होने वाले अन्याय के पक्ष में नहीं। दलित एक क्रांतिकारी मानसिकता है। यह मानसिकता किसी भी गुलामी का समर्थन नहीं कर सकती।"[252]

कांचा इलैया दलित समाज में दलितबहुजन पितृसत्ता की मौजूदगी को स्वीकारते हैं। वह इसे ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के एकदम विपरीत मानते हैं। दलितों में जो पितृसत्ता है वहां औरत उत्पादन और प्रजनन दोनों की भूमिका में है। चाहे वह घर हो या खेत कहीं भी औरत और पुरुष के काम में अन्तर नहीं है। कांचा इलैया दलितबहुजनों में पितृसत्ता को लोकतांत्रिक मानते हैं। इसके पीछे का कारण वह दलितों में परिवार तथा समुदाय के भीतर राजनीतिक संबंधों के लोकतांत्रिक होने से मानते हैं। वह कहते हैं कि 'माता-पिता और बच्चों के संबंध के रूप में राजनीति यहां जिस रूप में काम करती है उसे पितृसत्तात्मक लोकतंत्र कहा जा सकता है।' इसके अतिरिक्त वह 'व्यक्तिगत' धारणा जैसी कोई बात दलितबहुजनों में नहीं पाते हैं। इस कारण वहां गृहस्थी अनिवार्य रूप से व्यक्तिगत नहीं है। फिर भी वह दलितों में पितृसत्ता को अनिवार्य मानते हैं क्योंकि वहां भी दलित पुरुष अपनी स्त्रियों पर अत्याचार करते हैं। वे लिखते हैं कि 'इन जातियों में घर एक सामाजिक इकाई होता है। यह एक स्वीकृत मान्यता है। पत्नी की पिटाई करना एक पितृसत्तात्मक व्यवहार है, जो लगभग सभी जातियों में है। दलितबहुजन भी इससे मुक्त नहीं है।"[253]

मुख्यधारात्मक साहित्य हो या मार्क्सवादियों का साहित्य हो जिस तिहरे शोषण से दलित स्त्री अभिशप्त थी उससे निजात दिलाने के लिए स्वयं दलित साहित्यकारों ने भी कुछ नहीं किया। दलित पुरुष भाईयों द्वारा इस प्रकार की अनदेखी से दलित स्त्री रचनाकार बहुत आहत हुईं। इसी उपेक्षा के भाव को दलित कवयित्री रजनी तिलक अपनी कविता 'मेरे भाई' में दलित पितृसत्ता की सच्चाइयों को उघाड़ती चलती हैं, जिसमें वे (दलित पुरुष) अपनी मुक्ति तो चाहते हैं किन्तु अपने घर की (दलित

---

[252] उमाशंकर चौधरी (2012) हिस्सेदारी के प्रश्न-प्रतिप्रश्न, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स, प्रा.लि.नई दिल्ली, पेज नं.418

[253] कांचा इलैया :मैं हिन्दू क्यों नहीं हूं, पेज नं.42

स्त्रियों) जहां बात आती है वहां उन्हें अपने आंदोलन में दरारों की आंशका नज़र आती है। रजनी तिलक लिखती हैं –

"तुम मेरे कौमी भाई!

अपनी आज़ादी माँगते हो

बताते और हमें समझाते हो

उसे पूरी कौम की आज़ादी!

कौम की आज़ादी

क्या औरतों की गुलामी है?

ममत्व की छत्रछाया में पलने वाले

बड़े होते ही क्यों हो गये

तुम मर्द, तोप, तलवार के साये?

हमने झेली

तुम्हारी वेदनाएं, निराशाएं

महत्वाकांक्षा और तिलमिलाहट

फिर यो हमसे

यूं सामन्ती व्यवहार क्यों?

तुम्हें लोकतंत्र की दरकार

हमें नहीं?

यह वो आदर्श नहीं

जिसके लिए तुम

भीम सैनिक बने।"254

---

254 रजनी तिलक, हवा सी बेचैन होती युवतियां (दलित स्त्रीवाद की कविताएं), स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014, पेज नं.31-32

डॉ.अम्बेडकर के आंदोलन को अपनी ऊर्जा मानने वाला दलित आंदोलन का दोहरा चरित्र वहीं स्पष्ट हो जाता है जहां वह डॉ.अम्बेडकर के स्त्री-मुक्ति आंदोलन को अपनी विचारधारा में शामिल नहीं करता। यह बात पूरी तरह सही है कि दलित स्त्रियों के साथ उनके कौमी भाइयों ने बहुत ही ज्यादती की। घर में अपनी पत्नियों के साथ सामंती व्यवहार कर उनसे स्वतन्त्रता का हक़ भी छीन लिया। कहां-कहां किस पड़ाव पर दलित पुरुषों ने उनके साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार किया, इसका उल्लेख दलित स्त्री रचनाकार अपनी प्रत्येक रचनाओं में करती हैं।

हिन्दी दलित साहित्य में कौसल्या बैसंत्री हों या फिर सुशीला टाकभौरे इन्होंने अपनी आत्मकथाओं 'दोहरा अभिशाप', 'शिकंजे का दर्द' में घर के भीतर दलित पितृसत्ता की गहरी पैठ का चित्रण किया है। मराठी दलित स्त्री लेखिकाओं ने भी अपनी आत्मकथाओं में दलित पुरुषों के दमन का खुलकर वर्णन किया है जिसमें बेबीताई कांबले का 'जीवन हमारा', उर्मिला पंवार का 'आयदान' प्रमुख है। सुशीला टाकभौरे के पति सुन्दरलाल टाकभौरे एक उच्च शिक्षित व्यक्ति और सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं किन्तु उनकी इस योग्यता में संदेह तब देखने को मिलता है जब वह अपनी पढ़ी-लिखी पत्नी पर घरेलू अत्याचार करते हैं। सामाजिक कार्यकर्ता होने के नाते उनके द्वारा इस तरह का व्यवहार अमानवीय कृत्य को प्रकट करता है। अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में सुशीला टाकभौरे अपने पति द्वारा किए गये अत्याचार की हिंसक घटनाओं का चित्रण करती हैं जो बहुत ही हैरतअंगेज है- "मेरे साथ घर में मार-पीट, गाली-गलौज सब कुछ हुआ। बाल पकड़कर खींचना, लातों से मारना, गर्दन पर मुक्के बनाकर मारना, पीठ पर घूंसे मारना। मैंने सब कुछ सहा। बेंत के निशान कई दिनों तक मेरे शरीर पर रहते थे, मार खाने के बाद मेरी हालत यह होती थी-घण्टों सिर चकराता, जैसे मैं हवा में उड़ रही हूं। ज़मीन से फिसल रही हूं, बड़े-बड़े पत्थर मेरी तरफ लुढ़कते आ रहे हैं, जैसे भागता हुआ हाथी आकर अचानक मेरे सिर पर पैर रखकर कुचल रहा है।"[255] दलित बहुजनों के घरों में दलित स्त्रियों का दमन, उत्पीड़न और इस तरह का दोहरा शोषण बहुतायत मिलेगा।

दलित घरों में दलित स्त्रियों पर होने वाली हिंसाएं कम नहीं हैं। दलित स्त्रियों को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने के बावजूद भी दलित पुरुषों द्वारा अत्याचार और उत्पीड़न का सामना करना पड़ता

[255] सुशीला टाकभौरे-शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, 2012, पेज नं.155

है । चाहे पति शिक्षित ही क्यों न हो, वह पत्नी पर हिंसा करना अपना अधिकार समझता है । दलित विमर्श के तहत देखा जाय तो दलित पुरुष रचनाकारों द्वारा पितृसत्ता की मौजूदगी को अस्वीकार करना उनमें व्याप्त पितृसत्तावादी मानसिकता को ही दर्शाता है । दलित स्त्री रचनाकार अपनी रचनाओं में अपने समाज में स्त्री के ऊपर होने वाले हर शोषण का यथार्थपूर्ण मार्मिक चित्रण करती है । इसी सन्दर्भ में किंगसन पटेल लिखती हैं कि "दलित विमर्श जाति आधारित वर्चस्व को खत्म कर देना चाहता है, लेकिन स्त्री को दोयम बनाये रखने के मामले में वह भी सवर्ण पुरुषों से सहमत है ।' धर्मवीर के हवाले से देखा जाय तो यह और भी वर्चस्वकारी तथा नियन्त्रणकारी है 'दलित पुरुष को आर्य पुरुष की गुलामी से बचना है, तो उन्हें अपनी स्त्रियों के कब्जे में रखना होगा ।"[256] ऐसी सोच ही दलित स्त्रियों में अपने विमर्श व अपने मुद्दों तथा अधिकारों के प्रति जबरदस्त संघर्ष शुरू करने की प्रक्रिया दिखायी देती है । इस संबंध में बजरंग बिहारी की टिप्पणी उचित जान पड़ती है-'पितृसत्ता के हिमायतियों की पहरेदारी बढ़ गई है । पितृसत्ता के सवर्ण और दलित खेमों ने जिस तरह से हाथ मिलाया है, उस दुरभिसंधि का सच भी दलित-स्त्री के लेखन में उजागर हो रहा है ।'[257]

यह सच है कि दलित स्त्रियाँ अपने ऊपर होने वाले किसी भी प्रकार के अत्याचार का आज प्रतिकार कर रही हैं । यदि घर के बाहर उनका शोषण गैर-दलित पुरुष करता है तो वे उसका मुंह तोड़ जवाब देने से पीछे नहीं हटतीं और घर के अन्दर दलित पुरुष के अत्याचार का बदला वे अन्याय के ख़िलाफ़ लड़कर लेती हैं । पितृसत्ता की शक्तिशाली चक्रव्यूह को धीरे-धीरे भेदना वे समझ गयी हैं, जिसके लिए उन्होंने कलम उठा लिया है ।

दलित स्त्री की आवाज को दलित साहित्य के भीतर कितना विरोध झेलना पड़ा है । कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा दोहरा अभिशाप पर डॉ.धर्मवीर की लिखी समीक्षा दोहरा अभिशाप कितना दोहरा ? एक डायनासोर औरत ? को पढ़कर जाना जा सकता है । ग़ौरतलब है कि दलित स्त्री जब स्वयं लिखती है तो भी उसको उलाहने देने के लिए दलित पुरुष तैयार रहता है । यह डॉ.धर्मवीर द्वारा की गयी समीक्षा और उनके लेखन से भी हम जान सकते हैं । रमणिका गुप्ता का मानना है कि स्वयं दलित

---

[256] उद्धृत-लेख किंगसन सिंह पटेल, सं.अनिता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी-यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, पेज नं.155

[257] यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कहानियां, लोकमित्र प्रकाशन, पेज नं.238

समाज के भीतर भी वही नैतिक मूल्य, मान्यताएं और पितृसत्ता घुसपैठ कर चुकी हैं जो सवर्ण समाज के भीतर मौजूद रही हैं। कौसल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा इस बात को बहुत ही स्पष्ट कर देती हैं कि दलित समाज और पुरुष अपनी स्त्रियों का वैसा ही शोषण करते हैं जैसे कि सवर्ण समाज । जो स्त्री जितनी आत्मनिर्भर और चेतनासंपन्न और स्वतन्त्र होगी वह उसी मात्रा में अपने उत्पीड़न और पालतू बनाए जाने का विरोध कर पायेगी। डॉ.अम्बेडकर का मानना था कि-'पुरुष का प्रभुत्व हर समाज में रहा है, इसकी प्रतिष्ठा अधिक रही है। पुरुष की परंपरागत श्रेष्ठता के कारण उसकी इच्छाओं का सदा सम्मान किया जाता रहा है । दूसरी ओर नारी सदा धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक असमानताओं का शिकार होती रही है।'[258]

पितृसत्ता विषमतामूलक व्यवस्था का ढांचा है और यह जाति और वर्ग दोनों की असमानताओं से निरपेक्ष नहीं है। जाति और वर्ग दोनों असमानताओं को नज़रअंदाज कर यदि यह सोचा जाय कि पितृसत्ता का विरोध करके सभी प्रकार की असमानताओं से तथा स्त्री के साथ दुर्व्यवहार और भेदभाव से मुक्ति हो सकती है तो यह बहुत बड़ी भूल होगी। क्योंकि जाति के अन्दर भी पितृसत्ता अपनी गहरे जड़ें जमायी हुई हैं। दलित स्त्री जिस तिहरे शोषण से ग्रस्त है उसमें एक तो पुरुषों द्वारा उत्पीड़न भी है । दलित घरों के अन्दर दलित महिलाओं पर चारित्रिक लांछन लगाना, उनका यौन उत्पीड़न, उन्हें शारीरिक चोट पहुंचाना, उनका पारिश्रमिक छीन लेना इत्यादि दलित पितृसत्ता द्वारा अत्याचार करने की प्रमुख पहचान है। इस दलित पितृसत्ता पर बहुत ही सटीक टिप्पणी करते हुए राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि-"अपनी ही बहू-बेटियों के लिए एक दलित किस तरह सुवर्ण मर्द बन बैठता है। जातियां आपसी संघर्ष में एक-दूसरे से बदला लेने के लिए कमज़ोर वर्ग की स्त्रियों के साथ खुलेआम बलात्कार करती हैं, उन्हें नंगा घुमाती हैं –मगर यह नहीं देखती कि दोनों अपने-अपने घरों में स्त्रियों को कैसे और कहां-कहां मारती है।"[259] इस तरह देखा जाय तो समाजिक व्यवस्था में निम्न माने जाने वाला दलित पुरुष भी स्त्रियों की यौनिकता पर नियंत्रण स्थापित करता है और मनुवादी आचार संहिता व पितृसत्तात्मक वर्चस्व को अपने घर की स्त्रियों पर लागू करता है।

---

[258] डॉ.अम्बेडकर : भारत में जातिप्रथा-संरचना, उत्पत्ति और विकास

[259] उद्धृत, शरण कुमार लिंबाले :दलित ब्राह्मण अनु.निशिकांत ठाकुर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013, भूमिका से

जाति और पितृसत्ता का अन्योन्याश्रित संबंध है। एक से मुक्ति की कल्पना करके दूसरे से मुक्त होने की कल्पना बेईमानी होगी। उमा चक्रवर्ती का मानना है कि "इससे बड़ी त्रासदी और क्या हो सकती है कि निम्न जातियां, खासकर उत्तर भारत में, विवाह के साथ-साथ सामान्य तौर पर भी अपनी स्त्रियों की यौनिकता की कड़ी निगरानी करती हैं। इस क्रम में वे असमानता के बायो-जेनेटिक नक्शे या पटल को पुनरोत्पादित करती हैं, बिना इस बात के प्रति चेतस हुए कि यौन संबंधी वे धारणाएं जिन्हें उन्होंने मजबूती से पकड़ रखा है उसी सामाजिक संरचना अथवा समाज व्यवस्था की उपज हैं जो उन्हें अन्य स्तरों पर अथवा अन्य रूपों में शोषित की हुई हैं।"[260]

उपर्युक्त कथ्यों और तथ्यों से यह ज्ञात हो जाता है कि दलित समाज में एक भीषण पितृसत्ता व्याप्त है किन्तु दलित साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथा हो या फिर अपने सैद्धान्तिक आलोचना परक लेखों और कहानी, उपन्यास इत्यादि लेखन में दलित समाज में व्याप्त पितृसत्ता पर अपनी गहरी चिन्ता नहीं जतायी है। दलित स्त्रियों पर उच्च वर्णों, वर्गों द्वारा होने वाले यौन शोषण, उत्पीड़न को ही उन्होंने अपने लेखन में जगह दी है। अपने दलित समाज और स्वयं द्वारा किये हुए शोषण को वे अपनी रचनाओं में छुपा ले जाते हैं। दलित समाज में पितृसत्ता को नकारने वालों में प्रमुख दलित रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं कि दलित समाज में पितृसत्ता का सवाल मार्क्सवादी उठाते हैं : जबकि हमारे यहां स्त्रियाँ स्वतंत्र हैं, क्योंकि वह श्रम से जुड़ी हैं। दलित स्त्रियों की स्वतन्त्रता का राग अलापने वाले रचनाकार यह भूल जाते हैं कि 'यह एक मिथ है जिसका सृजन पितृसत्ता अपने बचाव के लिए करती है।' अतः भारतीय सामाजिक संरचना और हिन्दू धर्म की बहुलता तथा उसकी मान्यताओं के कारण पितृसत्ता का दबदबा पूरे समाज में व्याप्त है। भारत की विभिन्न भाषाओं में आयी दलित आत्मकथाओं से यह भली-भांति ज्ञात हो जाता है कि दलित स्त्री सही मायनों में कितनी स्वतन्त्र है ? कुछ दलित पुरुषों द्वारा यह मानना कि दलित घरों में पितृसत्ता मौजूद नहीं है यह उनमें व्याप्त अंहकार को तो दर्शाता ही है साथ ही साथ दलित महिलाओं के साथ अपने पुरुषों द्वारा किये गये लैंगिक शोषण से आंख मूंद लेना भी है। यह उनकी नासमझी नहीं है बल्कि जीती-जागती सच्चाई से साफ़ इन्कार करना है। जबकि डॉ.तेज सिंह जैसे अम्बेडकरवादी आलोचक भी दलित पितृसत्ता की मौजूदगी को

[260] उमा चक्रवर्ती: जाति समाज में पितृसत्ता, अनु.विजय कुमार झा, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, 2011 नई दिल्ली, पेज नं.42

अस्वीकार करते हैं और कहते हैं कि 'दलित समाज पितृसत्ता विहीन और जेण्डर-विभेद से मुक्त समाज है।'

दलित पुरुष और दलित स्त्री में जाति, वर्ग और जेण्डर को लेकर जो वैचारिक मतभेद और अंतर्विरोध दिखता है उसका चरित्र शत्रुगत है क्योंकि जेण्डर का सवाल दलित पुरुष के यहां मुख्य नहीं है जितना दलित स्त्रियों के यहां है। इस संबंध में युवा आलोचक कवितेन्द्र इन्दु लिखते हैं कि-"जाति, वर्ग और जेंडर की समस्याओं पर जारी इन विमर्शों का अलगाव व शत्रुतापूर्ण रवैया ही दलित स्त्रीवाद जैसे किसी दृष्टिकोण की ऐतिहासिक अनिवार्यता उपस्थित करता है। बशर्ते वह इस जटिल तंत्र को समझने और उससे संघर्ष करने का कार्यभार अपने कंधों पर लेने को तैयार हो। नि:संदेह यह बहुत बड़ी अपेक्षा है ; एक ऐसी अपेक्षा है जिसे अभी तक कोई विमर्श पूरा नहीं कर सका है। इसके आगे वे लिखते हैं कि "खासतौर पर जाति और जेंडर के साझेपन को लेकर सचेत दलित-स्त्रीवादी जब कभी इस ढंग से सोचना शुरू करते हैं कि जातिगत और जेंडरगत शोषण में से कौन बड़ा है और कौन छोटा, किससे पहले लड़े और किससे बाद में; तो खासी उलझन होती है। यह उन्हें मौजूदा विमर्शों में से किसी एक की मान्यताओं को अपना लेने की ओर धकेल देता है। विशिष्ट घटनाओं और परिस्थितियों के प्रसंग में स्थितियां ही निर्धारित करती हैं कि वहां बड़ी लड़ाई किससे है या मुख्य शत्रु कौन सी ताकतें हैं। लेकिन सैद्धान्तिक तौर पर किसी को छोटा या बड़ा मान लेना हिन्दू पितृसत्ता को समझने के रास्ते में गंभीर बाधाएं पैदा कर सकता है। यह बात भली-भांति जान लेना चाहिए कि जाति कभी भी पितृसत्ता के बिना अस्तित्वमान नहीं रहा है, इसलिए पितृसत्ता जाति का अविभाज्य चरित्र है।"[261]

इस प्रकार भारतीय सामाजिक संरचना में दलित स्त्री दलितों में भी दलित है जिसके कारण वह तिहरा संघर्ष झेलती है। उमाचक्रवर्ती पितृसत्ता की विद्रूपता के विषय में लिखती हैं "ब्राह्मणवादी पितृसत्ता' वस्तुतः नियमों और संस्थानों का ऐसा पुंज है जिसमें जाति और लिंग एक दूसरे से गुंथे हुए हैं, वे एक-दूसरे का स्वरूप तय करते हैं और जिसमें स्त्री जातियों के बीच का विभाजन बनाए रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है। इसने ऐसे कायदे बना रखे हैं कि सीमाबद्ध विवाह वृत्तों की पदानुक्रमता का उल्लंघन हुए बिना जाति व्यवस्था का पुनरोत्पादन होता रहे। इसके साथ ही, स्त्रियों

[261] यथास्थिति से टकराते हुए-दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, पेज नं.150

के लिए प्रस्तावित ब्राह्मणवादी कायदे जातियों के सापेक्ष हैं यानी जातियों के पदानुक्रम में किसी जाति की जो स्थिति है और उससे उसकी जो हैसियत बनती है उसी के अनुसार उसके स्त्रियों के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता ने कायदे निश्चित कर रखे हैं। इसमें स्त्रियों की यौनिकता पर कठोर नियंत्रण का अधिकार ऊंची जातियों के पास है। यह पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों का महिमामंडन करता है और नियमों और संस्थानों के माध्यम से सहमति अथवा दमन के आधार पर जाति की पदानुक्रमता और लिंग-असमानता बनाए रखता है।' 'निम्न जातियां पदानुक्रम में ऊपर उठने की ओर रुख करने के लिए अकसर इन कायदों का अनुसरण करना शुरू कर देती हैं। इस तरह ऊपर उठने को तत्पर निम्न जातियों की नजरें यह नहीं देख पाईं कि ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के जाति व्यवस्था से आबद्ध होने के कारण, ऊंची और निचली जातियों की स्त्रियों के लिए, विवाह और यौनिकता से संबंधित अलग-अलग कायदों का ऊंची जातियों द्वारा निम्न जातियों के श्रम के दोहन से गहरा संबंध है।'[262]

जाति, लिंग, वर्ग के आधार पर होने वाले उत्पीड़न को दलित स्त्री अकेले सहती है इसलिए इसमें कोई दो राय नहीं है कि दलित स्त्री रचनाकार अपनी प्रत्येक रचनाओं में जातिगत, वर्गगत और लैंगिक शोषण के तमाम कारणों को अभिव्यक्त करती हैं। दूसरे वर्णों और वर्गों के पुरुष की तरह ही दलित भी अपने घर-परिवार में स्त्री के साथ लगभग वैसा ही सलूक करते हैं जैसा दूसरे वर्ण-जाति, वर्ग के पुरुष अपनी स्त्रियों के साथ करते हैं। भले ही दलित पुरुष पितृसत्तात्मक दबदबे के चलते इस बात से इन्कार करते हों कि दलित घरों में पितृसत्ता नहीं है और दलित स्त्री चूंकि स्वतन्त्र है इस वज़ह से उसका शोषण नहीं होता है...किन्तु दलित स्त्री लेखन पूरी मजबूती और सच्चाई के साथ अपनी लेखनी में दलित पुरुषों के अत्याचार के दंश को उद्घाटित करता है। अतः जेण्डर के सवाल पर दलित पुरुषों का मौन इस बात की पुष्टि करता है कि पितृसत्ता को बनाये रखने में उनकी भी अहम भूमिका है।

[262] उमा चक्रवर्ती, जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, पेज नं.41

4.7 दलित स्त्रियाँ दलित पुरुषों के ख़िलाफ़ हैं : आरोप-प्रत्यारोप

'तुमने बनाकर रख दिया आश्रिता मात्र

और मैं

गाती रही गीत

पिता की जमींदारी के

भ्राता और पति की मजबूती के'....-रजत रानी मीनू[263]

जब दलित स्त्री अपने शोषण के ख़िलाफ़ मुहिम छेड़ती है तो उस पर अनेक आरोप मढ़े जाते हैं। दलित समाज में दलित पुरुषों द्वारा उत्पीड़न का रेखांकन जब दलित स्त्री अपने लेखन में करती है तो उस पूरे लेखन को ही दरकिनार करने की बात की जाती है और दलित स्त्रियों के विषय में ऐसा प्रचारित किया जाता है कि दलित स्त्रियाँ दलित पुरुषों के ख़िलाफ़ हैं। कुछ दलित लेखक ऐसी दलीलें भी देने लगते हैं कि दलित लेखिकाओं का मक़सद दलित साहित्य को ख़ारिज करके दलित नारीवाद की स्थापना करना है। कुछ दलित लेखकों का मानना है कि दलित स्त्रियों को दलितों में दलित मानकर उनसे सहानुभूति की भावना रखी जाती है। इसमें किसी भी प्रकार की बुराई नहीं है। लेकिन ऐसा करते हुए कभी-कभी दलित स्त्रियों को दलित पुरुष के ख़िलाफ़ खड़ा किया जाता है। ग़ौरतलब है कि दलित पुरुष को दलित स्त्रियों के बड़े दुश्मन के रूप में बताया जा रहा है। इसी मानसिकता के शिकार श्यौराज सिंह बेचैन ऐसी दलित स्त्रियों के बारे में लिखते हैं.."गैर-दलित स्त्री-पुरुषों के इशारे पर कुछ दलित महिलाएं अपने दलित पुरुषों पर हमले कर रही हैं। न केवल सामान्य स्थिति में बल्कि दलित समाज में शीर्ष बुद्धिजीवियों को उनकी अशक्त महिलाओं को बरगलाकर, उनके घरों में झगड़े करा कर जमालो बनी खड़ी गैर-दलितों की जमात दलितों का सिर और दलितों का जूता कर रही हैं। यह नौबत क्यों आयी है ?[264] वे आगे लिखते हैं कि..'ऐसे में दलित स्त्री अपनी और अपने पुरुषों की दासता से मुक्ति

[263] रजत रानी मीनू (2017) 'पिता भी होते हैं माँ' काव्य संग्रह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

[264] श्यौराज सिंह बेचैन: स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका,पेज नं.8

के लिए रचनात्मक स्तर पर क्या योगदान कर सकती है ?"[265] यह स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है कि दलित साहित्य में दलित स्त्री की छवि को लगभग धूमिल रूप में प्रचारित-प्रसारित ही किया गया है। दलित स्त्री विमर्श आने के बाद उन पर नैतिकता, उनके जीवन-स्तर और उनकी निजी ज़िन्दगियों को लेकर और अधिक कटाक्ष किया गया है।

जहां तक दलित स्त्रियों को दलित पुरुष के दुश्मन के रूप में देखने वाली बात है तो मेरा यह कहना है कि दलित साहित्य में कुछ ही दलित लेखक हैं जिन्होंने ऐसी गलत धारणा विकसित कर ली है। वे किसी भी रूप में दलित स्त्री को स्वतन्त्र प्राणी के रूप में देखना नहीं चाहते। उन्हें ऐसा लगता है कि यदि उत्पीड़ित दलित स्त्री उनके प्रभाव से मुक्त हो जायेगी तो अपने अधिकारों की माँग करने लगेगी। भारतीय हिन्दू समाज की यह वास्तविकता है कि आज़ाद भारत हो या गुलाम, दलित स्त्री-पुरुष दोनों ही गुलाम थे। लेकिन जैसे ही अस्मितामूलक विमर्शों की शुरुआत हुई वहां सबसे पहले दलित पुरुषों ने अपनी मुक्ति को सबसे बड़े सवाल के रूप में देखा। दलित स्त्रियों की मुक्ति की चिन्ता उन्हें नहीं थी। आज जब दलित स्त्री अपनी मुक्ति को लेकर संघर्ष कर रही है तो दलित पुरुषों को दलित स्त्री अपने शत्रु के रूप में नज़र आती है। इस संबंध में मैनेजर पाण्डेय कहते हैं कि "जहां तक दलित पुरुषों और स्त्रियों की मुक्ति का सवाल है तो इस संदर्भ में मैं इतना कहना चाहूंगा कि दलित स्त्रियों की मुक्ति की बात करने का यह अर्थ नहीं है कि उन्हें दलित पुरुषों से मुक्त किया जाय। इसका आशय यह है कि उसे पुरुष के प्रभुत्व से मुक्त किया जाए। इसलिए दलित स्त्रियों की 'मुक्ति की बात को' दलित पुरुषों के विरुद्ध साज़िश के रूप में देखना मुझे ठीक नहीं लगता। मुझे यह भी लगता है कि दलित स्त्रियों की मुक्ति तब तक संभव नहीं जब तक कि दलित समुदाय मुक्त नहीं होगा।"[266] दलित स्त्रियाँ अपनी मुक्ति के साथ-साथ सभी की मुक्ति की बात करती हैं इसलिए उन्हें दलित पुरुषों को उनके दुश्मन के रूप में देखने की जो बात है यह उनके ख़िलाफ़ बड़ी साज़िश को दर्शाता है।

---

[265] वही, पेज नं.8

[266] अपेक्षा, जुलाई-दिसंबर, 2011, पेज नं.100

4.8 अंतरजातीय विवाह : दलित पुरुष बनाम दलित स्त्री

भारतीय समाज में पारंपरिक विवाह को समुचित मान्यता मिली हुई है । इसके अनुसार किसी भी जाति के लड़के-लड़की को उसी परंपरा का निर्वाह करने के लिए अपनी-अपनी जातियों में विवाह करना अनिवार्य है । 'सजातीय विवाह, जिस पर जाति व्यवस्था का ढांचा टिका है, की रीति की निरंतरता विवाह के इसी रूप पर आधारित है । इस तरह के एक उचित विवाह के लिए वर और वधू का एक ही जाति / उपजाति लेकिन भिन्न गोत्र (विवाह वृत्त) से होना ज़रूरी है ।'[267] समाज में सजातीय विवाह को लेकर जितनी आसानी है उसके इतर अंतरजातीय विवाह को सामाजिक मान्यता नहीं है । उमा चक्रवर्ती सजातीय विवाह और जाति व्यवस्था के अटूट संबंध के विषय में लिखती हैं.."सजातीय विवाह यानी अपनी ही जाति के दायरे में विवाह संबंध कायम करने के नियम की बुनियाद पर जाति व्यवस्था का ढांचा खड़ा है । जाति और लिंग आधारित स्तरीकरणों की निरंतरता के बने रहने में सजातीय विवाह की भूमिका औजार की है ।''[65] समाजशास्त्रीय अध्ययन के अनुसार सजातीय विवाह एक जाति से दूसरी जाति के मध्य अन्तर को स्थापित करने का महत्वपूर्ण काम करता है ।"[268] इसीलिए बाबासाहेब अम्बेडकर ने जाति तोड़ने का कामगार उपाय अंतरजातीय विवाह बताया था । वे स्त्री को जातिभेद तोड़ने में अग्रणी मानते थे । उनके अनुसार अन्तरजातीय विवाह द्वारा वर्ण-व्यवस्था को भंग करना, अन्तरजातीय विवाह से जाति का स्थापित ढांचा तोड़ना, स्त्री के बाएं हाथ का काम है । बाबासाहेब अम्बेडकर का मत है कि 'केवल रोटी व्यवहार से जातिभेद का उन्मूलन नहीं होगा । क्योंकि रोटी व्यवहार शुरू होकर भी बेटी व्यवहार का भेद बचा रहता है । जाति रूपी वृक्ष का परिपोषण ही रहता है अगर जातिभेद की इमारत ध्वस्त करनी हो तो सर्वप्रथम बेटी (व्यवस्था) समाप्त करनी चाहिए ।"[269]

---

[267] उमाचक्रवर्ती : जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, पेज नं.35

[268] समाजशास्त्रियों ने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि किसी जाति की पहचान शेष अन्य जातियों से उसकी भिन्नता से तय होती है । इसके लिए जरुरी है कि जातियां जुदा रहें, जिसे सजातीय विवाह संभव करता है ।' सजातीय विवाह खास उत्पादन संबंधों के प्रसार को संभव करने के साथ-साथ जाति व्यवस्था को इस हद तक लचीलापन प्रदान करता है कि प्राक्-जाति समुदाय (वे समुदाय जो जाति व्यवस्था के दायरे से बाहर हों) अपनी सांस्कृतिक खासियतों के साथ इसके दायरे में समाविष्ट किए जा सकें । इन सब कारणों, खासकर समूह (जाति/उपजाति) अलग-अलग चौखटे में बने रहें । इसके लिए स्त्री यौनिकता की तरजीह दिए जाने की वजह से सजातीय विवाह खुद अपने सूक्ष्म पड़ताल की जरूरत उत्पन्न करता है । वैसे भी भारतीय विवाह व्यवस्था में सजातीय विवाह को प्राथमिक तत्व माना जाता है ।' (चक्रवर्ती, उमा: जाति समाज में पितृसत्ता, ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, पेज नं.35)

[269] श्यौराज सिंह बेचैन: स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, पेज नं.68

डॉ.अम्बेडकर अंतरजातीय विवाह पर बल आदर्श स्थापित करने के लिए नहीं देते हैं बल्कि जातिप्रथा को समाप्त करने के लिए करते हैं । उनका मानना था कि अंतरजातीय विवाह तभी सफल होगा जब लोग शास्त्रसम्मत मान्यताओं और आडम्बरों से मुक्त होंगे .."रोटी-बेटी के संबंध के लिए आंदोलन करना और उनका आयोजन करना कृत्रिम साधनों से किए जाने वाले बलात् भोजन कराने के समान है । प्रत्येक पुरुष और स्त्री को शास्त्रों के बंधन से मुक्त कराइए, शास्त्रों द्वारा प्रतिष्ठापित हानिकर धारणाओं से उनके मस्तिष्क का पिंड छुड़ाइए, फिर देखिए, वह आपके कहे बिना अपने आप अंतरजातीय खान-पान तथा अंतरजातीय विवाह का अयोजन करेगा/ करेगी ।"[270] बाबासाहेब ने सामाजिक विषमता का दंश झेला था और वे नहीं चाहते थे कि जातिव्यवस्था जीवनपर्यन्त बनी रहे क्योंकि सबसे ज़्यादा इस जातिगत भेदभाव का अगर किसी को सामना करना पड़ेगा तो वे केवल दलित होंगे । इसलिए उन्होंने समाज में अंतरजातीय विवाह पर जोर दिया । किन्तु कुछ दलित लेखक इस बात से इनकार करते हैं कि दलितों को अंतरजातीय विवाह नहीं करने चाहिए । वो इसमें नफ़ा-नुक़सान देखते हैं कि किस वर्ग-वर्ण को अंतरजातीय विवाह करने से कितना फ़ायदा और नुक़सान होता है । श्यौराज सिंह बेचैन की चिन्ता इस बात से है कि कुछ दलित स्त्रियों ने गैर-दलित पुरुषों से शादी करके दलित समाज की एकता को तोड़ने का काम किया है । दलित लेखिकाओं पर आरोप लगाते हुए श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं कि "अधिकांश दलित लेखिकाओं के विवाह-शादियां परंपरागत ढंग से हुए हैं । उन्होंने निजी जीवन में दहेज और दिखावा दोनों को अपनाया है । वे कर्मकाण्डों में डूबी रही हैं । उनमें कुछ तो जाति तोड़ने के मुग़ालते में गैर-दलितों में से नालायक को हमसफर बन दलितों में उनकी एकता तोड़ने को लौटती हैं ।'[271] श्यौराज सिंह बेचैन धर्मवीर जी के दलित सिविल कानून का समर्थन करते हुए लिखते हैं 'विवाह-विमर्श दलित स्त्री विमर्श का मुख्य बिन्दु है । इसी से सांस्कृतिक और सामाजिक दिशा तय होनी है । इस संदर्भ में दलित सिविल कानून (डॉ.धर्मवीर) पर विचार किया जाना चाहिए ।' वे आगे लिखते हैं कि "दलित स्त्री का पराश्रित चिंतन दलित स्त्री-विमर्श के लिए अभिशप्त है । अब कुछ दलित स्त्रियाँ गैर-दलित पुरुषों से शादी कर चुकी हैं अच्छी बात है । जाति तोड़ने का एक अधूरा सपना यह भी है कि

---

[270] बाबासाहेब अम्बेडकर संपूर्ण वाड्मय' भाग-1, जाति प्रथा-उन्मूलन में संग्रहीत लाहौर जातपांत तोड़क मंडल 1936 के वार्षिक सम्मेलन के लिए तैयार किए गए भाषण से उद्धृत, डॉ.अम्बेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली 2003, पेज नं.108

[271] श्यौराज सिंह बेचैन, स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, पेज नं.3

अन्तरजातीय विवाह हो। पर देखना यह है कि दलित स्त्री अपनी उपजाति में कितनी एकता लाती है।"[272] यहां श्यौराज सिंह बेचैन अंतरजातीय विवाह को जाति तोड़ने के लिए अधूरे सपने के रूप में देखते हैं'। यह विडम्बना ही है कि डॉ.अम्बेडकर की विचारधारा को किस तरह से कुछ दलित लेखक ग़लत रूप में व्याख्यायित करते हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि सजातीय विवाह का फ़ैसला हमेशा से पुरुषों के ही हाथों में रहा है। महिलाओं को यह अधिकार ही नहीं था कि वे इस विषय में कुछ बोल सकें या कोई निर्णय ले पायें। जाति के बाड़े के अन्दर यदि कोई व्यक्ति शादी करता है तो सब उचित था किन्तु जाति के बाहर यदि कोई शादी करता है तो उसके लिए विशेष दण्ड का भी प्रावधान है। उदाहरण के लिए समाज से निष्कासन, समाज को भोज देना भले ही उसकी आर्थिक स्थिति बहुत कमजोर हो। इस संबंध में उमा चक्रवर्ती उचित लिखती हैं "सजातीय विवाह पर ही जाति व्यवस्था के टिके होने के कारण इसका उल्लंघन करने वाले के लिए जाति या बिरादरी से बाहर निकालने जैसे सजा का प्रावधान है। दंडित करने का अधिकार विवाह वृत्त के पास रहा है। आरंभ में यह अधिकार विधिसम्मत था लेकिन धीरे-धीरे इसने स्वाभाविक रूप अख़्तियार कर लिया। प्रत्येक विवाह वृत्त को अपने सदस्यों पर हदें तय करने का अधिकार प्राप्त है। वैसे तो प्रत्येक विवाह वृत्त का अपना स्वतन्त्र नेतृत्व, अपने नियम-कायदे हैं लेकिन वास्तव में इलाके की वर्चस्वशाली जाति ही अकसर सभी विवाह-वृत्तों का आंतरिक व्यवहार तय करती रही है। किसी जाति का सामाजिक सम्मान उसके आंतरिक व्यवहार की शुद्धता पर निर्भर करता रहा है। उल्लंघन करने वालों को जाति से बाहर निकालने का दंड देने की अधिकारी इकाई अत्यधिक लैंगिक रही है यानी इसमें महिलाओं की भागीदारी नहीं रही है।"[273] दलितों में शिक्षा का प्रसार होने से ये मान्यताएं कहीं-कहीं कमजोर हुई हैं किन्तु गांवों में आज भी वैसी ही स्थिति है। कमजोर वर्ग और वर्ण पर इसकी मार ज़्यादा पड़ती है और उन्हें इन नियमों का पालन करना पड़ता है।

ग़ौरतलब है कि डॉ.अम्बेडकर दलित आंदोलन में दलित महिलाओं की भागीदारी को अनिवार्य मानते थे, इसलिए उन्होंने बड़े स्तर पर दलित महिलाओं को अपने आंदोलन में शामिल भी किया था।

---

[272] वही पेज नं.3

[273] उमाचक्रवर्ती : जाति समाज में पितृसत्ता, पेज नं.40

डॉ.अम्बेडकर के नेतृत्व में चलाया गया दलित आंदोलन जिस स्वतन्त्रता, समानता और बंधुत्व तथा मानवता पर टिका हुआ था, वह उनके बाद उन्हीं मूल्यों को तोड़ता हुआ नज़र आता है। दलित स्त्रियों के साथ दलित पुरुषों का जो रवैया है उससे इसे समझा जा सकता है। धर्मवीर दलित स्त्रियों और गैर-दलित पुरुषों के संबंध को नाजायज मानते हैं। यदि दलित स्त्री अपनी सहमति से गैर-दलित पुरुष से अंतर्जातीय विवाह करती है या उससे प्रेम करती है तो ऐसी दलित स्त्रियों पर धर्मवीर नियंत्रण की बात करते हैं। उनके एजेंडे में पहली प्राथमिकता 'पर-पुरुषों' से दलित स्त्री की 'रक्षा' के लिए घरों के भीतर पुरुष-राज की स्थापना और स्त्रियों पर नियंत्रण है। वे लिखते हैं.."दलितों को दूसरी कौमों से संघर्ष से पहले अपने घरों को ज़रूर देखना है। आखिर दलित जातियां दूसरी जातियों से मुक्ति किस-किस रूप में प्राप्त करना चाहती हैं ? दूसरी जातियों के पुरुषों से अपनी बहू-बेटियों की रक्षा की बात बहुत ज़रूरी है। पर तब क्या किया जाये जब इनकी बहू-बेटियां खुद दूसरी जातियों के साथ भागना चाहती हों ? इसी दूसरी बात के लिए दलित स्त्रियों पर नियंत्रण रखना ज़रूरी है। दलित एक जाति के रूप में अब तक इस काम में चूकते रहे हैं। इसी से इनकी औरतें स्वतन्त्र होने की बजाय उच्छृंखल हो जाती हैं। वे परपुरुषों के साथ व्यभिचार कर बैठती हैं।"[274] स्पष्ट है कि धर्मवीर के यहां स्त्री का जीवन और उसका शरीर समुदाय की ऐसी संपत्ति है जिसका निर्णय लेने का अधिकार उस स्त्री को नहीं बल्कि समुदाय (जाति) को होना चाहिए।

श्यौराज सिंह बेचैन की सबसे बड़ी चिन्ता इस बात से है कि श्रेष्ठ, पढ़ी-लिखी दलित लड़कियां नालायक और कमजोर सवर्णों के यहां पलायन कर रही हैं। इससे उन्हें दलित समाज के लिए खतरा नज़र आता है। वे लिखते हैं,. "यह खतरा प्रामाणिक भी है कि लायक दलित लड़की को नालायक गैर-दलित अपनी बहू बनाएगा वह कमेरी कमाएगी और वह निकम्मा बैठकर खाएगा और उस दलित स्त्री को अपने स्वजाति भाइयों से लड़ाएगा। बड़ी समस्या है कि वह ठाकुर ब्राह्मण से शादी करके भी कहीं रखैल बनकर न रह जाए। कहीं वह पहचानी अछूत नीच चमारिन-भंगिन के रूप में ही समझी जाती हो ? तो क्या किया जाए ?"[275] इसके उलट उन्होंने दलित स्त्रियों के टीका-टिप्पणी पर भी पलटवार

[274] सं.राजकिशोर (1997) हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.153

[275] श्यौराज सिंह बेचैन: स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, पेज नं.5

किया है। श्यौराज सिंह जी के इस टिप्पणी कि 'दलित स्त्री विवाह के बाद दलित पुरुष को तबाह कर दे तो स्त्री-स्त्री के वर्ण भेद का क्या मतलब?' उनके नकारात्मक विचार सभी दलित स्त्रियों पर मढ़ दिए जाते हैं। यहां ऐसा प्रतीत होता है कि दलित स्त्रियाँ घर-फोड़ू होती हैं। कम से कम जिस दलित आंदोलन की नींव को मजबूती की ज़रुरत हो वहां इस तरह की टीका-टिप्पणी से बचना चाहिए।

आलोचक धर्मवीर अनिता भारती के गैर-दलित से शादी करने के पक्ष में नहीं थे। अनिता भारती के अंतरजातीय विवाह करने और उनके द्वारा जाति को तोड़ने के विरुद्ध धर्मवीर लिखते हैं.."उन्हें पता होना चाहिए कि दलित पुरुषों के द्विजों के गुलाम होने की वज़ह से सेक्स के मामले में हर दलित स्त्री की जात पहले से ही टूटी हुई है। अनिता भारती दलित पुरुषों से अलग क्या चाहती हैं ? दलित स्त्रियों को रखैल, वेश्या और देवदासी बना कर यौन मामलों में उन की जात पूरी तरह तोड़ दी गई है। इसलिए, ऐसी सोच की स्त्री यदि अपने अधिकारों के लिए लड़ना चाहती है तो गैर-दलितों से लड़े। रखैल के रूप में अधिकार माँगे, वेश्या के रूप में अपने दाम बढ़वाए और देवदासी के रूप में पुजारी की सम्पत्ति में हाथ मारे-यहां दलित पुरुष के पास क्या रखा है ?"[276] इन तथ्यों से ज़ाहिर होता है कि दलित पुरुष सवर्ण पुरूषों को अन्य मानते हैं। दलित पुरुषों के यहां स्त्री को देखने का जो नज़रिया है वे उसे स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में नहीं देखते हैं। वे स्त्री को समुदाय (जाति) की एक ऐसी प्रोपर्टी के रूप में देखते हैं जो छिन सकती है। उसे एक ऐसे सदस्य के रूप में देखते हैं जो गद्दारी भी कर सकती है, भले वह अपना सदस्य हो लेकिन वह गद्दारी कर सकता है, जिसकी निष्ठा सन्देह से परे नहीं है, उनका मानना है कि ऐसी स्त्रियों को नियन्त्रण में रखना चाहिए।

उपर्युक्त निष्कर्षों के आधार पर इन आलोचकों द्वारा दलित स्त्री पर इस तरह के आरोप लगाने से डॉ.अम्बेडकर के दर्शन पर आधारित दलित विमर्श की सैद्धान्तिकी कहीं-कहीं उससे भटकती नज़र आती है। यह इन लेखकों का अपना पक्ष हो सकता है क्योंकि दलित साहित्य को डॉ.अम्बेडकर के सिद्धान्त, दर्शन तथा चेतना से अलग करके नहीं देखा जा सकता है।

[276] धर्मवीर- प्रेमचन्द : सामंत का मुंशी, पेज नं.66-67

4.9 डॉ.धर्मवीर का चिन्तन और दलित स्त्री

"पतिबरता को सुख घना, जाके पति है एक ।

मन मैली बिभिचारिनी, जाके खसम अनेक॥

पतिबरता मैली भली, काली, कुचिल कुरूप ।

पतिबरता के रूप पर, वारौं कोटि सरूप ॥'277----------कबीर

कबीर का यह पद धर्मवीर द्वारा दलित स्त्रियों पर लगाये गये आरोप कि वे 'व्यभिचारिणी' होती हैं उसको पुख़्ता करते नज़र आते हैं ।

डॉ.धर्मवीर हिन्दी दलित आलोचना में एक बड़ा नाम है । धर्मवीर ने 'हिन्दी की आत्मा' और 'कबीर की खोज' जैसी पुस्तकें लिखकर हिन्दी आलोचना जगत में महत्वपूर्ण काम किया । वे हिन्दी आलोचना के विकास में अपनी मौलिक दृष्टि के कारण खूब सराहे गये । 1989 में प्रकाशित पुस्तक 'हिन्दी की आत्मा' उनकी गंभीर अंतर्दृष्टि-और दूरदर्शिता का प्रमाण है । अपनी मौलिक स्थापनाओं से उन्होंने आलोचना जगत को बड़ा और नया योगदान दिया । इस पुस्तक में धर्मवीर ने नई स्थापनाएं दी कि 'किस प्रकार संस्कृत भाषा केवल शूद्रों के लिए ही नहीं बल्कि स्त्रियों के लिए भी दमनकारी थी ।' उन्होंने अपनी प्रारम्भिक पुस्तकों से जितना नाम कमाया उतना ही उन्हें बाद के लेखन खास तौर से अपने लेख 'हिन्दू विवाह की तानाशाही' में दलित स्त्रियों पर की गयी अशोभनीय टिप्पणियों के कारण कड़ी आलोचना भी सुननी पड़ी ।

धर्मवीर जिस कारण सबसे ज़्यादा विवादित रहे हैं वह समूची दलित स्त्री के चरित्र पर उंगली उठाना था । दलित स्त्री के विषय में उनके विचारों की एक बानगी देखिए-"औरत के निठल्लेपन से सभ्यता और समाज का दम घुट रहा है।"[278] धर्मवीर आगे लिखते हैं कि पुरुष बड़ी मेहनत से घर बसाता है "लेकिन वह औरत जब जी चाहे, वेश्या बन कर उसके बसे-बसाये घर को उजाड़ देती है । क्योंकि औरत खाली है, इसलिए उसे सेक्स नहीं, चौबीस घंटे सेक्स की बकवास चाहिये ।'[279] इसके अतिरिक्त वे

---

[277] उद्धृत, चांद. अछूत अंक, सं.पं.नन्दकिशोर तिवारी, राधाकृष्ण प्रकाशन 1927, पेज नं.33

[278] सं.राजकिशोर, स्त्री के लिए जगह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994, पेज नं.85

[279] वही, पेज नं.86

स्त्री में अत्यधिक चारित्रिक दोष निकालते हैं-"धरती की वह इतनी कमजोर मादा है कि अकेली रह नहीं सकती । वह अपना पेट भरना नहीं जानती तो दूसरों का क्या भरेगी ?"[280] धर्मवीर ने मातृसत्ता, पितृसत्ता के अतिरिक्त जारसत्ता की खोज के लिए अपने आपको बहुत सराहा । दलित स्त्री बनाम धर्मवीर का जो जार प्रकरण है वह अधिक विचारणीय है क्योंकि धर्मवीर जैसे दलित आलोचक समस्त स्त्री जाति को लांछित करते हैं । धर्मवीर ने दलित स्त्री पर चरित्रहीनता और उच्छृंखलता का आरोप लगाकर दलित स्त्री समाज पर कीचड़ उछालने की कोशिश की, जिससे यह विमर्श और भी तेज हो गया । आत्मसम्मान को ठेस पहुंचाने वाले दलित विमर्श ने दलित स्त्रियों के लिए एक मार्ग ही खोल दिया ।

दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श की जो धारा विकसित हुई वो अपनी स्वायत्तता, अपने अस्तित्व और अपनी अस्मिता के लिए खड़ी हुई । युवा आलोचक कवितेन्द्र इन्दु धर्मवीर के लेखन के विषय में अपने विचार रखते हुए कहते हैं..."उन्होंने बहुत आक्रामक अंदाज में इस माँग को सामने रखा कि किसी भी पति को किसी अन्य पुरुष की संतान को अपनी संतान के तौर पर पालने के लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए । 'दलितों का दर्शन क्या हो' से लेकर 'सामंत का मुंशी' तथा अपने परवर्ती लेखन में धर्मवीर का केन्द्रीय सरोकार इसी प्रश्न से रहा है ।"[281] ग़ौरतलब है कि धर्मवीर की आत्मकथा 'मेरी पत्नी और भेड़िया' दलितों की त्रासद जीवन और दलित समाज की समस्याओं का वर्णन न होकर उनके अपने निजी जीवन तथा परिवार की कथा है । उनकी इस आत्मकथा में उनके आईएएस अधिकारी और पत्नी तथा अपनी पत्नी का भाई के साथ संबंधों को लेकर जितना उल्लेख किया गया है, उतनी यह आत्मकथा दलित समाज के संघर्षों को उठाना ज़रूरी नहीं समझता । इस आत्मकथा में धर्मवीर के मन में अपनी पत्नी से उत्पन्न सन्तान के प्रति लगातार आंशका है कि क्या वे उनके अपने बच्चे हैं या फिर उनके छोटे भाई महीपाल के । इसी दुविधा को उन्होंने अपनी आत्मकथा का आधार बनाया है । यह आत्मकथा किसी दलित पुरुष के एकांगी पहलुओं का तो चित्रण करती है किन्तु दलित स्त्री के सभी सवालों को अनदेखा कर देती है । विशेष रूप से देखा जाय तो उनकी आत्मकथा 'मेरी पत्नी और भेड़िया' अपनी पत्नी तथा अपने छोटे भाई से संबंध को लेकर हुए उतार-चढ़ाव में 'जारकर्म' का सवाल

---

[280] वही, पेज नं.83

[281] कथादेश, अप्रैल 2017, पेज नं.73

ज़्यादा हावी है जो उनके लेखन में सबसे अधिक आता है और मेरी दृष्टि में यही एक कारण नज़र आता है कि उन्होंने इस विषय को आधार बनाकर कई पुस्तकें श्रृंखला के रूप में निकालीं। मेरे अनुसार पति-पत्नी के रिश्ते और उसमें आये खटाश उसके निजी जीवन का सबसे अहम हिस्सा होता है। हो सकता है कि धर्मवीर अपनी पत्नी 'रमेश' के इस व्यवहार से बहुत आहत हुए हों। निजी जीवन की किसी एक समस्या को उठाकर उसको अपने साहित्य का आधार बिन्दु बना लेना और अन्य रचनाकारों के निजी जीवन में इसी एक पहलू के लिए दोषी ठहराना कितना उचित है। कवितेन्द्र इन्दु लिखते हैं कि "धर्मवीर ने यह कोई झूठी समस्या नहीं उठाई, लेकिन उन्होंने यह समस्या दलित पुरुष तथा परिवार के दृष्टिकोण से उठाई, जिसमें पीड़ित स्त्री स्वयं अपराधी नज़र आने लगती है। उनकी दृष्टि में स्त्री की स्वयं कोई इयत्ता नहीं, वह समुदाय और परिवार की संपत्ति है। जाहिर है कि यह विशुद्ध रूप से पितृसत्तात्मक सोच है, इसलिए वे स्त्रियों पर नियंत्रण को ही इस समस्या के हल के रूप में देखते हैं।"[282]

वास्तविकता यह है कि धर्मवीर अपनी आलोचना दृष्टि को केवल जारकर्म तक ही सीमित रखकर आलोचना करते हैं। वे किसी भी साहित्य, लेखन में जारकर्म ढूंढने लगते हैं। उनके लिए हर लेखन में मोरेलिटी और नैतिकता का होना ज़रूरी है। दलित साहित्य के विषय में अपनी राय देते हुए धर्मवीर लिखते हैं कि "दलित साहित्य उसे ही कहा जाएगा जिस में पारिवारिक जीवन में तलाक़ की अनुमति हो, स्त्री के लिए भरण-पोषण पर रोक लगे तथा जारकर्मी को जारकर्म की जिम्मेदारी से नवाज़ा जाए।"[283] धर्मवीर पूरे के पूरे दलित साहित्य को जारकर्म तक सीमित रखकर उस पर नैतिकता का मुलम्मा चढ़ाना चाहते थे जबकि दलित साहित्य का कलेवर अत्यंत विस्तृत है जो बुद्ध, फुले, अम्बेडकर की चेतना से अपनी प्रेरणा ग्रहण करता है।

दलित लेखिका रजनी दिसोदिया धर्मवीर के जार प्रकरण और उनके जैसे दलित लेखकों पर चोट करते हुए लिखती हैं.."वर्तमान दौर के साहित्य, समाज और राजनीति में मठाधीश की भांति जबर्दस्त पैठ बनाए दलित साहित्यकार साहित्य, समाज और राजनीति में दलित नारी के उभार को

---

[282] वही, पेज नं.73

[283] धर्मवीर - प्रेमचन्द: सामंत का मुंशी, पेज नं.53

सहन नहीं कर पा रहे हैं। वे एक तरफ दलित साहित्य के चारों ओर सांप की तरह कुंडली मारकर बैठ गए हैं तो दूसरी ओर सामान्य दलित नारी को लेकर भी उन्होंने जारवाद का एक ऐसा मनगढंत फार्मूला गढ़ लिया है जिससे जो भी दलित नारी उनके मनुवादी पुरुषत्व को चुनौती देती नज़र आए, उसे वे सवर्ण पुरुषों की रखैल सिद्ध कर देते हैं। जारवादी फार्मूला एक मानसिक बीमारी के रूप में उन पर इस कदर हावी हो गया है जिसके दायरे में न केवल दलित नारियों और साहित्यिक नारी-चरित्रों को कसा जा रहा है बल्कि उनके अपने घर-परिवार भी इसी बीमारी से बजबजाने लगे हैं।"[284] धर्मवीर जैसे आलोचक भारतीय समाज के उस भयावह यथार्थ को नज़रअंदाज करने की कोशिश करते हैं जिसमें सबसे निचले स्तर पर सतायी गयी दलित स्त्री है। इसी भारतीय समाज में दलित पुरुष सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक शोषण सहता है वहीं एक दलित स्त्री समाज में दोयम दर्जे के कारण सामाजिक-आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक रूप से तो पिछड़ी हुई है साथ ही वह लैंगिक और यौनिक भेदभाव के आधार पर भी शोषण और उत्पीड़न को सहती है। रजनी दिसोदिया लिखती हैं कि "आज दलित नारी अपने ही समाज के पुरुषों से प्रश्न करती है कि जब हिन्दी साहित्य के इतिहास में पिछले डेढ़ दशक से विशेष चर्चा में आए दलित साहित्य की धारा अब जवान हो चुकी है तो इसमें स्त्री स्वर अभी भी अपने जन्म के मंगल गीत ही क्यों गा रहा है ? आज उन कारणों की जांच होनी चाहिए जिनके कारण दलित स्त्री के अनुभव अभी भी पर्याप्त मात्रा में सामने नहीं आ पा रहे हैं ? जिस प्रकार हिन्दी साहित्य के भीतर दलित साहित्य को प्रोत्साहित करने का काम कितने ही प्रगतिशील साहित्यकारों ने किया वैसा ही कोई प्रयास स्वयं दलित पुरुष लेखकों और आंदोलनकारियों ने दलित महिला लेखन के लिए क्यों नहीं किया ? और जब ऐसे प्रयास बाहरी समाज से हुए तो बिना अपनी स्त्री के दर्द को जाने समझे उस पर जारकर्म की थीसिस क्यों थोप दी गई ? "[285] पुरुष प्रधान समाज सदियों से स्त्री पर तरह-तरह के लांछन लगाता रहा है। धर्मवीर का दलित स्त्रियों के चरित्र पर आरोप लगाना कि वह व्यभिचारिणी होती हैं-यह मनु की उसी विचारधारा का अक्षरसः पालन करती नज़र आती हैं जहां स्त्री किसी भी पुरुष से व्यभिचार कर बैठती है। किन्तु प्राचीन काल से ही यह मनुवादी परंपरा

[284] अपेक्षा, जुलाई-दिसंबर 2009, पेज नं.57

[285] अपेक्षा, जुलाई-दिसंबर 2009, पेज नं.63

अभी तक चली आ रही है और धर्मवीर जैसे कुछ मनुवादी उसे आज यथास्थित ही बनाये रखना चाहते हैं।

पुरुष जगत स्त्री के शरीर को इतना संवेदनशील मानता है कि गाहे-बगाहे उसके चरित्र पर उंगली ज़रूर उठाता है। चूंकि यह नज़रिया सामन्तवादी, ब्राहमणवादी विचार को पोसने वाले लोगों का है। इस संबंध में जगदीश्वर चतुर्वेदी लिखते हैं-'स्त्री की स्वतंत्र गतिविधि या निजी पहलकदमी को नष्ट करने या हतोत्साहित करने का पहला लोकप्रिय पुंसवादी शस्त्र है स्त्री के चरित्र पर लांछन लगाना। स्त्री के चरित्र-हनन के जरिए जहां एक ओर स्त्रियों के बीच में दरार डालने में मदद मिलती है वहीं दूसरी ओर स्त्री की सामाजिक सक्रियता को बाधित किया जाता है। स्त्री की स्वतंत्र पहचान की पहली मुठभेड़ घर में और बाहर स्त्री के बारे में बनाए गए मानदंडों से होती है।'[286] त्रेतायुग में राम ने धोबी की सुनी हुई बातों के कारण सीता के चरित्र पर सन्देह करके उन्हें राजमहल से निष्कासित कर वन को भेज दिया। सीता की उपमा राम 'कुत्ते के जूठे घी' से देते हुए कहते हैं "अब सच्चरित्र या दुश्चरित्र जो भी हो मैथिली! मैं तुम्हारा उपभोग नहीं कर सकता। तुम कुत्ते के चाटे जूठे घी की तरह हो जिसका उपभोग सम्भव नहीं।"[287] आज भी भारत में कमोवेश पितृसत्तात्मक समाज द्वारा इसी परंपरा का पालन किया जा रहा है। श्रीधरम का यह वक्तव्य- 'स्त्री से बदला लेना सबसे आसान है। अगर वह तुम्हारी बात नहीं मानती है, तो तुम गांव या मुहल्ले के किसी आदमी के कान में कह दो बदचलन है। यह बात जंगल की आग की तरह फैल जाएगी और वह स्त्री किसी को मुंह दिखाने के काबिल नहीं रह जाएगी। दरअसल पितृसत्ता द्वारा बनाए गए मानदंड आज भी समाज में ज्यों के त्यों जड़ जमाए हुए हैं।' आज भी सत्य की पुष्टि करते हैं।

स्त्री–शोषण में धर्म और पितृसत्ता की सबसे बड़ी भूमिका रही है। मनु और ब्राह्मणवादी व्यवस्था धर्म तथा पितृसत्ता को पालने-पोषने में सहायक रहे हैं। दलित आलोचक धर्मवीर भी उसी परंपरा में शामिल होकर उसी ब्राह्मणवादी परंपरा को आगे बढ़ाना चाहते हैं। उनके द्वारा उत्पन्न किया गया शब्द 'जारकर्म' कोई नया शब्द नहीं है। हिन्दू धर्मग्रंथों और पुराणों को पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जाता

---

[286] जगदीश्वर चतुर्वेदी : स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.लिमिटेड), नई दिल्ली, 2000, पेज नं.203

[287] उद्धृत, श्रीधरम- स्त्री : संघर्ष और सृजन, वाल्मीकि रामायण, 3.257.13, पेज नं.18

है कि जारसत्ता या जारकर्म प्राचीन काल में हिन्दू देवताओं और राजा-महाराजाओं की ही देन है और इसको बढ़ावा देने में किसी स्त्री का नहीं पुरुष का ही हाथ रहा है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत हिन्दू देवगण अपने स्वार्थ और अपनी नपुंसकता को ढंकने के लिए अपनी पत्नी को पर-पुरुष के पास भेजने तक से नहीं हिचकते थे। उदाहरण के रूप में 'देवर-न्याय' या 'नियोग' प्रथा को देखा जा सकता है। नियोग[288] प्रथा जारकर्म की तरह ही थी किन्तु इसके लिए स्त्रियों को दोषी ठहराया जाता है जबकि इस प्रथा के पीछे पितृसत्ता रही है। मनु ने स्त्रियों के लिए बहुत ही कड़े नियम बनाये थे। वह स्त्री-जाति का सबसे बड़ा विरोधी था। मनु के इस कथन से हमें उसके विचारों के विषय में स्पष्ट जानकारी मिल जाती है-

"नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं या विरूपं वा पुमानिन्येव भुंजते ॥9,14

पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽसां भतुर्ष्वेता विकुर्वव ॥9,15

एवं स्वभावं ज्ञात्वाअपीह प्रजापति-निसर्गजम्'
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरूषो रक्षणं प्रति ॥9,16

अर्थ--ये स्त्रियाँ न तो रूप का विचार करती हैं, न इनके लिए आयु का ही कोई ठिकाना है, सुरूप अथवा कुरूप जैसा भी पुरुष-मात्र हो, उससे ही व्यभिचार कर बैठती हैं। पर पुरुष पर चलने वाली और चित्त की चंचलता तथा स्वभाव से ही स्नेह रहित होने से यत्नपूर्वक रक्षित स्त्रियाँ भी पति में विकार कर बैठती हैं। ब्रह्मा के सृष्टिकाल से ही साथ रहने वाला इस प्रकार का इनका स्वभाव जानकर पुरुष इनकी

---

[288] प्राचीन काल में 'नियोग' एक ऐसी प्रथा थी जिसमें पर-पुरुष गमन के बावजूद उसे धर्म-सम्मत माना जाता था क्योंकि इस कार्य के लिए आदेश देने वाला व्यक्ति स्वयं पति होता था। महाभारत में दो बार नियोग का उल्लेख मिलता है। पहली बार व्यास द्वारा धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर का जन्म होता है तथा दूसरी बार पांडु अपनी पत्नियों कुन्ती और माद्री से नियोग करवाता है। चूंकि नियोग में परपुरुष के साथ संभोग करना होता था इसलिए कुन्ती धर्म की दुहाई देती है और पांडु को अपने वीर्य से सन्तान उत्पन्न करने के लिए कहते हैं तो पांडु तत्काल धर्म को ताक पर रख देता है और कुन्ती को धर्मोपदेश देता है, यह सनातन धर्म है और स्त्रियों के लिए लाभप्रद भी।' अब चूंकि खुद पति व्यभिचार के लिए पत्नी से कहता है इसलिए यह धर्म के अनुरूप हो गया। लेकिन कुन्ती कर्ण की कथा पांडु से नहीं कह सकती क्योंकि यह धर्म की नज़र में पाप था। तात्पर्य यह कि धर्म का निर्माता पुरुष-वर्ग जो बोल दे वही धर्म है और पुरुष वही बोलते थे जिससे उसका स्वार्थ जुड़ा होता था।'"[48] (उद्धृत- श्रीधरम -स्त्री : संघर्ष और सृजन, अंतिका प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पेज नं.16)

रक्षा का परम यत्न करे ।"[289] मनुस्मृति में मनु ने स्त्रियों के लिए जिन सिद्धान्तों को लागू किया आज धर्मवीर द्वारा दलित स्त्रियों पर लगाये गये आरोप उसी का अनुकरण करते ही प्रतीत होते हैं।

इसी तरह महाभारत में धर्मराज माने जाने वाले युधिष्ठिर का स्त्री के विषय में विचार देखने योग्य है –"अग्नि लकड़ियों से, समुद्र नदियों से, यमराज मृतप्राणियों से और स्त्रियाँ पुरुषों से कभी तृप्त नहीं होती हैं। वह नई-नई घास चरने वाली गोओं की तरह नित नए पुरुष ढूंढती हैं।' उसके अनुसार स्त्रियाँ इतनी बुरी होती हैं कि, "यदि किसी पुरुष की सौ जिह्वाएं हों, वह सौ वर्षों तक जिए तथा उसे स्त्रियों के दोष बखान करने के सिवाय कोई दूसरा काम न हो, तो भी वह उनके दोषों को बिना कहे मर जाएगा।"[290] महाभारत के धर्मराज युधिष्ठिर का नैतिक कर्तव्य तो जग जाहिर ही है जो पति अपनी पत्नी को जुए में हार सकता है वह कितना बड़ा सामन्ती और धर्मभीरू होगा, इसको बतलाने की शायद ज़रूरत नहीं होगी। जिन स्त्रियों पर बुरे होने का आरोप युधिष्ठिर लगा रहे थे वह वास्तव में स्वयं कितना दम्भी हो सकता है यह तो इतिहास के पुनर्मूल्यांकन से पता ही चल गया है।

धर्मवीर दलित स्त्रियों पर आरोप लगाकर इन्हीं महापुरुषों की श्रेणी में अपना स्थान बनाना चाहते हैं। धर्मवीर के स्त्री चिन्तन पर रमणिका गुप्ता लिखती हैं कि -"जिस प्रकार डॉ.धर्मवीर ने स्त्रियों को कैद में रखकर उनसे हर अधिकार छीनने की बात कही है, उससे तो लगता है कि वे मनु से होड़ लगा रहे हैं। मनु सौ पवित्र स्त्रियों को भी एक पुरुष के बराबर नहीं मानते। हिन्दू धर्म के अनुसार कोई स्त्री स्वतन्त्र रह ही नहीं सकती। उसे किसी न किसी पुरुष पर आश्रित रहना ही होगा। इस्लाम दो स्त्रियों की गवाही को एक पुरुष के बराबर मानता है। डॉ.धर्मवीर सभी स्त्रियों को शंका के घेरे में डालकर मनुष्य का रूतबा देने से ही इंकार करते हैं। डी.एन.ए.टेस्ट करवाकर उसके गले में उम्र भर के लिए व्यभिचारिणी का तमगा बांध देना चाहते हैं।"[291] 'धर्मवीर की एक बड़ी समस्या यह है कि वे उन दलित पुरुषों का तो समर्थन करते हैं जो हिन्दू समाज में घुस कर जीविका और सम्मान प्राप्त करते हैं (इस बढ़ते हुए वर्ग में धर्मवीर खुद शामिल हैं), लेकिन दलित स्त्रियों को अपने जातीय बाड़े में बांध कर

---

[289] डॉ.बी.आर.अम्बेडकर : हिन्दू नारी का उत्थान और पतन, अनु.शीलप्रिय बौद्ध, सम्यक प्रकाशन, 2013, पेज नं 6-7

[290] उद्धृत, श्रीधरम- स्त्री : संघर्ष और स्वप्न, पेज नं.16-17

[291] सं.रमणिका गुप्ता : स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण, पेज नं.14

रखना चाहते हैं। वे दलित स्त्रियों को अपनी संपत्ति समझते हैं और उन्हें सवर्णों से मिलने-जुलने की इजाजत नहीं देते। धर्मवीर सवर्ण स्त्रियों की स्वतन्त्रता के हामी हैं (ताकि वे दूसरों के लिए भी सुलभ हो सकें), पर दलित स्त्रियों को सीमाबद्ध करना चाहते हैं ताकि वे गैर-दलित के साथ संबंध न बना सकें और सिर्फ दलितों के लिए सुलभ रहें।"[292]

डॉ.अम्बेडकर के हवाले से उपासना गौतम दलित स्त्रियों पर लगे आरोप को मिथ्या साबित करने का प्रयास करती हैं। वह प्रश्न करती हैं कि 'विशेष तौर पर समझने वाली बात यह है कि दलित स्त्रियों को ही क्यों केन्द्रित किया जाता है ? उनके ही चरित्र की धज्जियां क्यों उड़ाई जाती हैं ? कभी कोई उन्हें गैर-दलित मर्दों के साथ व्यभिचार करते हुए चित्रित करता है तो कभी कोई लेखक उन्हें नंगाकर उनके कपड़े खूंटी पर टंगवा देता है, उनकी सामाजिक व व्यक्तिगत अस्मिता को तार-तार कर के वे कौन सा मजा लूट रहें है ! अगर कोई दलित स्त्रियों के बारे में ही हठकर्मी से उपरोक्त प्रश्न का उत्तर चाहे तो मेरा सीधा उत्तर है कि दलित स्त्रियाँ गैर-दलित मर्दों के साथ व्यभिचार नहीं करतीं। इसका उदाहरण डॉ.अम्बेडकर का वह वक्तव्य है जो उन्होंने नागपुर दीक्षा के अवसर पर 14 अक्टूबर 1956 को दिया था। उन्होंने कहा था-"बम्बई में व्यभिचार करने का एक मोहल्ला है। वहां की स्त्रियाँ सुबह 8 बजे सोकर उठती हैं। सुबह सोकर उठते ही ईरानी होटलों में काम करने वाले मुसलमान लड़कों से कहती हैं- 'ओ सुलेमान एक प्लेट कीमा और रोटी खाती और चाय पीती हैं। पर हमारी औरतों को तो कीमा-रोटी खाने को नहीं मिलती, केवल सूखी रोटी और चटनी मिलती है, इसी पर वे सन्तुष्ट रहती हैं। वे यदि चाहें तो ऐसी बेइज्जती की ज़िन्दगी बिता सकती हैं। लेकिन उन्हें स्वाभिमान प्यारा है, इज्जत प्यारी है। मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है-इज्जत से रहना।" डॉ.अम्बेडकर का यह वक्तव्य उस समय का है जब दलित स्त्रियों की स्थिति शैक्षिक एवं आर्थिक स्तर पर अत्यधिक दयनीय थी।'[293] डॉ.अम्बेडकर अपने भाषण में दलित स्त्रियों के सम्मान भरी ज़िन्दगी के विषय में बताते हैं कि दलित समाज की महिलाएं 'हाड़तोड़' मेहनत करके भी आधे-पेट भोजन ही प्राप्त कर पाती हैं और कभी-कभी

---

[292] वही, पेज नं.161

[293] वही, लेख : उपासना गौतम-'दलित स्त्रियों पर ही व्यभिचार का आरोप क्यों ?' पेज नं.64

तो आंसू पीकर ही सो जाती हैं।' क्योंकि वे सम्मान के साथ जीना जानती हैं। इस तरह धर्मवीर का दलित स्त्री पर चारित्रिक आरोप लगाना उनकी मनगढ़न्त सोच को दर्शाती है।

मूलरूप से डॉ.धर्मवीर का जो स्त्री चिन्तन है उसे हम मनुस्मृति का विस्तार कह सकते हैं। धर्मवीर हिन्दूत्ववाद को पोसने में लगे हुए हैं इसीलिए वे अपनी जाति की दलित महिलाओं पर तमाम शिकंजे कसकर उन्हें नियंत्रित कर देना चाहते हैं। धर्मवीर के स्त्री चिन्तन पर सटीक टिप्पणी और उन्हें दो-टूक जवाब देते हुए डॉ.रामचन्द्र उचित ही लिखते हैं-"डॉ.धर्मवीर के चिन्तन में हिन्दुत्ववाद का सतत विकास दिखाई देता है। उनका सारा दर्शन हिन्दुत्ववाद की तर्ज पर चल रहा है-भले ही उसका नाम दलित धर्म हो। लेकिन वह काम हिन्दू धर्म का ही रहा है। जब-जब हिन्दू धर्म हारने लगता है तब-तब वह अपना अनुकूलित पुरुष दर्शन ढूंढ लेता है। धर्मांधता, जड़ता, वर्ण-व्यवस्था, शोषण, असमानता, अपमान और अन्याय के बरक्स चल रहे मुक्ति आंदोलनों के बीच ऐसे दर्शन चिन्तन की उपस्थिति का क्या अभिप्राय हो सकता है ? सन् 1994 से आज तक के सांस्कृतिक हलचल को, बल्कि पिछले 10 वर्ष के अंदर जिस तरह का हिन्दू पुनरुत्थान हुआ है, उसकी पूरी झलक धर्मवीर दर्शन में ढूंढी जा सकती है। फुले-अम्बेडकर का नकार, स्त्री स्वाधीनता का विरोध तथा बौद्ध विवेक का नकार उन्हें अंततः हिन्दुत्ववादी ही सिद्ध करता है। वैचारिक साम्य दिखाई देता है हिन्दुत्व और धर्मवीरत्व में। उनका पूरा मॉडल, उनका स्वर हिन्दुत्ववादी स्वर में गुंथा हुआ है। उनकी पुस्तकें/ लेख हिन्दुत्ववादी अराजकता की तरह ही अपनी बानगी पेश करती हैं।"[294] निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि डॉ.धर्मवीर स्त्री विरोधी हैं। उनका समूचा स्त्री चिन्तन मनुस्मृति की सभी नियमों से संचालित प्रतीत होता है।

4.10 भूमण्डलीकरण : दलित स्त्री-पुरुष का नज़रिया

आज भूमण्डलीकरण का दौर है। इसे हम बाजारवाद, ग्रामीकरण भी कह सकते हैं। भूमण्डलीकरण जैसे मुद्दे पर सवर्णों और नारीवादियों के यहां मतभेद की स्थिति दिखायी देती है। कई दलित लेखक भूमण्डलीकरण को सही मानते हैं। उन्हें कुछ आर्थिक नीतियां दलित समाज की मुक्ति का माध्यम लगती हैं। चंद्रभान प्रसाद ने एक लेख में लिखा था कि "बाजारवाद ही है असली सामाजवाद"। उनका

[294] वही, पेज नं.154

मानना है, बाजारवाद दलितों के लिए नए-नए अवसर लेकर आएगा। वह परंपरागत सामाजिक मूल्यों को भी तोड़ेगा। जबकि बाजारीकरण के संदर्भ में यह कहा जाता है कि अमीर और अमीर होते जाएंगे और गरीब और गरीब।

आज भी स्थिति यह है कि लगभग 84 प्रतिशत दलित गांवों में हैं। उनकी साक्षरता दर सिर्फ 38 प्रतिशत के करीब है। ऐसी स्थिति में बाजारीकरण का कितना फ़ायदा उन्हें मिल पाएगा ? जबकि दलित स्त्री के यहां यह स्पष्ट है कि यह दलितों के लिए बुरी है। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं "भूमण्डलीकरण, औद्योगिकीकरण और निजीकरण की नीतियों के युग में हमारे जाति समुदाय की स्थिति बहुत दयनीय है। ऐसी स्थिति में यदि हमारे लोग वाल्मीकि जयन्ती पर हाथी झुलाने की शान रखते हैं तो यह शर्म और चिन्ता की बात है।"[295] यह तो स्पष्ट है कि भूमण्डलीकरण के दौर में पूंजीवादी तत्व अधिक मजबूत हुए हैं और हाशिए पर जीवन जीने वाले वर्ग की स्थिति बहुत दयनीय हुई है। दलित स्त्री के लिए यह भारतीय पितृसत्तात्मक समाज और भूमण्डलीकरण दोनों कैसे एक साथ घातक हैं इस संबंध में सटीक टिप्पणी करते हुए विमल थोराट लिखती हैं "औरत की आज़ादी को खत्म करके उसे एक वस्तु में परिवर्तित कर उस पर शासन करने की आदिम प्रवृत्ति ने फिर इक्कीसवीं सदी के मुहाने पर जोर-आजमाइश की है बाजार की संस्कृति, फासीवाद और वैश्वीकरण ने औरत के हाथों का काम छीनने के साथ-साथ उसे बीच बाजार में अपनी देह बेचने के लिए मजबूर करने की सारी तैयारियां कर ली हैं। अब मंजूरी मिलनी है। सत्ता के नुमाइन्दों की ओर से शुरुआत तो हो चुकी है। औरत को वेश्या, व्यभिचारी, कामाचारी, जारकर्म में रत रहने वाली बताने की, अब इंतज़ार होगा उस भयावह आतंक भरे वातावरण का जब घर-घर की औरतों-बच्चियों को वेश्या होने के लिए मजबूर कर दिया जायेगा और उन पर पहरे बिठा दिये जायेंगे।"[296] दलित स्त्री विमर्श इसीलिए भूमण्डलीकरण को नकारात्मक रूप में देखता है और उसकी नीतियों की आलोचना करता है। लोगों को यह समझना होगा कि जब उत्पीड़ित तबकों के लिए भूमण्डलीकरण खतरनाक सिद्ध हो रहा है तो यह कैसे दलितों के लिए और अन्य शोषित समाज के लिए खतरनाक नहीं है।

---

[295] सुशीला टाकभौरे :शिंकजे का दर्द, पेज नं.254

[296] विमल थोराट -मनुवाद का नया संस्करण, कथादेश, जुलाई -2003, पेज नं.68

4.11 अन्य मुद्दे और विभिन्नता

दलित नारीवाद की दोहरी लड़ाई यह है कि एक तो दलित विमर्श के साथ उसका संघर्ष चल रहा है, और दूसरी तरफ नारीवाद के साथ उसकी तीखी बहस है। शुरुआत तो उनकी दलित विमर्श के part के रूप में हुई कि, दलित पुरुषों ने कुछ लिखा है वैसे ही दलित स्त्रियों ने लिखना शुरु किया। दलित पुरुष की कुछ समस्याएं हैं वैसे ही दलित स्त्रियाँ भी अपनी कुछ समस्याओं को लेखन में लाने लगीं, कुछ आपबीती हैं, जैसे ही दलित स्त्रियों ने लिखना शुरु किया तो इन लोगों ने (दलित पुरुष) उसे अन्य के रूप में देखना शुरु किया। हमारा ये विरोध है, उन पर फोकस किया गया कि इन मुद्दों पर बात मत कीजिए। दलित नारीवाद में जातिगत शोषण का विरोध तो है ही साथ ही जेण्डर के आधार पर होने वाले शोषण का विरोध भी मौजूद है। जब दलित स्त्रियाँ जातिगत शोषण का विरोध करती हैं तब पूरी जातिगत व्यवस्था उनके साथ हो जाती है और जब ये पितृसत्ता के शोषण का विरोध करती हैं तब दलित और सवर्ण पुरुष दोनों एक साथ हो जाते हैं। दलित नारीवादियों के यहां पुरुषों के लिए उस तरह का अन्य, षड्यन्त्रकारी मानने का भाव नहीं है कि सवर्ण पुरुषों का नाश हो जाये। कुछ हद तक जिस तरह दलित पुरुषों और सवर्ण नारीवादियों के यहां सवर्ण पुरुषों के प्रति जो आक्रोश है कि इनका नाश हो जाये ऐसा दृष्टिकोण दलित नारीवादियों के यहां नहीं है। सवर्ण पुरुषों के प्रति उनके लेखन में आलोचना है लेकिन उनके खात्मे का नहीं है। उदाहरण के लिए सुशीला टाकभौरे का उपन्यास 'तुम्हें बदलना होगा'। दलित नारीवादियों के यहां परिवार के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण दिखायी देता है। ये जनतंत्रीकरण चाहती हैं।

4.12 समतावादी समाज का निर्माण : दलित स्त्री–दलित पुरुष लेखन

दलित स्त्री जिस समतावादी समाज की सर्जना करती है, उसमें वह सबको साथ लेकर चलना चाहती है। वह सबकी मुक्ति में अपनी मुक्ति को देखती है। इसके लिए वह दलित पुरुष, सवर्ण स्त्री-पुरुष से समान सहयोग की आकांक्षा करती है। यह विषमतामूलक समाज, जातिवादी व्यवस्था, मनुवादी-ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक संस्कृति का उच्छेद केवल दलितों के करने से नहीं होगा। इसके समूचे नाश के लिए सभी को एकजुट होकर आगे आना होगा। दलित स्त्रियाँ अपनी रचनाओं में इस बात को पूरे ठसक के साथ लिखती हैं और समाज में यह सन्देश फैलाना चाहती हैं। इस रूप में सुशीला टाकभौरे का

दूसरा उपन्यास 'तुम्हें बदलना होगा' को देखा जा सकता है। लेखिका ने इस उपन्यास के माध्यम से रोटी-बेटी का संबंध स्थापित कर अन्तरजातीय विवाह का समर्थन किया है। गैर-दलित पुरुष के साथ दलित स्त्री का विवाह और गैर-दलित स्त्री का दलित पुरुष के साथ विवाह सम्पन्न कराकर वह जाति-मुक्त समाज का निर्माण करना चाहती है। अपने उपन्यास, कहानी, कविता इत्यादि रचनाओं में वह ऐसे नायक-नायिकाओं का निर्माण करती है जो 'शिक्षित, संगठित और संघर्षशील है जिनके द्वारा वह दलित समाज में अशिक्षितों को शिक्षित, असंगठितों को संगठित और संघर्ष विहीन लोगों को संघर्षशाली बनाती हैं। लेखिका में बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर का सपना साकार करने का संकल्प दिखायी देता है। सभी दलित स्त्री रचनाकार डॉ.अम्बेडकर को अपनी मूल प्रेरणा मानती हैं। उनके प्रेरणा नायक यदि कोई हैं तो वह डॉ.अम्बेडकर ही हैं जिनके संघर्ष से ही आज वे शिक्षित हो सकीं हैं और अपने साहित्य और इतिहास के साथ अपनी अस्मिता और अस्तित्व को दर्ज करा पा रही हैं।

दलित पुरुष लेखकों में गुट बनने से और उनमें विचारधारा के स्तर पर अन्तर आने से आंदोलन टूटते नज़र आये हैं। धर्मवीर का अलग से आजीवक धर्म की स्थापना करना और उनके कुछ अनुयायियों का पूरी तरह से इसका प्रचार-प्रसार करना दलित आंदोलन और दलित साहित्य में दरार डालने का काम किया। 'बहुरि नहिं आवना' त्रैमासिक पत्रिका इस रूप में अपना काम कर रही है। जबकि दलित स्त्री रचनाकार अपने आपको पूरी तरह से अम्बेडकरवादी मानती हैं। उनमें विचारधारा के स्तर पर डॉ.अम्बेडकर से असहमति और अलगाव नहीं दिखायी देता है।

दलित साहित्य अपनी प्रेरणा का स्रोत बुद्ध को मानता है। दलित स्त्री विमर्श भी बुद्ध से अपनी प्रेरणा ग्रहण करता है क्योंकि थेरियों के महान कटु अनुभव ने ही उन्हें बुद्ध के शरण में आने के लिए प्रेरित किया और वे भिक्षुणी बनीं। थेरियों की लैंगिक, जातिगत और वर्गीय पीड़ा ने जिस स्त्री जाति की मुक्ति का इतिहास रचा उसके अगले चरण या विकास के रूप में हम दलित स्त्री विमर्श को देख सकते हैं, जिसे दलित स्त्री विमर्श ने स्वीकारा और सराहा भी है। इसीलिए वे अपना इतिहास और मूल बौद्धकालीन थेरीगाथाओं के इतिहास से ग्रहण करती हैं। इसके बरक्स दलित विमर्श अपने साहित्य में दलित स्त्री के महत्व, योगदान व उसकी पीड़ा तथा दलित-स्त्री चेतना को रेखांकित नहीं करना चाहता है। दलित स्त्री अभी तक उनके साहित्य में एक साधन के रूप में ही दिखायी देती रही हैं। दलित पुरुषों

द्वारा लिखे गये साहित्य में उनकी छवि 'बेचारी' और 'निरीह प्राणी' के रूप में है। उच्च सवर्ण जातियों ने जिस प्रकार दलितों को मनुष्य मानने से इनकार किया और सभी मानवीय अधिकारों से उन्हें वंचित रखा वैसा ही सलूक दलित भी अपनी स्त्रियों के साथ करते हुए पेश आते हैं। 'दलित स्त्रियों का मुक्ति संघर्ष बहुस्तरीय और पेचिदा है। यह संघर्ष उनके अपने घर से शुरू होता है और उत्पीड़नकारी सवर्ण पुरुषवाद तक पहुंचता है। संघर्ष की यह बहुस्तरीयता तथा जटिलता दलित-लेखन में मुखर रूप से आनी चाहिए लेकिन वहां या तो इस पर चुप्पी दिखाई देती है या बहुत कम करके पेश की जाती है। 'मराठी दलित लेखिका ऊर्मिला पवार रूष्ट होकर कहती हैं कि दलित पुरुष मनुष्यता की लड़ाई लड़ते हैं लेकिन, मनुष्यता है क्या, यही नहीं जानते, अपनी औरतों के प्रति उनका व्यवहार मानवीय तो होता नहीं।'[297] जिस तरह से दलित स्त्री रचनाकारों ने एक जगह अपनी रचनाओं में अपने जातिगत, लिंगगत और वर्गगत तिहरे उत्पीड़न का चित्रण किया है और दूसरी जगह उन्होंने उससे मुक्ति का रास्ता भी ढूंढा है, दलित स्त्रियों का ऐसा पक्ष दलित पुरुष रचनाकारों की रचनाओं में कहीं नहीं दिखायी देता है। दलित विमर्श की इन तमाम खामियों के बावजूद दलित स्त्री विमर्श डॉ.अम्बेडकर के सिद्धान्तों से प्रेरणा ग्रहण करके सबको साथ लेकर चलना चाहता है ताकि बाबा साहेब के सपनों का भारत बन सके। अलग-अलग आंदोलन करने से सफलता मिलने में बहुत समय लगता है और आंदोलन कमजोर भी होता है। इसीलिए रजनी दिसोदिया दलित पुरुष लेखकों और दलित स्त्रियों की सहभागिता पर जोर देते हुए लिखती हैं कि "इस सबके बावजूद आज भी दलित नारी यह आशा करती है कि जब कोई भी समाज बिना स्त्री-पुरुष दोनों के सहयोग के चल ही नहीं सकता तो क्यों नहीं दोनों मिलकर एक बेहतर समाज के निर्माण के लिए काम करते ? अब समय आ गया है कि दलित पुरुषों से स्त्रियों को वह प्रेम और विश्वास मिलना चाहिए जिससे उनके व्यक्तित्व को विभिन्न नए आयाम मिल सकें और एक संपूर्ण मनुष्य के रूप में वे भी समाज के निर्माण में अपना सहयोग दे सकें और समाज में अपनी पहचान बना सकें।"[298]

---

[297] उद्धृत : अन्यथा, जून- 2008, पेज नं.175

[298] अपेक्षा, जुलाई-दिसंबर 2009, पेज नं.63

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि दलित स्त्री अपना इतिहास और साहित्य का लेखन स्वयं कर रही है। दलित पुरुषों ने अभी तक सहानुभूति के स्तर पर उनका जैसा वर्णन किया था, उन्हें अब स्वीकार नहीं। वे अपनी छवि स्वयं गढ़ रही हैं। जिस प्रकार प्रगतिशील लेखन में निराला, नागार्जुन इत्यादि रचनाकारों ने दलितों के ऊपर अपनी सहानुभूति भरी कलम चलायी थी, वो दलित साहित्य को स्वीकृत नहीं था क्योंकि उसमें दलितों का सहानुभूतिपरक चित्रण किया गया है। गैर-दलित रचनाकारों ने दलितों का संवेदनात्मक चित्रण तो किया था जिसमें दलितों की चेतना वाला पक्ष छूट गया था। जिसे अब दलित साहित्यकारों ने दलित साहित्य लिखकर पूरा किया। ठीक उसी प्रकार दलित स्त्री विमर्श भी अपनी दलित स्त्री चेतना का साहित्य लिख रहा है जिसमें उसकी पीड़ा, दुःख-दर्द, उत्पीड़न की व्यथा-कथा तो है साथ ही उससे निजात पाने की चेतना भी है।

14अक्टूबर 1956 को जब बाबासाहेब ने धर्म परिवर्तन किया तो हजारों महिलाओं ने सफेद वस्त्र धारण करके हिन्दू धर्म के प्रति असंतोष जाहिर किया। बाबासाहेब से प्रेरित दलित महिलाओं ने 'समता सेना' नामक संस्था बनाने का विचार किया। इसमें शामिल पुरुष सहयोगियों ने अनुभव किया कि 'नारी के सहयोग के बिना हर बदलाव अधूरा है।' आज दलित स्त्रियाँ दलित पुरुषों से इसी सहयोग की भावनात्मक उम्मीद करती हैं। दलित साहित्य में संघर्ष की शक्ति के लिए आज जिस संगठन की शक्ति की ज़रूरत है, उसे सांझे रूप में दलित स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर ही पूरा कर सकते हैं। बाबासाहेब अम्बेडकर का यह विचार कि "लड़कियों को शिक्षा देने से ही उनमें स्वाभिमान की ज्योति प्रज्जवलित होती है। अपनी उन्नति की गाड़ी का दूसरा पहिया (चाक) स्त्री समाज है उसको अपनी बराबरी की व्यवस्था में रखकर उसे भी शिक्षण का लाभ देना चाहिए-इस बेला (समय) में हमें खामोश नहीं बैठना चाहिए।..भावी पीढ़ी को शिक्षामृत पिलाकर उन्नति के शिखर पर पहुंचने का मार्ग सुलभ करें"[299] प्रतिफलित हो पायेगा। इस प्रकार दलित साहित्य में दलित पुरुष बनाम दलित स्त्री विमर्श का जो

[299] उद्धृत, श्यौराज सिंह बेचैन : स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, पेज नं.74-75

विभाजन है उसको समाप्त करने का एक ही रास्ता है वह है अम्बेडकरवादी विचारधारा को पूरी तरह आत्मसात करना।

पांचवां अध्याय
स्त्री साहित्य बनाम दलित स्त्री साहित्य

हमें शिकायत है

उस अबोध, निर्मम इतिहास से

कि जिसके लिए

हम दिन-रात

सुबह-शाम

आंधी-तूफान में लड़ते रहे

बनाते रहे अपना निशां.....

साथियों,

ये इतिहास झूठा है

मुझे इस पर विश्वास नहीं

ये कभी हमारा था ही नहीं

मैं तुम्हें फिर से खंगालूंगी

मैं कटिबद्ध हूं...

-- अनिता भारती

इतिहास में पहली बार अमेरिका में स्त्री अध्ययन का केन्द्र 1970 के दशक में खुला। जिसके फलस्वरूप आज वर्तमान में स्त्री अध्ययन केन्द्र भारत के हर बड़े महानगरों में खुलने लगे हैं। स्त्री अध्ययन केन्द्र की यह महान भूमिका रही कि स्त्रियों ने वैश्विक पहलुओं के साथ-साथ उन निजी पहलुओं को भी वैश्विक पटल पर लाने की कोशिश की जिनसे उनकी अस्मिता जुड़ी थी। सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक अधिकारों के साथ देह पर अधिकार, यौन मुक्ति इत्यादि पर उन्होंने गम्भीर से गम्भीर लेखन किये और उसे अपने अस्तित्व व अस्मिता से जोड़ने का प्रयास किया। स्त्रियों ने उन ढांचों को तोड़ने की सार्थक पहल की जो मनुवादी संहिताओं और पितृसत्ता द्वारा संचालित थी। धर्म, परिवार, विवाह, नैतिकता पर कठोर से कठोर चोट करते हुए उन्होंने इस पर तमाम प्रश्न-चिन्ह खड़े किए। जिस धर्म, परिवार, विवाह और नैतिकता का भारी बोझ उनके कन्धों पर सदियों से टिका है उसमें उनकी कोई महत्वपूर्ण भूमिका भी है, इन संस्थाओं में उनकी भी कोई भागीदारी तथा निर्णय लेने का अधिकार है या नहीं, इनके संचालक और मुखिया बनने तक के पद क्यों केवल पुरुषों को है स्त्रियों को क्यों नहीं ? अनामिका लिखती हैं- "1970 के अंत तक यूनाइटेड नेशन्स के 15 देशों में सिर्फ 6 की महिला प्रतिनिधि थीं। 100 से अधिक देशों में सबसे महत्वपूर्ण पदों पर मर्द ही काबिज थे। दुनिया भर में 10% राजनीतिक पदों पर स्त्रियाँ हैं और यह प्रतिशत दिनों-दिन घट रहा है क्योंकि सोवियत संघ रहा नहीं जहां 20-30% स्त्रियों के लिए सीटें तय थीं। 'सोवियत संघ के विघटन के बाद स्त्रियों ने जो नारा दिया था, अपने आप में बिल्कुल सार्थक है-"औरतों की शिरकत के बिना प्रजातंत्र है ही नहीं, 'सब्ऑल्टर्न कांउटर पब्लिक है।" इत्यादि प्रश्नों को स्त्री रचनाकारों ने अपने लेखन के केन्द्र में रखकर स्त्री साहित्य की रचना की। 'स्त्रियाँ अब इतिहास, शाश्वत मूल्य, संस्कृति और परिवार के पितृसत्तात्मक ढांचे से विद्रोह करके दरअसल एक बुनियादी सवाल उठा रही हैं-इतिहास, संस्कृति और समाज में हमारी जगह कहां है ? वे पुरखों की स्मृतियों, शहर के मोहक अकेलेपन और आधुनिकतावादी दुविधाओं से बाहर निकलकर स्त्री अस्मिता और स्त्री स्वाधीनता ही नहीं, स्त्री अधिकार के मुद्दे भी उठाने लगी हैं। यह स्त्रियों का संघर्ष था, जिसके दबाव में संयुक्त राष्ट्र ने वैश्विक पूंजीवादी व्यवस्था की 'प्रतीक सेवा' के रूप में 1975 को अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष घोषित किया था। प्रतीक सेवा का अर्थ है मुख्य धारा के सीमान्त पर रहने वाले समुदायों

की पीड़ा की ओर ध्यानाकर्षण । इसी तरह 8 मार्च का अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस धीरे-धीरे स्त्रियों के आत्मविश्वास, स्वाभिमान और जागरण का पर्व हो गया ।'[300] सवर्ण स्त्री लेखन ने इन महत्वपूर्ण सवालों को लेकर अपनी उपस्थिति स्त्री विमर्श के रूप में दर्ज करायी । राजेन्द्र यादव ने इसीलिए 21वीं सदी को महिलाओं की सदी घोषित कर दिया था ।

मैंने इस अध्याय में हिन्दी की कुछ सवर्ण स्त्री लेखिकाओं की रचनाओं 'आवां' 1999 (चित्रा मुद्गल), 'अल्मा कबूतरी' 2000, 'चाक' 2004, (मैत्रेयी पुष्पा), 'कठ्गुलाब' 2004 (मृदुला गर्ग), 'अन्या से अनन्या' 2007 (आत्मकथा: प्रभा खेतान) आदि तथा हिन्दी की दलित स्त्री की रचनाओं 'दोहरा अभिशाप' 1999 (आत्मकथात्मक उपन्यास : कौसल्या बैसंत्री), 'शिकंजे का दर्द' 2011 (आत्मकथा: सुशीला टाकभौरे), नीला आकाश (2013), 'तुम्हें बदलना होगा' 2015 (उपन्यास : सुशीला टाकभौरे) लिया है जिसके आधार पर मैं इस अध्याय 'स्त्री साहित्य बनाम दलित स्त्री साहित्य' का अध्ययन और विश्लेषण करूंगी । इसके अतिरिक्त इस अध्याय में उन पहलुओं की जांच करने की कोशिश की जायेगी कि सामान्य स्त्री साहित्य और दलित स्त्री साहित्य के अन्तर्विरोध किन मुद्दों को लेकर है, यदि उनमें कोई समानता है तो उसका स्तर और स्वरूप क्या है ?

हिन्दी का स्त्रीवादी साहित्य स्त्री-पुरुष संबंधों को तो अपने लेखन के केन्द्र में रखता है किन्तु दलित स्त्री के मुद्दों को अपने साहित्य का अंग नहीं बनाता है । दलित आंदोलन ने पितृसत्ता के कारण दलित स्त्रियों को अपने लेखन से उपेक्षित रखा किन्तु सवर्ण नारीवादियों ने उच्च जाति के अभिमान के चलते दलित स्त्रियों को अपने लेखन में स्थान ही नहीं दिया । इस संबंध में अभयकुमार दुबे उचित लिखते हैं "दलित स्त्री को तीन थप्पड़ खाने पड़ते हैं । पहला थप्पड़ उसे दलित आंदोलन के भीतर खाना पड़ता है । दूसरा थप्पड़ गैर-दलित समाज से खाना पड़ता है, जिसका सीधा संबंध ब्राह्मणवाद (या उसके सटीक नामकरण मनुवाद) से है । उसके गाल पर तीसरा थप्पड़ नारीवादी आंदोलन ने मारा है । आज तक इस आंदोलन में ऊंची जाति की अंग्रेजी पढ़ी-लिखी स्त्रियों का कब्जा है, और वे अपनी जाति अंधता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं । जिस तरह से दलित आंदोलन का महाआख्यान दलित नारीवाद को दलित एकता के लिए खतरा बताता है, उसी तरह से नारीवादी आंदोलन को लगता है कि

[300] शंभुनाथ, हिन्दी उपन्यास : राष्ट्र और हाशिया, पेज नं.282

दलित स्त्रियों की दावेदारी उनकी एकता को तोड़ देगी । नारीवादी आंदोलन के इस दावे में भी एक वर्णवाद छिपा हुआ है ।"[301] यह तो सत्य है कि हिन्दी का स्त्री साहित्य शिक्षित और मध्यवर्गीय स्त्रियों का नारीवाद है । पश्चिम के आंदोलनों से प्रभावित होते हुए इन्होंने अपने तक सीमित होकर केवल अपने अधिकारों और स्वच्छन्दता की बात की, जिसमें दैहिक, यौनिक, उन्मुक्त स्वच्छन्द जीवन जीने और स्त्री-पुरुष संबंधों पर विशेष जोर दिखायी देता है । जबकि दलित नारी विमर्श और दलित नारी अन्दोलन सवर्ण स्त्री विमर्श से अलग समाज में उत्पीड़ित, अवमानित दलित स्त्री को शोषण के सभी शलाकाओं से मुक्त करने का प्रयास है ।

रजनी दिसोदिया का मानना है कि "प्रारंभ से ही दलित स्त्रियों ने पढ़ी-लिखी तथाकथित संभ्रांत कही जाने वाली स्त्रियों के नेतृत्व में पनपने वाले इन नारीवादी आंदोलनों से दूरी बनाकर रखी । प्रायः जन्मना सवर्ण ये संभ्रांत महिलाएं जन्म से मिलने वाली लिंग विषमता से इस कदर आक्रांत थीं कि मौका मिलते ही विशेष कर दलित स्त्री पर अपनी जन्मना सवर्णता को लेकर पिल पड़तीं । इसी कारण इनके नारीवादी आंदोलनों से दलित स्त्री कभी विश्वास के साथ नहीं जुड़ पाई । साथ ही दलित महिलाएं भारतीय परिवेश में इस कदर गुंथी और जुड़ी हैं कि ठेठ भारतीय पृष्ठभूमि से जुड़े बिना कोई भी नारीवादी आंदोलन उन्हें अपने विश्वास में ले ही नहीं सकता । इसी कारण दलित स्त्री ने अपनी आवाज़ को अपने अलग मंचों पर उठाना शुरू किया । उसके सवाल और उसकी जरूरतें इस कदर रोजमर्रा की जिंदगी से जुड़ी थीं कि जल्दी ही उसकी सभाओं का आकार बढ़ने लगा । बिना समाज और परिवार के मौजूदा ढांचे को चोट पहुंचाए, वह उसकी जड़ताओं को तोड़ने लगीं ।"[302]

21वीं सदी में अस्मितामूलक विमर्श के चलते 'दलित स्त्री विमर्श' एक नई विचारधारा को लेकर उभरा है । साहित्यिक पटल और सामाजिक धरातल पर उसके मुद्दे जमीन से जुड़े हुए हैं । 'जाति, जेंडर और वर्ग' के आधार पर होने वाले तिहरे शोषण से दलित स्त्री अकेली पीड़ित है । दलित स्त्री लेखन की सक्रियता तब से है जबसे दलित लेखन की शुरुआत हुई थी किन्तु दलित स्त्री विमर्श के रूप में उसकी सक्रियता स्त्री और दलित विमर्श के आंदोलन और साहित्यिक लेखन के बाद से ही हुई । इसके पीछे यह

---

[301] अभयकुमार दुबे, आधुनिकता के कारखाने में हिंदी और हिंदी के कारखाने में आधुनिकता, तद्भव अंक-22, लखनऊ, पेज नं.84

[302] अपेक्षा, जुलाई-दिसंबर 2009, पेज नं.57

कारक महत्वपूर्ण रहा कि स्त्री और दलित विमर्श ने अपने लेखन में दलित स्त्री के मुद्दों पर उतनी तन्मयता और गम्भीरता से बात नहीं की, जितना स्वयं के लेखन पर जोर दिया । गेल ओमवेट का मानना है कि 'दलितों को वामपंथियों से अलग आवाज उठाने की ज़रूरत इसीलिए पड़ी कि उन्होंने दलितों से किये गये अपने वादों को कभी पूरा नहीं किया । रजनी कोठारी इसे अलग ढंग से प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि संस्थाओं का धीमे-धीमे बिखराव सार्वजनिक नीतियों पर निपटाये न जा सके विवाद, आदर्शों पर बढ़ती अनिश्चितता, राजनीतिक प्रक्रिया के लोकतांत्रिक नींव का लगातार कमजोर होना, व्यवस्थित समानता प्रदान करने की राष्ट्र-राज्य की क्षमता में विश्वास का कम होना, तथा सरकार व दलीय राजनीति की मुख्यधारा की प्रक्रिया पर भरोसे का टूटना, इन सबके परिणाम-स्वरूप अब जो आंदोलन उभर रहे हैं, वे मजदूर संगठनों या सहकारी आंदोलनों जैसे आर्थिक आधार पर जन्मे आंदोलनों से अलग हैं ।"[303]

'अपने प्रारंभिक दौर में भारतीय स्त्री विमर्श ने सभी स्त्रियों को आत्माभिव्यक्ति के लिए एक कॉमन प्लेटफार्म उपलब्ध कराया था, लेकिन शीघ्र ही यह महसूस किया गया कि विभिन्न वर्गों की स्त्रियाँ विभिन्न मुद्दों पर अलग-अलग ढंग से प्रभावित होती हैं । ऐसा ही एक अनुभव दलित वर्ग की स्त्री के संबंध में हुआ जो दोहरी वंचना की शिकार है । एक तरफ सवर्णों द्वारा अपमानित होने को विवश तो दूसरी ओर अपने वर्ग के पुरुष के अत्याचार झेलने को । दलित स्त्रियों ने भी अपनी यंत्रणा को सार्वजनिक विमर्श के केन्द्र में लाने का निर्णय किया । यहीं से शुरूआत हुई दलित स्त्री विमर्श की । इस दृष्टि से इसे भारतीय स्त्री विमर्श और प्रतिरोधी लेखन की परंपरा में ऐतिहासिक घटना माना जा सकता है ।'[304] दलित विमर्श ने दलित स्त्रियों को अपने लेखन में इसलिए जगह नहीं दी क्योंकि उन्हें अपने आंदोलन और लेखन के टूटने का डर लगता था । उनका कहना था कि पहले हम स्थापित हो जायें फिर हम आपकी बात करेंगे । इसी तरह स्त्री विमर्श ने भी दलित स्त्री मुद्दों को अपने लेखन में आने नहीं दिया । उन्हें लगता था कि दलित स्त्रियों की बात करने से स्त्री आंदोलन और लेखन कमजोर पड़ जायेगा । इन्हीं कुछ कारणों से सामान्य स्त्री लेखन ने दलित स्त्री के मुद्दों को हाशिए पर डाल दिया । यही मूल

[303] स्त्रीकाल, दलित स्त्रीवाद, पेज नं.7

[304] सं.विजयपाल (2014) दलित साहित्य :मूल्यांकन, श्री नटराज प्रकाशन, पेज नं.162

कारण रहा कि दलित स्त्रियों ने अपने प्रतिनिधित्व के सवाल को लेकर अलग संघर्ष किया है। हालांकि यह मुद्दा सैद्धान्तिक और राजनीतिक दोनों स्तरों पर पहले भी उठता रहा है। दलित स्त्रियाँ अपनी अलग पहचान की ज़रुरत को दर्ज कराने के लिए कुछ भीतरी और बाहरी कारणों का हवाला भी देती हैं। बाहरी कारणों में गैर-दलित ताकतों द्वारा उन्हें उपेक्षित करना और भीतरी कारणों में दलित पितृसत्ता का अपना खास स्वरूप है।

सभी 'स्त्रियाँ दलित होती हैं' ऐसा कुछ विचारकों का मानना है। 'स्त्री स्त्री है, वह न सवर्ण है और न दलित' जबकि भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सवर्ण और दलित स्त्रियों में गहरा अन्तर दिखायी देता है। मनुवादी और ब्राह्मणवादी समाज में भी सभी स्त्रियों को दलित की संज्ञा दी जाती है जगदीश्वर चतुर्वेदी इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए लिखते हैं कि- "हिंदी में बड़े चलताऊ ढंग से स्त्री की समस्या पर विचार करने की शैली का एक नमूना है कि स्त्री संगठनों पर फब्तियां कसी जाएं या उपेक्षा की जाए। अधिकांश जनमाध्यम स्त्री संगठनों पर फब्तियां कसने में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। स्त्री संगठनों पर हमला करने का यह चालू तरीका है। दूसरा चालू तरीका है स्त्री को दलित बताना। स्त्री को जब दलित में बदलते हैं या स्त्री की दलित से तुलना करते हैं तब स्त्री की पहचान खत्म हो जाती है। पहचान को विखंडित करने का एक अन्य तरीका है गरीब एवं अमीर, पिछड़े अथवा अगड़े की स्त्री में फर्क किया जाए। इस पूरे प्रपंच में स्त्री की समग्र पहचान खंडित होती है, स्त्री टुकड़ों में बंटती है और अंततः वह पुनः हाशिए पर चली जाती है। स्त्री पहचान को तोड़ने की ये शैलियां अंततः पुंसवादी दृष्टिकोण की मदद करती हैं और स्त्री को हाशिए पर ठेल देती हैं। स्त्री वस्तुतः स्वतंत्र रूप से स्त्री है, उसका शोषण, उत्पीड़न या उसका हाशिए का जीवन स्वतंत्र रूप से अध्ययन की माँग करता है। अतः स्त्री शोषण को दलित शोषण या बाल शोषण से गड्डमड्ड करने की ज़रूरत नहीं है।' मृदुला गर्ग की टिप्पणी में भी कि "हर स्त्री दलित नहीं है" (हंस, अप्रैल 1993) में यह दृष्टिकोण साफ़ तौर पर देखा जा सकता है।"[305]

मृदुला गर्ग सरीखी कई अन्य सवर्ण स्त्री रचनाकार भी हर स्त्री को दलित की श्रेणी में नहीं गिनती। उनके यहाँ यह तो स्पष्ट है कि स्त्री स्त्री में अंतर है। चूंकि वह अपने आप को जेण्डर बायस्ड

[305] उद्धृत, जगदीश्वर चतुर्वेदी : स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पेज नं. 206, मिलेट, केट, 1971/25

होकर नहीं देखना चाहती हैं। उनकी सोच है कि लेखन स्त्री या पुरुष नहीं होता है उसे हम लिंग में न बांटकर देखें तो ज़्यादा उचित होगा। रोहिणी अग्रवाल उनके व्यक्तित्व और लेखकीय दृष्टिकोण के संबंध में लिखती हैं –"मृदुला गर्ग महिला रचनाकार जैसे विशेषणों से चिढ़ती हैं क्योंकि उनकी नज़र में रचनाधर्मिता लिंग और पृष्ठभूमि की समाजशास्त्रीय संरचनाओं से पूर्णतया विमुक्त हो भीतर के नाद को बाहर के संकुल जगत से अनुस्यूत करती है-तमाम निस्संगता, निःशब्दता और गहन-गूढ़ अभिव्यंजनाओं के साथ। लेकिन सवाल उठता है कि स्त्री होने की सच्चाई परिवार और समाज में स्त्री नियति से टकराकर प्रश्नों-चुनौतियों से जूझती हुई विद्रोह की जिन अनुगूंजों को व्यक्त करती है, क्या वे उससे मुंह मोड़ सकती हैं ?"[306] सवर्ण नारीवादी आलोचकों का जोर इस बात पर है कि स्त्री किसी भी जाति, धर्म और वर्ण से बंधी नहीं है अर्थात स्त्रियों की न कोई जाति है न धर्म और न वर्ण। वे केवल स्त्री हैं और इसी आधार पर उनका उत्पीड़न होता है। सवर्ण नारीवादियों का मानना है कि स्त्री को छोड़कर सभी स्त्री के शोषणकर्ता हैं। स्त्री को सवर्ण और दलित जैसे खांचे में बांटना यह सोची समझी रणनीति है। जबकि सच्चाई यह है कि समाज में अत्यन्त निम्न होने के कारण दलित स्त्री का तिहरा शोषण होता है।

सवर्ण नारीवादी आलोचक अपनी मध्यवर्गीय जातिवादी दृष्टि के कारण स्त्रियों में व्याप्त अंतर्विरोध को देखना ही नहीं चाहती हैं। 'अंतर्विरोधों का परिणाम यह होगा कि स्वयं स्त्रियों के बीच उनकी वर्चस्व की स्थिति सामने आ जाएगी और इस तरह इनकी सबसे शोषित होने के दावों पर प्रश्नचिन्ह लग जाएगा। अपनी सबसे शोषित व्यक्ति की अस्मिता बनाए रखने के लिए जरूरी है कि सबसे शोषित व्यक्ति की बात ही न की जाए। हिन्दी की मुख्यधारा के सवर्ण नारीवादी और दलितवादी आलोचक भी यही कर रहे हैं।'[307] हिन्दी के स्त्री लेखन में दलित स्त्रियों का चित्रण तो छोड़ दीजिए, उनकी कोई चर्चा नहीं है, उनके मुद्दे, प्रश्न सभी एक सिरे से नदारद हैं। साहित्य और लेखन में सवर्ण लेखिकाओं द्वारा किया गया यह उपेक्षा भाव जगजाहिर हो जाता है। इस प्रकार स्त्री का सवर्णवादी नजरिया यहाँ परिलक्षित होता है। कुछ स्त्री लेखिकाएं अपने आपको स्त्री तथा शोषण के विभिन्न पायदानों से गुजरने के बावजूद भी दलित नहीं मानती। अतः यह स्पष्ट है कि स्त्री विमर्श और दलित

[306] रोहिणी अग्रवाल (2011) स्त्री लेखन: स्वप्न और संकल्प, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पेज नं.171

[307] लेख-किंगसन सिंह पटेल : विमर्श और स्त्री, यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, पेज नं.166

स्त्री विमर्श दोनों के मुद्दे और निहितार्थ भी अलग-अलग हैं । तब इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि साहित्य भी सवर्ण और दलित होता है । भले ही प्रभा खेतान यह कहती हों कि .."नारीवाद का न कोई खेमा है और न कोई तंत्र, न कोई बाहुबल, वह तो पूरी तरह जनतांत्रिक मूल्यों में आस्था रखता है ।"[308] यहाँ जिन जनतांत्रिक मूल्यों में आस्था की बात प्रभा खेतान कर रही हैं क्या उनमें दलित स्त्रियाँ नहीं आतीं ? फिर यह कैसे मान लिया जाय कि नारीवाद का कोई खेमा नहीं है । दलित स्त्री पर अत्याचार होते हैं, उन्हें नंगा घुमाया जाता है, उनके साथ बलात्कार होते हैं तब नारीवाद क्यों अपने खेमे में सिमट जाता है ? अक्सर वह दलित स्त्री मुद्दों पर चुप्पी साधे रहता है । यहाँ नारीवाद से मेरा आशय सामान्य सवर्ण स्त्री विमर्श से है । सवर्ण और दलित स्त्री के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक जीवन में गहरा अन्तर है । इसी सन्दर्भ में रजनी तिलक की कविता 'औरत-औरत में अंतर है' की कुछ पक्तियां उद्धृत करना प्रासंगिक होगा-

'औरत औरत होने में / जुदा-जुदा फर्क नहीं क्या ?
एक भंगी तो दूसरी बामणी / एक डोम तो दूसरी ठकुरानी
दोनों सुबह से शाम खटती हैं
बेशक, एक दिन भर खेत में / दूसरी घर की चारदीवारी में
शाम को एक सोती है बिस्तर पे / तो दूसरी कांटों पर ।"[309]

उपर्युक्त कविता की पंक्तियों में रजनी तिलक सामाजिक वर्णाश्रम व्यवस्था में विभाजित सवर्ण स्त्री और दलित स्त्री के उन कारणों की शिनाख्त करती हैं जिसमें दोनों की स्थिति में अन्तर है । दलित और सवर्ण स्त्री के शोषण के अन्तर की सूक्ष्मता को रेखांकित करते हुए किंगसन सिंह पटेल लिखती हैं कि.."यह सच है कि दोयम दर्जे की प्राणी होने के नाते स्त्रियों का शोषण उसके जाति के पुरुष द्वारा हमेशा होता रहा है । लेकिन पिछड़ी, दलित, जनजाति, जरायम पेशों में लिप्त, अस्थाई निवास करने वाली जातियों की स्त्रियों के यौन शोषण में बहुत फर्क हैं । इन स्त्रियों को मर्द-सत्ता के साथ-साथ जातीय सत्ता और सांस्कृतिक दबावों को भी सहना पड़ता है । जाति के रूप में दलित समाज की औरतें जहाँ सवर्ण विभेदात्मक व विषमतावादी संस्कृति का निरन्तर शिकार रहती हैं, वहीं वे जीवन पर्यन्त पुरुष सत्ता से आक्रान्त रहती हैं । वे मर्द की शारीरिक भूख और परिवार की उदर भूख को एक साथ

---

[308] प्रभा खेतान : सवर्ण पति बनाम दलित पति, कथादेश, जून 2003, पेज नं.57

[309] रजनी तिलक : औरत-औरत में अंतर है, सं.कंवल भारती : दलित निर्वाचित कविताएं, पेज नं.144

शांत करने का माध्यम बनती हैं। जाति-समाज के दबावों को अलग से झेलती हैं। दलित औरत में 'मनुष्य होने' का अहसास ही पैदा नहीं हो पाता; अस्तित्व व अस्मिता बोध का प्रश्न तो उठता ही नहीं "[310] यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज वर्गों, वर्णो और जाति-उपजातियों, धर्मों, लिंगों में बंटा हुआ है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में असमानता के चलते यहाँ की महिलाओं के साथ भी उत्पीड़न के स्तरों में अन्तर दिखाई देता है। 'महिलाओं के उत्पीड़न का सार विभिन्न महिलाओं के लिए भिन्न-भिन्न है। अतः अनुभवपुन्ज की भिन्नता को महत्व दिया गया। इसका यह अर्थ था कि विज्ञानवाद को नकारा जाय और महिलाओं के विषयपरक अनुभवों को महत्ता दी जाए। ये वे अनुभव हैं जो कि महिलाएं दिन-प्रतिदिन के कार्य कलापों में प्राप्त करती हैं। महिलाओं के अनुभव जटिल होते हैं, वे अलग-अलग स्थितियों में समरूप नहीं होते। अतः उनके अनुभवों की व्याख्या के लिए भी विश्लेषण की जटिलता स्वाभाविक है।' वैज्ञानिक पद्धतियों के उपयोग में महिलाओं को 'वस्तु' मानने की प्रक्रिया निहित है। इस प्रक्रिया में अनुसन्धानकर्ता के शक्तिकरण के आयाम भी निहित हैं। अनुभवों की अनेक परत वैज्ञानिक पद्धतियों में छूट जाते हैं। अनेक महिलाएं जो कि अभावग्रस्त श्रेणी में आती हैं- वे और उनके विशिष्ट अनुभव इसमें छूट जाते हैं। एक तरह से अनुसन्धान उन्हें चुप करा देता है। महिलाओं के बारे में साधारणीकरण से उनके अपने अनेक व्यक्तिगत व समूहगत पक्ष छूट जाते हैं जिनकी व्यथा व दारूण कथाओं की झंझावत निहित है। संरचनात्मक सिद्धान्त व परिप्रेक्ष्य इन अनुभवों को नकारने के लिए दोषी है।'[311] दलित वर्ग की नारी का अनुभव सवर्ण जाति की नारी के अनुभवों से भिन्न होता है। इस दृष्टिकोण में नारी के अनुभव खण्डों में विभाजित हैं। ऐसी स्थिति में अनेक व विभिन्न अनुभवों के पुन्ज को जोड़कर एक विविधता को बाधित स्वरूप देना यथार्थ को दर्शा सकता है। इस तरह की बहस सत्य व यथार्थ को प्रजातन्त्रिय व व्यक्तिगत स्तर पर उपलब्धि का आधार मान लेता है।'[312] इस प्रकार की भिन्नता हमें सामान्य स्त्री लेखन और दलित स्त्री लेखन के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात हो जाता है।

---

[310] किंगसन सिंह पटेल, यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, पेज नं.159

[311] सं.प्रतिभा जैन, संगीता शर्मा, भारतीय स्त्री : सांस्कृतिक संदर्भ, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, नई दिल्ली, पेज नं.68

[312] वही, पेज नं.69

दलित स्त्री लेखिकाओं ने स्त्री स्त्री में अंतर को अपने लेखन में दर्ज किया है। उनके यहां यह स्पष्ट है कि स्त्रियाँ जाति, वर्ग और वर्ण में विभाजित हैं। सवर्ण स्त्री और दलित स्त्री की समस्याएं अलग-अलग हैं। सभी स्त्रियों को एक ही श्रेणी में रखकर बहुत से बुनियादी मुद्दों से ध्यान भटकाना होगा। अनिता भारती ने सवर्ण स्त्री बनाम दलित स्त्री विमर्श के मुद्दे को सहज रूप में उठाया है। उसके सूक्ष्म अंतर को बताते हुए वे लिखती हैं कि- "यह सही है कि जहाँ सवर्ण नारीवाद स्त्री की समस्याओं, मुद्दों, उसकी मुक्ति के सवालों आदि पर मुख्य रूप से बात करता है और एक तरह से उसके महत्व को कम करके नहीं आंका जा सकता, पर यहाँ सवाल यह भी महत्वपूर्ण है कि क्या वर्तमान का नारीवादी आंदोलन इस देश के सभी तबके की स्त्रियों की समस्याओं व सवालों का प्रतिनिधित्व करता है ? खासकर भारत में जाति-व्यवस्था द्वारा सताई या शिकार हुई औरतों की भी ? या फिर एक सीमित तबके और एक छोटे-से सुविधा संपन्न वर्ग को ही अपने अधिकार क्षेत्र में गिनता है। एक खास दायरे को अपना मक़सद समझने वाला यह कथित नारीवाद और इससे निकलने वाले विचारों की कड़वी सच्चाई है कि यह पूरे देश की स्त्रियों का प्रतिनिधित्व न करके केवल अपने वर्ग, जो भारतीय संदर्भों में जाति का शक्ल अख़्तियार कर लेता है का प्रतिनिधित्व करता है। शायद इसीलिए आज महिला आंदोलन में गरीब-दलित-पिछड़ी-शोषित महिलाओं का नेतृत्व कहीं नज़र नहीं आता और न ही उनके मुद्दे व सवाल चिंता का विषय बन पाते हैं।"[313]

हिन्दी साहित्य का स्त्री विमर्श सवर्ण शहरी मध्यवर्गीय शिक्षित हिन्दी लेखिकाओं का है, जिसमें न कोई आंदोलनधर्मी है और न आंदोलनकर्मी। सभी वर्गों और वर्णों के समाज की महिलाओं के मुद्दों से उनका कोई सरोकार नहीं दिखाई देता है क्योंकि वहां दलित, मजदूर, गरीब, अल्पसंख्यक, ग्रामीण, आदिवासी, वेश्या, ट्रांसजेण्डर महिलाएं तो हैं ही नहीं। इसलिए जब आप हिन्दी साहित्य में स्त्री लेखन को देखेंगे तो उनमें दलित स्त्रियों के मुद्दों को शायद ही पायेंगे। इस विषय पर किंगसन पटेल का उचित ही मानना है कि-...."हिंदी के अधिकांश नारीवादियों ने जाति, छुआ-छूत और अर्थ की समस्या को कभी गंभीरता से नहीं लिया। उनके लिए गरीबी, कुपोषण, अशिक्षा और जातिगत उत्पीड़न की समस्या कभी काल को चिंता और चिंतन का विषय बनी लेकिन संवेदना का नहीं। कारण यह है कि

[313] समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.8

उनके लिए अस्मिता का प्रश्न केन्द्र में रहा, अस्तित्व का नहीं । हिंदी में नारीवादी साहित्य और आलोचना का आधार मध्यवर्गीय सवर्ण स्त्री ही है । वह दावा तो सभी स्त्रियों की समस्याओं को उठाने का करती है, लेकिन उसका नारीवाद 'स्त्री' की अमूर्त धारणा पर टिका हुआ है, इसीलिए उसके चिंतन के केन्द्र में अधिकांश स्त्रियाँ नहीं बल्कि मुट्ठी भर सवर्ण मध्यवर्गीय स्त्रियाँ ही हैं ।"[314]

ग्रामीण परिवेश, गांव की स्त्री की समस्याएं भी आपको इस हिन्दी की स्त्री साहित्यिक रचनाओं में कम मिलेंगे । मैत्रेयी पुष्पा जिन्होंने अपने लेखन का केन्द्र ग्रामीण जन-जीवन (बुंदेलखंड के आस-पास के ही इलाके मात्र) को बनाया है वहां भी जेण्डरगत मुद्दे प्रमुख हैं स्त्री के अस्तित्व का मुद्दा उतना महत्वपूर्ण नहीं है । सवर्ण स्त्री विमर्श के विषय में सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि "सवर्ण नारी विमर्श और नारीवादी आंदोलन में सम्पन्न सवर्ण सक्षम महिलाओं की स्वच्छन्दता के अधिकारों की बात ही अधिक कही गई है । जिसमें वे पूर्ण रूप से मुक्त और स्वच्छन्द रहकर, ये निर्णय ले सकती हैं, वे विवाह करें या न करें, बिना विवाह किसी भी पुरुष मित्र के साथ रह सकती हैं । वे माँ बनना चाहें या नहीं, यह उनकी मर्जी पर होना चाहिए । 'लिव इन रिलेशनशिप' रूपी मुक्त स्वतन्त्र और स्वच्छन्द जीवन की माँग भी नारीवादी आंदोलन की बात है ।"[315] जबकि दलित स्त्री विमर्श समाज में सबसे निम्न मानी जाने वाली दलित स्त्री के दारुण अनुभवों के साथ-साथ, विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को भी रेखांकित करता है जो वर्ग, वर्ण और जेंडर की लड़ाई के अलावा उन सामाजिक अधिकारों की लड़ाई के लिए भी हमेशा संघर्षरत रहती हैं जिनमें स्त्री के सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक अधिकार सुनिश्चित हैं । दलितों के पास आरक्षण होने के बावजूद उनकी सीटों पर सवर्णों की भर्ती कर दिये जाने पर, संवैधानिक मान्यताओं के बाद भी उनके साथ अस्पृश्यता का बर्ताव करना, जाति के नाम पर गाली-गलौज करना, उच्च पदों पर प्रतिष्ठित होने के बावजूद भी हमेशा निम्न और जातिगत भेदभाव करना इत्यादि समस्याएं हैं और अस्तित्व तथा अस्मिता की लड़ाई भी वहां प्रमुखता से आती है ।

---

[314] किंगसन सिंह पटेल: यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, पेज नं.156

[315] सुशीला टाकभौरे, मेरे साक्षात्कार, पेज नं.130

रोहिणी अग्रवाल अपनी पुस्तक 'स्त्री लेखन: स्वप्न और संकल्प' में लिखती हैं-.."1990 के बाद की महिला रचनाकार एकाग्रचित्त होकर एक ऐसी स्त्री को गढ़ रही हैं जो 'स्त्री स्त्री की दुश्मन' जैसे परंपरापोषित (उपहासास्पद) मिथों को तोड़कर 'यूनिवर्सल सिस्टरहुड' में आस्था रखती है। आयातित लेस्बियन कल्चर का नाम देकर भले ही इसकी थुक्का-फजीहत की जाती रहे, लेकिन निजी एवं जातीय अस्मिता के लिए सचेतन ओढ़ी जागरूकता को संवेदना में ढालना निहायत जरूरी है।"[316] वह लवलीन के हवाले से आगे लिखती हैं..."हमारी व्यथा, पीड़ा और दुख कमोबेश समान हैं। यही हमें परस्पर जोड़ता है। बहनापा-सिस्टरहुड-ही इस सबका समाधान नज़र आता है मुझे।...अगर हम एकजुट होकर इस परपीड़क समाज का बहिष्कार कर अपना समाज खुद बनाएं, निर्णय लें और निरंतर आत्मा का संधान करें तो सृजन की शक्ति हममें है। हमें समान समझ वाले स्त्री-पुरुषों से समभाव से मित्रता कर अपने-अपने लिए निजी समाज बनाना चाहिए जो इस बाहरी व्यापक समाज का विकल्प बन सके। तब शायद.... हां....शायद...।"[317] यहाँ रोहिणी अग्रवाल लवलीन के जिस संदर्भ के हवाले से अपनी बात रखना चाहती हैं उसमें एक ऐसी दुनिया और समाज की कल्पना है जिसमें पुरुषविहीन दुनिया न हो, बल्कि पुरुषसत्ता से मुक्त मनुष्यवादी समाज की स्थापना हो क्योंकि उनका मानना है कि 'वही नए समाज और स्वस्थ संबंधों का सूत्रधार बन सकता है।' रोहिणी अग्रवाल का उपर्युक्त संदर्भ उन सभी सवर्ण लेखिकाओं के उपन्यासों की केन्द्रीय समस्याओं पर सटीक बैठता है जिसने 1990 के बाद के लेखन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब', चित्रा मुद्गल का 'आवां' और मैत्रेयी पुष्पा के 'चाक' का केन्द्रीय स्वर यही है।

मनुष्यवादी समाज की परिकल्पना में दलित स्त्री, आदिवासी स्त्री, मजदूर स्त्री, खदानों में काम करती स्त्री, अल्पसंख्यक स्त्री के सवाल को जब अनदेखा किया जाता है तो यह प्रश्न सायास उठता है कि मनुष्यवादी समाज आखिर कैसा समाज होगा ? वास्तव में वह मनुष्यवादी समाज होगा भी या नहीं ? जहाँ 90 के बाद के लेखन में स्त्री ने पुरुष को सहयोगी की भूमिका में रखकर 'विपिन' (कठ्गुलाब), और श्रीधर (चाक) मनुष्यवादी समाज का सपना साकार होने की पृष्ठभूमि रची जाती है, उसमें पिछड़ी,

---

[316] रोहिणी अग्रवाल ,स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, पेज नं.205

[317] वही, पेज नं.205

दलित स्त्री आखिर नज़र क्यों नहीं आती ? सिस्टरहुड की कल्पना में भी दलित स्त्री कहीं मौजूद नहीं है, न ही अपने अस्तित्व को लेकर और न ही अपने सवालों को लेकर । इन सभी सवालों को लेकर दलित स्त्री विमर्श अपने साहित्य में दस्तक देता है । इस अध्याय में इन्हीं सब कारणों को लेकर एक पड़ताल की कोशिश रहेगी ।

5.1 दलित- सवर्ण स्त्री : मुद्दे, अन्तर

5.1.1 जातिगत भेदभाव को लेकर अन्तर

जाति मनुवादी, ब्राह्मणवादी पितृसत्ता द्वारा रची गयी एक ऐसी संरचना है जिसके अधिकतर शिकार केवल निम्न मानी जाने वाली पिछड़ी जातियां और दलित हैं । इस वजह से जातिगत उत्पीड़न, शोषण, अवमानना के शिकार भी वही होते हैं । सवर्ण जातियों का जाति के नाम पर उत्पीड़न, उन्हें निम्न मानना तथा उनकी कभी अवमानना नहीं होती है । यही कारण है कि तीन हजार सौ साल से आज तक वर्णाश्रम व्यवस्था के तहत सवर्ण हमेशा से दलितों पर अपना अधिकार मान कर उनको शोषित करते रहे हैं । जिन लांछनाओं, प्रताड़नाओं को अपने कटु जीवन में दलित लेखिकाओं को भोगना पड़ा है उन्हीं लांछनाओं और प्रताड़नाओं से सवर्ण लेखिकाएं दूर हैं और इतना ही नहीं जाति के नाम पर वे सवर्ण महिलाएं उतना ही दलित महिलाओं को प्रताड़ित और लांछित करती हैं जितना कि सवर्ण पुरुष । इसलिए दलित लेखिकाओं के लेखन में जाति पहला फैक्टर है जिसका वे बहुत गहराई और सूक्ष्मता से वर्णन करती हैं । शिक्षा प्राप्ति के वक्त, विद्यालयों में, सहपाठियों के साथ, सार्वजनिक स्थानों पर पानी भरने, खेलने, कार्य करने, उठने-बैठने, खाने-पीने, श्रम करने यहाँ तक कि शौचालयों का प्रयोग करने में भी उन्हें जातिगत भेदभाव का अकेले सामना करना पड़ता है । इसी जातिगत अवमानना का दंश अपने निजी जीवन में सुशीला टाकभौरे को पग-पग पर सहना पड़ता है । वे अपने कटु अनुभवों के बारे में लिखती हैं..."स्कूल में साथ पढ़ने वाले सवर्ण बच्चे मुझसे दूर-दूर रहते थे । स्कूल के घड़े का पानी चपरासी दूर से पिलाता था । कभी चपरासी न रहने पर मैं अपनी कक्षा की रजनी अग्रवाल, शुभलता पटेल, मृदुला दुबे से पानी पिलाने के लिए कहती थी । ऐसे समय अपनी निर्बलता और बेबसी का अनुभव होता था । हेमलता ठाकुर और रामेश्वरी दुबे पास के छोटे गांव बड़ाखड़ से बानापुरा के स्कूल

पढ़ने आती थी । गांव में जातिभेद और छुआछूत को वे ज़्यादा जानती-मानती थी । अक्सर रजनी मजाक से हंसते हुए कहती-"हम क्यों तुझे पानी पिलाए ? हम क्या तेरे नौकर है ?"[318]

दलितों को मनुष्य न मानकर उनके साथ अमानवीय व्यवहार करना ब्राह्मण और सवर्ण जातियों का चरित्र रहा है । विद्यालयों में सबसे ज़्यादा जाति के नाम पर उच्च जातियां दलित बच्चों का शोषण करती रहीं हैं । इसी कारण कभी उनसे शारीरिक श्रम कराकर, पुस्तकों और कलम से उन्हें दूर रखकर वे अपना जातिगत स्वार्थ ऊंचा करती रहीं हैं ताकि निम्न और पिछड़ी जातियां हमेशा पिछड़ी रहें । चाहे 'अन्या से अनन्या' की प्रभा खेतान हों या 'कस्तूरी कुंडल बसै', 'गुड़िया भीतर गुड़िया' की मैत्रेयी पुष्पा, इन्हें अपने निजी जीवन में किसी तरह का जातिगत उत्पीड़न और शोषण की घटनाओं से दो-चार नहीं होना पड़ा । समाज में ऊंची हैसियत की वजह से वे जाति के नाम पर होने वाले उत्पीड़नों से साफ़-साफ़ बच जाती हैं । समाज में आखिरी पायदान पर रहने को मजबूर दलित स्त्री जाति के साथ-साथ लैंगिक शोषण, घरेलू अत्याचार, गरीबी की मार सहती है । घर के बाहर सवर्ण पुरुष और सवर्ण स्त्री भी जाति के नाम पर उस पर हिंसा और अत्याचार करते रहते हैं । दलित और सवर्ण स्त्रियों के साथ घर और परिवार के भीतर होने वाले दमन और शोषण में भले ही समानता देखी जा सकती है किन्तु सामाजिक और आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण दलित स्त्री को अत्यधिक दमित होना पड़ता है । स्पष्ट है कि भारतीय समाज में आज भी जाति एक प्रमुख मुद्दे के रूप में मौजूद है जिसकी सबसे ज़्यादा शिकार दलित स्त्रियाँ हैं । जाति के नाम पर घृणित कार्य करने को मजबूर जैसे मैला-प्रथा में लिप्त, शौचालयों, सीवेज की सफाई का कार्यभार उन्हीं के मत्थे मढ़ दिया जाता है । सुशीला टाकभौरे की नानी इसी पेशे की शिकार महिला हैं । एक दलित स्त्री को खाने-पीने से लेकर, पहनने-ओढ़ने तक और उसके रहने यहाँ तक की जाति के आधार पर ही कार्य करने को बाध्य किया जाता है । उदाहरण के तौर पर आज भी सार्वजनिक शौचालयों में 99% दलित महिलाएं कार्यरत हैं । मानव-मल की टोकरी उठाने को वे विवश हैं ।

---

[318] शिकंजे का दर्द, पेज नं.45

5.1.2 गरीबी और भूख का अन्तर

दलित स्त्रियों को जहाँ गरीबी से हर रोज़ रूबरु होना पड़ता है वहीं सवर्ण स्त्रियों को गरीबी का सामना उस तरह से नहीं करना पड़ता जितना कि दलित स्त्रियों को। उदाहरण के स्तर पर एक सवर्ण स्त्री की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' और दलित स्त्री की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' व 'दोहरा अभिशाप' को लेते हैं। गरीबी की मार और गहरी त्रासदी जितना दलित घरों में है उतना सवर्ण घरों में नहीं, यही कारण है कि हमें 'अन्या से अनन्या' में गरीबी की समस्या उतनी नहीं दिखायी देती है। प्रभा खेतान लिखती हैं- "हमारे परिवार का परम सुख था रुपया ! अधिक-से-अधिक रुपया। बाबूजी, अम्मा को जब रुपया देते, तब अम्मा बहुत खुश होतीं। अम्मा सबसे पहले फल-दूध का बजट बढ़ा देतीं। हमें तब रोज एक गिलास भरकर, मौसम्बी या सन्तरे का रस पिलाया जाता। टिकरिये में मक्खन ज़्यादा होता।"[319] चूंकि प्रभा खेतान एक संभ्रांत मारवाड़ी परिवार से संबंध रखती हैं और सामाजिक हैसियत में उनके घर का स्तर भी ऊंचा है। इसलिए प्रभा खेतान को गरीबी का वैसा सामना नहीं करना पड़ा जैसा 'शिकंजे का दर्द' की लेखिका सुशीला टाकभौरे को। दलित घरों में गरीबी और भूख का बहुत ही मार्मिक चित्रण है। वहां सवर्ण स्त्रियों के घरों की तरह सुख-सुविधायें नहीं है। रोटी है तो सब्जी नहीं है। सूखी रोटी को ही कभी नमक और प्याज तथा पानी के साथ खाकर आधे पेट ही सो जाना पड़ता है। भूख की विवशता का मार्मिक चित्रण करते हुए सुशीला टाकभौरे लिखती हैं- "हमें भूखे रहने के अनुभव बहुत मिले हैं। घर में गेहूं नहीं, आटा नहीं। दाल-सब्जी नहीं, चावल का दाना नहीं। रुपये नहीं, पैसे नहीं- तब सभी सुबह से शाम तक भूखे रहते थे। विनती और खुशामद करके माँ, नानी किसी से अनाज या रुपये उधार लेकर आतीं, अथवा घर की पीतल की गुण्डी या गागर गिरवी रखकर रुपयों का इन्तजाम किया जाता, तब कहीं शाम के समय चूल्हा जल पाता।"[320]

दलित स्त्री का जीवन जितना कठोर, पीड़ादायक, असहनीय, मार्मिक और उत्पीड़क होता है ठीक वैसा ही जीवन सवर्ण स्त्रियों का नहीं है। दलित स्त्री समाज में व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर खड़े होने के कारण वह बहुत से मूल अधिकारों से वंचित होती है। 'दोहरा अभिशाप' की लेखिका

---

[319] प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पेज नं.21

[320] सुशीला टाकभौरे (2011) शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.108

कौसल्या बैसंत्री और 'शिंकजे का दर्द' की लेखिका सुशीला टाकभौरे को जितनी गरीबी का सामना करना पड़ा ठीक उसी दरिद्रता और अभाव का सामना 'अन्या से अनन्या' की लेखिका प्रभा खेतान को नहीं करना पड़ा। इसी तरह दलित लेखिका कौसल्या बैसंत्री को घर में अन्न के अभाव के कारण भूखे पेट रहना पड़ता था उस दशा का मार्मिक वर्णन करते हुए अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में वे लिखती हैं- "घर में न चाय बनती थी, न नाश्ता। स्कूल जाने के लिए अच्छा नहीं लगता था। स्कूल से पांच बजे तक घर आते थे। स्कूल काफ़ी दूर था, पैदल ही आना पड़ता था। बहुत जोर की भूख लगती थी। रोना आता था। सवेरे का खाना बच जाता था तो छोटे बहन-भाई पहले आते थे, वे चट कर जाते थे। कभी-कभी उनमें भी खाने के लिए झगड़ा होता था। क्योंकि बहुत ज़्यादा खाना बचता नहीं ता। राशन का जमाना था।"[321]

दलित लेखिकाओं के यहाँ भूख का वर्णन बहुत ही कारुणिक है, रोटी के लिए किसी के सामने विनती करने तक की नौबत भी आ जाती थी जबकि सवर्ण लेखिकाओं को गरीबी खासतौर से रोटी की चिन्ता कहीं नहीं सताती। प्रभा खेतान के यहाँ भूख शब्द का जिक्र जिस तरह से आता है वह दलित लेखिकाओं की तरह उतना मार्मिक नहीं है। प्रभा खेतान लिखती हैं.."भूख लगी है, और खीर खाने का मन कर रहा है। सुबह हलवा और पूड़ी तथा रात को खीर। दाई माँ को मेरी पसन्द मालूम है।'.....मंझली दीदी हमलोगों की जेब में बादाम-पिश्ता-काजू भर देती है। दाई माँ जो भी खिलाती वह मुझे पसन्द होता। रेवड़ियाँ, तिलकुट, दूध-चीनी में साना हुआ जौ का सत्तू, बढ़िया घी में बनी पंजीरी, दाई माँ के पल्ले में सब कुछ बँधा होता, कागज की छोटी-छोटी पुड़ियों में।"[322]

जहाँ दलित लेखिका कौसल्या बैसंत्री और सुशीला टाकभौरे के यहाँ भूख मिटाने के लिए महज रोटी, दाल या थोड़ा-बहुत कुछ भी मिल जाता था, कभी-कभी तो आधा पेट या फिर भूखे पेट सोना पड़ता था वहीं सवर्ण लेखिका प्रभा खेतान के यहाँ भूख मिटाने के लिए हलवा-पूड़ी और खीर का वर्णन आता है। ग़ौरतलब है कि सवर्ण और दलित घरों में गरीबी और भूख का जो चित्रण है उसमें ज़मीन-

[321] कौसल्या बैसंत्री (2015) दोहरा अभिशाप, परमेश्वरी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं. 50

[322] प्रभा खेतान : अन्या से अनन्या, पेज नं.24

आसमान का अन्तर दिखायी देता है क्योंकि दलित घरों में गरीबी प्रमुख समस्या है जिसका जिक्र सभी दलित लेखिकाओं ने अपनी-अपनी आत्मकथाओं में किया है।

5.1.3 दलित और सवर्ण स्त्री के पालन-पोषण में अन्तर

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वर्ण और वर्ग के कारण यहाँ लोगों के रहन-सहन, खान-पान और पालन-पोषण में अन्तर है । यही कारण है कि सामाजिक असमानता के चलते सवर्ण और दलित लेखिकाओं के पालन-पोषण में भिन्नता दिखाई देती है । सामाजिक रूप से निम्न मानी जाने वाली जातियों के पास वे सुविधायें मौजूद नहीं है जिनसे उनका पालन-पोषण सुचारू रूप से चल सके, गरीब होने के कारण भी उन्हें तमाम तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जबकि उच्च जातियों के पास जन्म से ही वे सभी सुविधाएं मौजूद हैं जिसके लिए दलित अभी तक संघर्ष कर रहें हैं । दलित लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथाओं में अपने जीवन में जिन असुविधाओं का जिक्र किया है उनमें सबसे ज़्यादा खान-पान, अच्छी शिक्षा, रहन-सहन, वेष-भूसा इत्यादि का वर्णन किया है। वे अपने और सवर्ण घरों की लड़कियों की स्थिति के अन्तर को स्पष्ट रूप से चित्रित करती हैं । कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं...."ब्राह्मणों की लड़कियां बहुत अच्छे-अच्छे साफ़-सुथरे कीमती कपड़े पहनकर आती थीं। मेरा बस्ता दो-तीन कपड़ों की पट्टियों को जोड़कर बनाया गया होता था। वे अच्छे टिफिन बाक्स में (पीतल का) खाना लेकर आती थीं। उसमें कभी पूरियां, कभी परांठे, कभी पोहे, कभी सूजी का हलवा, कभी कुछ पकवान रहता था। सफेद रोटियां जिसमें घी लगा रहता था। सब्जी या अचार के साथ खाती थीं। मेरे घर तो कभी-कभी ही रोटियां बनती थीं, वह भी घटिया गेहूं की। न उसमें घी लगा होता, न अच्छी सब्जी या अचार। कभी-कभार ही मैं चीनी या गुड़ के साथ रोटी लाती थी। मेरे पास अच्छा डिब्बा भी नहीं था। मैं अल्यूमिनियम के डिब्बे में रोटी लाती थी। मैं लड़कियों के सामने अपना डिब्बा नहीं खोलती थी। मुझे अपना घटिया डिब्बे और घटिया रोटी को उनके सामने खोलने में शर्म आती थी। मैं दीवार की ओर मुंह करके खाना खाती थी ताकि कोई देख न ले। उनके खाने की खुशबू और खाना देखकर मैं ललचा जाती थी। सोचती थी, ऐसा खाना मुझे कब नसीब होगा।"[323] दलित घरों में घोर

[323] दोहरा अभिशाप, पेज नं.41

गरीबी होने के कारण ये लेखिकाएं स्वादिष्ट भोजन तो छोड़ दीजिए भरपेट भोजन से भी वंचित रह जाती हैं।

अनिता भारती अपने आत्मनुभवों के विषय में लिखती हैं कि.."हम सब भाई बहनों को पालने-पोसने में हमारे माँ-बाप को कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी। अपने होश संभालने तक मैंने उन्हें हमेशा कोल्हू के बैल की तरह जुते देखा। हम सब भाई बहनों में दो-दो साल का अंतर था। हर चीज पर खर्चा था वर्दी से लेकर किताबें-कापियां और दूसरी आवश्यकताएं। इन सब चीजों के लिए उन्हें कड़ा परिश्रम करना पड़ता था।"[324] दलित लेखिकाओं के माता-पिता विषम परिस्थितियों, अभावों और संकट में अपने बच्चों का पालन-पोषण करने में अपनी कोई कसर नहीं छोड़ते हैं। बच्चों के लिए बेहतर शिक्षा और उचित देखभाल की चिन्ता दलित परिवारों के यहां अधिक देखने को मिलती है। इसी अभाव और विपन्नावस्था में वे अपने परिवार को सुचारु रूप से चलाने का भरसक प्रयत्न करते हैं।

5.1.4 शिक्षा प्राप्ति के संघर्ष को लेकर अन्तर

मनु ने दलितों और स्त्रियों के लिए शिक्षा को वर्जित माना था। इस कारण भारतीय समाज में स्त्री और दलित शिक्षा हमें बहुत बाद में देखने को मिलती है। ज्योतिबाफुले-सावित्रीबाई फुले ने 1848 में विद्यालय खोल कर स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित किया। लेकिन यहाँ सवाल यह है कि सवर्ण और दलित को शिक्षा हासिल करने में किन-किन मुश्किलों का सामना करना पड़ा और क्या कारण रहा कि दलित तबकों और दलित महिलाओं को शिक्षा ग्रहण करने में इतना लम्बा समय लग गया जबकि नेतृत्व के रूप में फुले दम्पत्ति शिक्षा के लिए प्रचार-प्रसार कर रहे थे ? जिस समय जातिवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ फुले दम्पत्ति संघर्ष कर रहे थे, वह ऐसा समय था जब उन्हें भी वर्चस्वशाली उच्च जातियों द्वारा दमन सहना पड़ा। आधुनिक स्त्री शिक्षा की मिसाल और प्रथम शिक्षिका सावित्रीबाई फुले को भी तमाम तरह की प्रताड़नाओं और विरोधों को झेलना पड़ा, तब जाकर वह अपने मिशन में कामयाब हो सकीं। दलित स्त्रियों के लिए शिक्षा को हासिल करने में अपने उच्च जाति के शिक्षकों और सहपाठियों से जिस जातिगत हमलों का सामना करना पड़ता है उन्हीं जातिगत हमलों से उच्च जाति की छात्राएं जाति

[324] अनिता भारती समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.71

की श्रेष्ठता के कारण बच जाती हैं। विद्यालयों और कॉलेजों में आधुनिक द्रोणाचार्यों की वज़ह से हमेशा दलित छात्र-छात्राएं उत्पीड़न का शिकार होते हैं और महाभारत की घटनाएं आज भी उसी रूप में घटती रहती हैं। एकलव्य हमेशा छला जाता रहता है और अर्जुनों को पद्वी दे दी जाती है। दलित विद्यार्थियों के साथ छल-प्रवंचना करके शिक्षा से उन्हें दूर रखा जाता है ताकि वे शिक्षित न हो सकें। विद्यालयों में दलित बच्चों को कक्षा में पीछे बैठाना, उनसे झाड़ू लगवाना, अपने घर के काम कराना, जाति के नाम पर अश्लील गालियां 'चूहड़ा', 'चमार', 'भंगी' गालियां देना तथा बात-बात पर उन्हें दण्ड देना व अपमानित करना इत्यादि रूप से उनका मानसिक और शारीरिक शोषण किया जाता है ताकि दलित बच्चे स्वयं डरकर स्कूल छोड़ दें। सवर्ण शिक्षिका द्वारा किये गये इसी तरह के उत्पीड़न का वर्णन कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में करती हैं.."जब मैं प्राइमरी में चौथी कक्षा में थी, तब शिक्षिका मुझसे बहुत काम करवाती थीं। कभी होटल से चाय मंगवाने भेजतीं। दूसरी लड़कियों को नहीं भेजती थीं। जांचने की कापियों का बड़ा बंडल मेरे हाथ में पकड़ाकर अपने घर पहुंचाने को कहतीं। मेरा अपना बस्ता और जांचने की कॉपियों का बंडल लेकर आने से मेरे हाथ दुखने लगते थे।.....कुछ लाने को भूल जातीं तो मुझे अपने घर दौड़ातीं। मैं चुपचाप सब कर लेती थी। मेरे घटिया कपड़ों के कारण ब्राह्मणों की लड़कियां मेरे साथ दोस्ती नहीं करती थीं।"[325] जाति के नाम पर इस तरह का शोषण दलितों के साथ आए दिन होता रहता है। कभी उनके पहनावे को लेकर तो कभी भाषा को लेकर कटाक्ष किया जाता है जिससे उनमें हीन भावना भर जाती है और वे कभी-कभी आत्महत्या करने पर भी मजबूर हो जाते हैं। इसी हीन-भावना का मार्मिक चित्रण कौसल्या बैसंत्री करती हैं- "मैंने स्कूल के किसी कार्यक्रम जैसे खेलकूद, नाटक वगैरह में कभी भाग नहीं लिया। मुझमें हीनता की भावना भरी थी। मैं खो-खो, कबड्डी वगैरह अच्छा खेल सकती थी। परंतु मैं आगे बढ़ने से ही डरती थी। मैं अस्पृश्य हूं, यह भावना मेरे मन से जाती ही नहीं थी।"[326] जबकि सुशीला टाकभौरे को निम्न भंगी जाति के होने के कारण उन्हें स्कूल की सांस्कृतिक गतिविधियों से दूर रखा जाता था..."एक दिन प्रैक्टिस के समय में भी उस ग्रुप के साथ डांस करने लगी। यह देखकर शांति बहनजी ने गुस्से के साथ डांटते हुए मुझे उन

[325] दोहरा अभिशाप, पेज नं.45

[326] वही, पेज नं.53

लड़कियों के बीच से निकाल दिया—"सुशीला, तुम यहाँ कैसे आ गईं? तुम इनके साथ डांस नहीं करोगी।"[327] विद्यालयों में इस प्रकार के भेदभाव दलित बच्चों में हीन भावना को जन्म देते हैं।

बच्चों का बालमन और मनोविज्ञान बहुत डरे हुए स्वभाव का होता है इसीलिए वे अपने घरों में अपने माता-पिता को इस तरह की घटनाओं का जिक्र करने से डरते हैं। इसी कारण उनके मन में एक ग्रंथि बनती जाती है कि वे स्वयं हीन है। इसके इतर सवर्ण लेखिकाओं की आत्मकथाओं में ऐसा कोई भी दृश्य नहीं आता जहाँ उनका शिक्षकों द्वारा शोषण किया जाता रहा हो। मनु द्वारा निर्मित वर्णाश्रम व्यवस्था में जातिगत श्रेष्ठता के कारण सवर्ण स्त्रियाँ इन भेदभावों और अत्याचारों से बच जाती हैं। शिक्षण संस्थाओं में दलित विद्यार्थियों के साथ आज भी वैसा ही उत्पीड़न होता है जैसा 20वीं सदी में होता रहा है। रोहित वेमुला की आत्महत्या एक संस्थानिक हत्या थी जो सवर्णों के घोर अत्याचार और जातिगत उत्पीड़न का नतीजा है।

5.1.5 स्वास्थ्य और सौन्दर्य से वंचित दलित महिलाएं

स्वास्थ्य और सौन्दर्य स्त्री जीवन से जुड़ा एक ऐसा अभिन्न पहलू है जिसको स्त्री से अलग कर के नहीं देखा जा सकता। बढ़ते बाजारवाद के दौर में इसने स्त्री के जीवन में अपना अभिन्न स्थान बना लिया है। जहाँ स्वास्थ्य को लेकर स्त्रियाँ सचेत होती हैं वहीं अपनी सुन्दरता को लेकर वे उससे भी ज़्यादा तत्पर हैं। इन पहलुओं का सवर्ण स्त्री और दलित स्त्री पर कैसा प्रभाव पड़ता है यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यह सच है कि जीविका के साधन जुटाने के चक्कर में दलित स्त्रियाँ अपने स्वास्थ्य और सौन्दर्य पर उचित ध्यान नहीं दे पातीं। उनके लिए रोजी-रोटी की चिन्ता ही अनिवार्य है जिसकी वज़ह से उनका अपने स्वास्थ्य और सौन्दर्य पर ध्यान भी नहीं जा पाता। जबकि सवर्ण स्त्रियाँ अपने स्वास्थ्य और सौन्दर्य बोध को लेकर बचपन से ही बड़ी होती हैं उनका पालन-पोषण भी ऐसा होता है कि उन्हें चौबीसों घंटे अपने सौन्दर्य और स्वास्थ्य के लिए चिन्तित होना पड़ता है। उन्हें रोजी-रोटी का जुगाड़ करने के लिए मशक्कत नहीं करनी पड़ती। जहाँ निम्न जाति की स्त्रियों के लिए दो वक्त की रोटी और परिवार चलाना रोज का काम है वहीं इस समस्या से कोशों दूर है सवर्ण स्त्रियाँ।

---

[327] शिकंजे का दर्द, पेज नं.45

भूमंडलीकरण और उदारवादी नीतियों ने जहाँ सौन्दर्यवादी प्रतियोगिताओं की होड़ लगा रखी हो और कास्मेटिक्स जगत का एक बाजार खोल रखा हो उसमें दलित स्त्रियों को कहाँ स्थान मिलेगा ये बहुत बड़ा प्रश्न है ? दलित स्त्रियाँ श्यामल वर्ण की होती हैं। ऐसा माना जाता है कि उनके नैन नक्श सुन्दर नहीं होते हैं और गरीबी तथा दिन-भर मजदूरी करने के कारण उन्हें अपने शरीर की सुन्दरता की चिन्ता भी नहीं होती है। सवर्ण स्त्रियों और दलित स्त्रियों के निजी जीवन में सौन्दर्य और स्वास्थ्य के मसले कितना स्थान घेरते हैं, इस समस्या को बहुत ही सटीक ढंग से व्याख्यायित करते हुए किंगसन पटेल लिखती हैं कि- "सुंदरता के उपरोक्त प्रतिमानों पर गरीब, निम्न जाति एवं वर्ग की स्त्रियाँ शायद ही खरी उतर पायें। उतरें भी कैसे ? वे शहरों और गावों की झुग्गी-झोपड़ियों में रहती हैं, मीलों कारखानों, बड़े लोगों के घरों में दिहाड़ी मजदूरी और खेतों, खलिहानों में काम करती हैं। उनके पास यह सुविधा नहीं होती कि जाड़ा, गर्मी, घाम और बरसात में झुलसाये चेहरे और धूल-धूसरित शरीर को गुलाबी रंगत वाला और खुशबूदार बना सके। गरीबी इन्हें दिनभर काम करने को बाध्य करती है। दिनभर का काम किया शरीर सुबह-शाम दाल-पानी की जुगाड़ में जुट जाता है। सुंदरता पर ध्यान तब जाता है जब पेट भरा हो और समय तथा रोकड़ा हाथ में हो। गावों और शहरों की ज़्यादातर गरीब, मजदूर स्त्रियाँ मजदूरी, जलावन, दलहन, नोन, पानी आदि की तलाश में लगी रहती हैं। इनके पास इतना रुपया, समय और समृद्धि नहीं होती कि वे अपनी सुंदरता को भुना सकें या लंबे समय तक बरकरार रख सकें। विवाह के एक साल बाद ही गरीब और खेतिहर समाज की औरतों की चमक चली जाती है। वे घर-गृहस्थी, बाल-बच्चों के कामों में ऐसी पिस जाती हैं कि तीस-बत्तीस तक पहुंचते-पहुंचते अधिकांश स्त्रियाँ बीमार और बूढ़ी लगने लगती हैं। चेहरे पर झुर्रियां, पांव में बिवाई और हाथ, बाल रूखे, बेनूर हो चले आते हैं।'[328]

किंगसन पटेल अपने लेख में 'ग्लोबल गांव का देवता' का उदाहरण भी देती हैं जिसमें बहुत ही स्पष्ट तरीके से सवर्ण घरों की संपन्न स्त्रियों और असुर जाति की आदिवासी स्त्रियों के सौन्दर्य तथा उनकी ज़िन्दगी के अतंर को रुमझुम नामक पात्र करता है। वह कहता है- 'उधर सुन्दर-सुन्दर कुत्तों को घुमाती सुन्दर-सुन्दर महिलाएं, बर्फ के गोलों-से गुलगथ उजले-उजले बच्चे। इधर पानी और जलावन

[328] लेख. किंगसन पटेल : स्त्री सुन्दरता के प्रतिमान और स्त्रीवादी साहित्य, कथादेश 80, नवम्बर, 2015, पेज नं.77

जुटाने में ही हमारी औरतों की आधी जिंदगी गुजर जाती है ।' इस उदाहरण के हवाले से वे बहुत ही सधा हुआ प्रश्न भी उठाती हैं कि क्या स्त्रीवादी साहित्य इन सामान्य स्त्रियों के जीवन और उनकी पीड़ाओं का यथार्थ चित्रण कर रहा है या उनकी नकली तस्वीर पेश कर रहा है ?'[329]

वास्तव में यह सोचने वाली गम्भीर बात है कि दलित स्त्रियों के यहाँ उदारीकरण से उभरते इस सौन्दर्य बाजार का कोई महत्व है या नहीं ? क्या इसकी शिकार दलित स्त्रियाँ है या फिर उनके जीवन में सुन्दरता की होड़ कोई महत्व नहीं रखता जितना उच्च वर्ग की स्त्रियाँ अपने जीवन में इसे बहुत महत्व देती हैं ? दलित स्त्रियाँ सौन्दर्य के बाजार की शिकार भी हैं और उससे वंचित भी । क्योंकि उनके रूप, कद-काठी, नक्शे का भूमंडलीकरण के बाजार में कोई महत्व नहीं । सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में केवल सुन्दर और गोरी स्त्रियों को ही लिया जाता है और ऐसा माना जाता है कि काली और सांवली लड़कियां सुन्दर नहीं होती हैं । इसके अतिरिक्त बड़ी-बड़ी मल्टीनेशनल प्राइवेट कम्पनियों में भी सुन्दर और पतली लड़कियों को ही लिया जाता है, एयरहोस्टेस, फिल्म जगत कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ पर कुछ पढ़ी-लिखी दलित स्त्रियाँ तो सौन्दर्य के निर्धारित मापदण्डों के अनुकूल नहीं बैठतीं जिससे उनकी छंटनी हो जाती है । वैसे भी ऐसे क्षेत्रों में उनकी संख्या मात्र 1-2 प्रतिशत ही है या इससे भी कम । इसी संबंध में श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं कि .."नयी मीडिया संस्कृति, नये टी.वी.शो और महानगरों में विभिन्न कंपनियों द्वारा आयोजित नृत्य सौन्दर्य प्रतियोगिताएं, वाद-विवाद प्रतियोगिताएं और सेवा स्पर्धाएं इन सब में दलित लड़कियों की भागीदारी नगण्य क्यों है ? प्रतिनिधित्व शून्य है ? तो सांस्कृतिक संस्थाएं लोकतांत्रिक विविधता के लिए खतरा नहीं हैं तो और क्या है ?"[330]

भाषा सिंह की पुस्तक 'अदृश्य भारत' उन सभी सौन्दर्य प्रतियोगिताओं में वर्ग और जाति के सवाल को झूठा सिद्ध करती है कि यह सौन्दर्य प्रतियोगितायें और स्वास्थ्य किस हद तक दलित महिलाओं को प्रभावित करती भी हैं या नहीं ? मैला ढोने में इन दलित स्त्रियों की सदियों से चली आ रही पीढ़ियां इसमें लगी हुई हैं । सम्पूर्ण भारतवर्ष की महिलाएं कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक कैसे इस बजबजाते मैला प्रथा में अपनी पूरी ज़िन्दगी गुजार देती हैं । "देश भर में इस समुदाय की औरतें

---

[329] वही, पेज नं.77

[330] श्यौराजसिंह बेचैन (2012) स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, पेज नं.6

कड़वे सच के ज़हर को पीते-पीते ही जी रहीं हैं कि उन्हें इन्सान नहीं समझा जाता । चाहे वह पश्चिम बंगाल के उत्तर 24 परगना जिले में भाटपाड़ा की लक्ष्मनिया हारी हो या गुजरात में अहमदाबाद की पल्लवी बेन, राजस्थान में टोंक की इन्दिरा, कश्मीर की रफ़ीका या आन्ध्रप्रदेश की नारायण अम्मा- सब अपनी ज़िन्दगी मैला ढोने में खर्च करने के बाद इसी निष्कर्ष पर पहुंची हैं कि लोग उन्हें इन्सान ही नहीं समझते और सरकार को वे दिखायी नहीं देते, क्योंकि वह उन्हें देखना नहीं चाहती । वे अदृश्य हैं !!![331] दलित स्त्री के जीवन का यह कड़वा सच सरकार, सवर्ण लेखिकाओं को क्यों नहीं दिखायी देता ? क्या ये इस गहरी सच्चाई से अपनी आंखे मूंद लेना चाहती हैं या फिर वाकई में ये ऐसी समस्याएं हैं जो सदियों से अदृश्य हैं या अदृश्य बनाए रखने का ढोंग रचा जा रहा है ।

सुन्दरता के प्रतिमान में गोरे रंग को ही महत्व दिया गया है । मधु किश्वर अपने लेख 'सौंदर्य का षड्यंत्र' में लिखती हैं कि..."स्त्री के सौंदर्य की हमारी अवधारणा का सबसे अस्वास्थ्यकर पहलू यह है कि हम काली चमड़ी को कुरुपता का प्रतीक मानते हैं । गोरी स्त्रियों को खासी अहमियत दी जाती है (इस अर्थ में भारतीय भी गोरी चमड़ीवाले कुछ पाश्चात्य लोगों को कम रंगभेदी नहीं हैं) । गौर वर्ण प्रकाश और सौंदर्य से जुड़ा माना गया है । इसमें जातिगत वरीयता भी है । प्राचीन साहित्य में कहा गया है कि ब्राह्मणों की त्वचा गोरी, क्षत्रियों की लाल, वैश्यों की पीत तथा शूद्रों की काली होती है । गोरा रंग पारंपरिक रूप से सौंदर्य से जुड़ा हुआ तो था ही, उपनिवेशवादी शासन के दौरान यह सत्ता का प्रतीक भी बन गया । भारतीय नेहरू परिवार के प्रति इतने मुग्ध क्यों थे, इस प्रश्न का उत्तर शायद इसी मानसिकता में है । चूंकि वे यूरोपीय लोगों की भांति गोरे थे, उन्हें जन्मजात शासकों की तरह माना गया । मेरी मान्यता है कि इंदिरा गांधी अगर काली होतीं तो न तो उन्हें इतना गरिमामंडित किया जाता और न उनकी इतनी सारी बुराइयां अनदेखी कर दी जाती ।"[332] यहां मधु किश्वर उन पहलुओं की जांच करने की कोशिश करती हैं कि किस प्रकार गोरा रंग स्त्रियों की सुंदरता के लिए अनिवार्य मापदण्ड में अपनी भूमिका निभाता है । कौशल्या बैसंत्री 'दोहरा अभिशाप' में लिखती हैं कि "उन दिनों कॉलेज में इक्की-दुक्की लड़कियां होती थीं । एक सनक और होती थी कि लड़की ज़्यादा नहीं पढ़ी है तो चलेगा,

---

[331] भाषा सिंह (2012) अदृश्य भारत, पेंगुइन बुक्स, भूमिका xxii

[332] सं.राजकिशोर-अश्लीलता का हमला श्रृंखला (आज के प्रश्न-12) देखें- मधु किश्वर का लेख सौंदर्य का षड्यंत्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पेज नं.64

लेकिन खूब गोरी-सुंदर होनी चाहिए, जैसे गोरी चमड़ी ही सुंदरता की कसौटी हो।"[333] सुंदर गोरी स्त्री इसी मापदण्ड के कारण अपने करियर में भी आगे पहुंचने में समर्थ है और इसी गोरे रंग के अभाव के कारण दलित स्त्रियाँ हर क्षेत्र में पिछड़ जाती हैं। ऐसा नहीं है कि सवर्ण स्त्रियों में कुछ स्त्रियाँ श्यामल वर्ण की नहीं होती हैं किन्तु अनुपात के तौर पर देखा जाय तो दलित स्त्रियों की संख्या अधिक हैं।

इसके अतिरिक्त ऐसी विभिन्न सेवाएं भी हैं जिससे दलित स्त्रियाँ वंचित हो जाती हैं जिसमें उनका लैंगिक उत्पीड़न भी एक मुख्य कारण है। लैंगिक उत्पीड़न या भेदभाव से सवर्ण और दलित स्त्री दोनों को दो हाथ होना पड़ता है और इस उत्पीड़न में पितृसत्ता अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। एक तरह से देखा जाय तो सैकड़ों वर्षों से पितृसत्ता के कारण ही स्त्री को समाज में दोयम दर्जा मिला। 'संपत्ति, शिक्षा, सत्ता, राजनीतिक अधिकारों एवं सामाजिक अधिकारों से स्त्री को वंचित होना पड़ा। एक लंबी लड़ाई के बाद ही उन्हें शिक्षा और संपत्ति के क्षेत्र में समान अधिकार मिला किन्तु पितृसत्तात्मक मूल्यों का सामाजिक वर्चस्व अभी भी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ है। सेना, सत्ता, उद्योग, तकनीकि, विज्ञान, राजनीति, दफ़्तर, विश्वविद्यालयों, अदालतों पुलिस आदि में अभी भी समस्त अधिकार पुरुषों के हाथों में है।'[334] स्त्री के साथ इस प्रकार की असमानता सदियों से बनी रही और आज भी कहीं-कहीं व्याप्त है। सवर्ण स्त्रियों को एक हद तक इन क्षेत्रों में पुरुष के समकक्ष अवसर भी मिलने लगे हैं और उनकी नियुक्तियां भी होने लगी हैं किन्तु दलित स्त्री अभी भी इन क्षेत्रों में होने वाली सेवाओं तथा लाभ से वंचित है।

5.1.6 राजनीति और विचारधारा के प्रश्न पर अन्तर (गांधी बनाम डॉ.अम्बेडकर के सन्दर्भ में)

राजनीति और विचारधारा एक ऐसा महत्वपूर्ण पहलू है जिससे कोई भी व्यक्ति अपने आप को अलग कर के नहीं देख सकता है। ध्यान देने योग्य है कि सवर्ण और दलित जातियों की विचारधारा अलग-अलग है। जहाँ सभी दलित लेखिकाएं अपनी प्रेरणा का स्रोत डॉ.अम्बेडकर को मानती हैं और अपनी रचनाओं में उनके आंदोलनों की चर्चा करती हैं वहीं सवर्ण लेखिकाएं अपने लेखन में गांधी के विचारों से

---

[333] दोहरा अभिशाप, पेज नं.77

[334] उद्धृत, जगदीश्वर चतुर्वेदी : स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, मिलेट, केट, 1971/25, पेज नं. 206

अधिक प्रभावित दिखती हैं। वे गांधी के अतिरिक्त नेहरु, मार्क्स की विचारधारों की प्रशंसक के रूप में भी देखी जा सकती हैं, गांधी का जिक्र उनके लेखन में बार-बार आता है किन्तु अम्बेडकर का शायद ही उल्लेख कहीं आता हो। जिस समय राजनीतिक पटल पर गांधी छाये हुए थे उसी समय डॉ.अम्बेडकर भी आंदोलन कर रहे थे।'[335] किन्तु यह वर्चस्वशाली भारतीय हिन्दू समाज तथा मुख्यधारा के साहित्य की गहरी साजिश ही कही जाएगी कि जितना साहित्यिक लेखन में गांधी का जिक्र आता है उतना डॉ.अम्बेडकर का नहीं। यही कारण है कि साहित्य में एक युग को गांधी युग नाम दे दिया जाता है।

भारतीय समाज में सवर्णों द्वारा केवल उन्हीं की जातियों के नेताओं का प्रचार-प्रसार किया जाता था, यहां तक कि साहित्य और इतिहास की पुस्तकों में भी उन्हीं के नेताओं के विषय में लेख और पाठ होते थे। कमोबेश आज भी यही दशा है कि जिसकी सत्ता होती है, वही सरकार अपने ही पूर्वजों और इतिहासपुरुषों को इतिहास पुस्तकों में शामिल करवाते हैं। 2014 से लेकर अब तक एन.सी.आर.टी. की पुस्तकों से की गयी छेड़छाड़ इसके सबूत हैं। इसी तरह से बाबासाहेब के नाम का प्रचार-प्रसार न होने के पीछे के कारणों को लेखक मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में लिखते हैं "मुझे भी बाबा साहेब के बारे में कुछ अधिक मालूम न था। स्कूल में गांधी, नेहरू के बारे में कई बार सुना था। अध्यापक बाबासाहेब का जिक्र तक न करते थे। बस्ती के लोग कभी-कभी बाबासाहेब के बारे में बताते थे, पर उनकी बातों में उतनी गम्भीरता न होती थी। फिर उन दिनों बाबासाहेब का उतना प्रचार भी तो न था।"[336] चूंकि गांधी सवर्ण समाज से थे और पूरे भारतीय समाज के नेता बने हुए थे जबकि डॉ.अम्बेडकर दलित समाज से थे जो राजनीतिक स्तर पर दलितों के नायक के रूप में अपनी सशक्त पहचान बनाते हैं।

सन् 1920 के आस-पास समाज में गहरी अस्पृश्यता और जातिवाद का बोलबाला था और भारतीय हिन्दू जनमानस में दलितों के लिए घृणा का भाव था। इस कारण भी राष्ट्रीय स्तर पर

---

[335] सन् 1919 से अर्थात जब गांधी ने राजनीति में प्रवेश किया तब से मैं राजनीति में रहा हूं। फिर भी मेरा और उनका सफर नहीं मिल पाया। वैसे हमने कई तरह की आफतें मोल ली। महाड़ का सत्याग्रह, नासिक का मंदिर-प्रवेश सत्याग्रह जैसे कई सत्याग्रह किए लेकिन किसी ने सहानुभूति नहीं जताई। समाचारपत्रों में हमारे व्यंग्य चित्र छपते थे। हमारी ओर न वार्ताहर आते थे न हमारी खबरें छपती थीं। खैर! अब तो आते हैं। पहले आवाज देने पर भी नहीं आते थे।'-डॉ.अम्बेडकर .जनता -6 नवंबर, 1954 से उद्धृत, मराठी से अनुवाद: डॉ.गिरीश काशिद।

[336] मोहनदास नैमिशराय (2013) 'अपने-अपने पिंजरे' वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.41

डॉ.अम्बेडकर सवर्णों के हृदय में अपनी जगह नहीं बना पाते हैं। उस समय राष्ट्रीय समाचार पत्रों ने भी अम्बेडकर का एक तरह से बहिष्कार कर रखा था। 'अन्या से अनन्या' में प्रभा खेतान ने नक्सलबाड़ी, मार्क्स की क्रान्ति, माओ, गांधी, इन्दिरा, ज्योतिबसु आदि नेताओं का तो भरपूर वर्णन किया है किन्तु डॉ.अम्बेडकर पर अपनी कलम से एक पैराग्राफ तो छोड़ दें एक वाक्य या यूं कहें कि नाम लेना तक जरूरी नहीं समझा। इस संबंध में 'अन्या से अनन्या' और 'शिकंजे का दर्द' की तुलना करते हुए युवा आलोचक किंगसन सिंह पटेल अपने लेख 'स्त्री पराधीनता के आयाम' में लिखती हैं कि-"प्रभा खेतान की आत्मकथा को पढ़ते हुए लगता है कि जैसे वे राजनैतिक हलचलों के बीच में रह रही हों। भारत-चीन युद्ध, कम्यूनिस्ट पार्टी में मतभेद, नक्सलबाड़ी आंदोलन, आपातकाल इत्यादि घटनाओं की चर्चा पर्याप्त विस्तार के साथ 'अन्या से अनन्या' में हुई है, लेकिन इनमें से ज़्यादातर की चर्चा बौद्धिक विश्लेषण के रूप में ही आई है। इसकी तुलना में 'शिकंजे का दर्द' राजनीति से लगभग असम्पृक्त दिखाई देती है। 1962 के भारत-चीन युद्ध और इंदिरा गांधी की हत्या की सूचना उसमें मिलती है। टाकभौरे गांधी और अम्बेडकर की चर्चा बार-बार करती हैं। गांधी के अछूतोद्धार कार्यक्रम को वे षड्यन्त्र बताती हैं और डॉ.अम्बेडकर को दलितों का महापुरुष। गांधीजी के प्रयासों की उनकी व्याख्या इतना तो बताती ही है कि गांधी के प्रयासों को दलित अपर्याप्त मानते हैं। यह बात ग़ौरतलब है कि डॉ.अम्बेडकर ने दलितों के साथ-साथ स्त्रियों के अधिकारों के लिए भी जोरदार संघर्ष किया था। ऐसे में यह बात सचमुच अजीब लगती है कि महात्मा गांधी, इन्दिरा गांधी, ज्योति बसु और बुद्धदेव भट्टाचार्य सरीखे ढेरों नेताओं की विस्तार से चर्चा करने वाली 'अन्या से अनन्या' में अम्बेडकर का जिक्र क्यों नहीं आता।"[337] इसके इतर मैत्रेयी पुष्पा भी अपनी आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में गांधी का उल्लेख करती हैं भले ही उनकी माता के लिए गांधी एक युग-पुरुष और स्त्री शिक्षा के प्रचारक के रूप में ही क्यों न आएं हों। वे अपनी आत्मकथा में लिखती हैं–"मेरा भरोसा करो दादा जी। मैं अपनी बेटी को पढ़ा-लिखा कर बड़ा करूंगी कि मेरे तुम्हारे बाद वह अपने दुश्मनों का मुकाबला करे।' फिर क्या था, पांव खोल दिए कस्तूरी ने। जमींदार की संगत, हवेली वाली सखी का सान्निध्य और हवेली में होती गांधी-नेहरू की बातें।....कस्तूरी के स्त्री जीवन ने करवट लिया। बन्धक ज़िन्दगी मुक्त होना चाहती हैं। देश में गूंजती

[337] सं.संजीव चन्दन, अतिथि संपादक.अनिता भारती: स्त्रीकाल, अंक-दलित स्त्रीवाद, अंक-9, सितम्बर, 2013, पेज नं.128

नेताओं की वाणी से जो सूत्रवाक्य निकलते, उनमें से एक वाक्य था स्त्री-शिक्षा ।"[338] आत्मकथा में जहाँ पर स्त्री-शिक्षा का वर्णन है वहां भी गांधीजी की ही वकालत की गयी है.."गांव-कस्बों की तक़दीर में उच्चशिक्षा के बालिका विद्यालय या महिला कॉलेज सपने में भी नहीं । गांधीजी ने स्त्रियों की शिक्षा पर जोर दिया था, माँ याद करती हैं ।"[339] यहां एक सवाल ज़हन में आता है कि देश में जिन नेताओं की गूंज की चर्चा मैत्रेयी अपनी आत्मकथा में करती हैं क्या उनमें डॉ.अम्बेडकर का नाम नहीं आता है ? यह तो स्पष्ट है कि उच्च जाति की जो भावना है वह इन सवर्ण लेखिकाओं में भी काम करती है जिसके कारण वे अपने वर्ग और वर्ण के नेताओं का ही उल्लेख करती हैं भले ही लेखन में चाहे वे कितनी भी प्रगतिशील क्यों न कहलायें । जबकि दलित लेखिकाएं डॉ.अम्बेडकर से ऊर्जा ग्रहण करती हैं और उनके आंदोलनों तथा महत्वपूर्ण योगदानों का उल्लेख करना नहीं भूलतीं ।

दलित समाज में स्त्री शिक्षा की चेतना विकसित करने का अभियान ज्योतिबा फुले और सावित्रीबाई फुले ने चलाया । बाबासाहेब अम्बेडकर ने भी दलितों और स्त्रियों की शिक्षा पर जोर दिया । दलित स्त्री आत्मकथाओं में इसका उल्लेख मिलता है । जहां 'दोहरा अभिशाप' में कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं- ''माँ-बाबा को सबकी पढ़ाई का खर्चा उठाने में बहुत दिक्कत पड़ती थी, फिर भी उन्होंने हमें पढ़ाना जारी रखा । उन्होंने बाबा साहब आंबेडकर का कस्तूरचंद पार्क में भाषण सुना था कि अपनी प्रगति करनी है तो शिक्षा प्राप्त करना बहुत ज़रूरी है ।"[340] वहीं सुशीला टाकभौरे 'शिकंजे का दर्द' में लिखती हैं..... "बाबासाहेब डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने अपने शोषित, पीड़ित, दलित वर्ग को जगाया, उन्हें देखना, सुनना, बोलना सिखाया । स्वतन्त्र भारत के संविधान में समता, स्वन्त्रता और सम्मान का अधिकार देकर उन्हें अधिकारों के लिए लड़ना सिखाया ।"[341] दलित लेखिकाएं डॉ.अम्बेडकर के योगदान के विषय में इसलिए विस्तार से चर्चा करती हैं क्योंकि अगर वे न होते तो शायद ही उन्हें शिक्षा का अधिकार और संवैधानिक अधिकार मिल पाता ।

---

[338] मैत्रेयी पुष्पा (2009) कस्तूरी कुंडल बसै, राजकमल प्रकाशन, पेज नं.30

[339] वही, पेज नं.120

[340] दोहरा अभिशाप: पेज नं.47

[341] शिकंजे का दर्द, पेज नं.मनोगत

ध्यान देने योग्य है कि 'भारतीय संविधान' के जनक और 'हिन्दू कोड बिल' के निर्माता डॉ.अम्बेडकर समस्त स्त्री समाज के लिए आंदोलन कर रहे थे। उनके लिए जितनी दलित महिलाओं की समस्याएं जरुरी थीं उतनी ही सवर्ण महिलाओं की चिन्ताएं भी। भारतीय समाज में स्त्री पराधीन थी। स्त्रियों के लिए डॉ.अम्बेडकर ने संविधान में मौलिक अधिकार देकर उनकी स्वतन्त्रता के लिए महत्वपूर्ण पहल की। किन्तु यह बहुत ही दुःखद है कि सवर्ण स्त्री लेखिकाएं अपने लेखन में बाबासाहेब अम्बेडकर के योगदान का उल्लेख तक नहीं करती हैं। श्यौराज सिंह बेचैन लिखते हैं.."यह यथार्थ सत्य है कि तलाक, सम्पत्ति का अधिकार आदि का उपभोग अभिजात वर्गीय महिलाओं ने ही खासकर किया है। किन्तु वे अम्बेडकर के प्रति जरा भी कृतज्ञ हों ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता।' वे सुरेन्द्र मोहन जी के हवाले से आगे लिखते हैं..'हिन्दूकोड बिल' को कानून बनवाने में अम्बेडकर ने अपनी पूरी शक्ति लगाई, असफल होने पर मंत्रिमंडल से त्याग-पत्र भी दिया किन्तु महिला संगठनों तक ने उनकी इस बुनियादी भूमिका का स्मरण तक नहीं किया।' स्त्री संगठनों की ओर से हिकारत का सिलसिला आज भी जारी है। अम्बेडकर के स्त्री विषयक चिंतन को एकांगी और केवल दलित जातियों की स्त्रियों तक सीमित किया जा रहा है। संपूर्णता में पूरा स्त्री समाज दलित है इसे नकारा नहीं जा सकता।"[342]

सवर्ण लेखिकाएं गांधी का जिक्र करती हैं, उनकी विचारधाराओं से सहमत हैं तथा उनका अनुकरण भी करती हैं। प्रभा खेतान, मृदुला गर्ग और चित्रा मुद्गल तथा अन्य सवर्ण लेखिकाओं के यहाँ यह देखने को मिलेगा कि वे गांधी से ज़्यादा प्रभावित हैं। वे जिस पृष्ठभूमि और दौर का वर्णन अपनी रचनाओं में करती हैं उसी दौर में डॉ.अम्बेडकर भी मौजूद थे और उसी पृष्ठभूमि पर रहकर वे दलितों के उत्थान तथा स्त्री की समस्याओं को देश और सामाजिक पटल पर रखकर बात कर रहे थे। किन्तु सवर्ण लेखिकाएं डॉ.अम्बेडकर की अपेक्षा गांधी के योगदान को अधिक उद्धृत किया है। चित्रा मुद्गल ने 'आवां' उपन्यास में जिस दलित पात्र 'पवार' का वर्णन किया है उसके हवाले से वह जाति के मुद्दे को अपने लेखन में शामिल करती हैं किन्तु वहां भी डॉ.अम्बेडकर का वर्णन नहीं आता जबकि गांधीजी का वर्णन बार-बार आता है। गांधी से प्रभावित उपन्यास में श्रमजीवा की शाहबेन कहती हैं..."वह भी

[342] श्यौराज सिंह बेचैन : स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, पेज नं.72

समय था । आज़ादी की लड़ाई में बापू के आवाहन पर हम अपना सर्वस्वदान कर सत्याग्रह में कूद पड़े ।"[343]

हिन्दी का स्त्री लेखन बात-बात पर पश्चिम के नारीवादी आंदोलन का उद्धरण देता है और कई स्तरों पर वह उन्हें अपनी ऊर्जा का स्रोत भी मानता है । भारत में भी आज़ादी से पहले कई नारीवादी आंदोलन चले, बहुत से संगठन बने, स्त्री मुद्दों को लेकर भारत की बहुत सी स्त्रियों ने मिलकर संघर्ष किया । चिपको आंदोलन, शराब बन्द आंदोलन, दहेज प्रथा के विरूद्ध आंदोलन इत्यादि बड़े-बड़े आंदोलन भारत के नारीवादी आंदोलनों ने किया किन्तु यह बहुत बड़ी विडम्बना ही कही जायेगी कि हिन्दी के सवर्ण स्त्री लेखन का इन आंदोलनों से कोई सरोकार नहीं दिखाई देता है । सवर्ण स्त्री लेखन की यह कमी ही कही जायेगी कि वे किसी भी आंदोलन से कोई विचारधारा ग्रहण नहीं करती हैं और न ही किसी को अपना आइकन मानती हैं । जबकि दलित स्त्री लेखन अपने लेखन का स्रोत डॉ.अम्बेडकर, ज्योतिबाफुले-सावित्रीबाई फुले इत्यादि को मानता है । सुशीला टाकभौरे अपने उपन्यासों 'नीला 'आकाश' और 'तुम्हें बदलना होगा' में भी इन प्रेरणास्रोतों का जिक्र करती हैं । वे नीला आकाश में डॉ.अम्बेडकर के महान कार्यों हिन्दू कोड बिल, अस्पृश्यता उन्मूलन अभियान, समता, स्वतन्त्रता, बंधुत्व का दृष्टिकोण और 'शिक्षा, संगठन और संघर्ष' के मूलमंत्र को स्थापित करती हैं । बाबासाहेब की विचारधारा उनके आचरण-व्यवहार और लेखन में पग-पग प्रतिलक्षित होती है । वे इसी आदर्श को अपने उपन्यास में स्थापित करती हैं.."नीलिमा और आकाश केवल एक वधू और वर के नाम नहीं हैं । बल्कि ये दोनों मिलकर एक नये नीले आसमान का निर्माण करेगें-जो हम सबका होगा । हमारा अपना नीला आकाश ! इस नीले आकाश की नई दुनिया हमारी होगी । यहां कोई ऊंच-नीच, छोटा-बड़ा नहीं होगा । सभी दलित जातियां मिलजुलकर एकता के साथ संगठित होकर रहेंगी । वे अपना आपस का जातिभेद भूलकर, समता, सम्मान और बन्धुभाव के साथ, प्रगति के पथ पर आगे बढ़ेंगे ।..हम दलित भी ऊंचाईयों को छू सकेंगे । सामाजिक आंदोलन का नीला झंडा हम आकाश तक फहराएंगे ।"[344] वे अपने लेखन में दलित नायकों के अमिट योगदान की चर्चा करती हैं.. 'महिमा ने अपने पंलग पर सिरहाने रखी

[343] आवां, पेज नं.168

[344] सुशीला टाकभौरे (2013) नीला आकाश, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर, पेज नं.104

पुस्तकों को उठाया । वह एक-एक पुस्तक के पन्ने पलटती रही, छत्रपति शाहू महाराज, महात्मा ज्योतिराव फुले, सावित्रीबाई फुले, डॉ.भीमराव अम्बेडकर, पेरियार रामास्वामी, इनके कार्यों और विचारों से ही वह प्रेरणा प्राप्त करती है । थककर जब महिमा ने अपनी आंखे बंद कीं, तब बंद आंखों के सामाने अंधेरा नहीं प्रकाश था । हजारों जलते हुए दीपों का प्रकाश, "अप्प दीपों भव ।"[345] इसके अतिरिक्त वह उन गैर-दलित विचारकों (पण्डिता रमाबाई) को भी अपना प्रेरणास्रोत मानता है जिन्होंने जाति के ख़िलाफ़ समय-समय पर आंदोलन चलाए । दलित स्त्रीवाद ने पूर्वाग्रह और लैंगिक भेदभाव से मुक्त होकर स्त्री मुद्दों पर काम करने वाले लोगों को अपना प्रेरणा स्रोत बनाया । दलित स्त्रीवाद ने पण्डिता रमाबाई, ताराबाई शिंदे, फातिमा शेख, छत्रपति साहूजी, राजकुमारी अमृतकौर, दुर्गाबाई देशमुख को अपना आइकन माना है । उनका मानना है कि 'जिसने भी जाति और लिंग आधारित असमानता के ख़िलाफ़ ईमानदारी से जंग छेड़ी, और जाति तोड़ने की दिशा में दलित हितों के अनुरुप काम किया है, दलित स्त्रीवाद ने अपने आधार स्तम्भ के रूप में उनको सहर्ष स्वीकार कर लिया है ।'[346] इस प्रकार जाति, धर्म, लिंग आदि भावनाओं से ऊपर उठकर इन्सानी हक़ीकत की लड़ाई में दलित स्त्रीवाद सबको साथ लेकर चलने का हिमायती है ।

5.2 सामाजिक कुरीतियां तथा अन्य मुद्दों को लेकर अन्तर

दलित लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथा में बहुत से स्त्री मुद्दों और सामाजिक मुद्दों को उठाया है । जिनमें बाल-विवाह, अनमेल विवाह और बहु-विवाह इत्यादि समस्याएं भी हैं । सवर्ण लेखिकाओं में मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में अपनी माँ के जबरन बेमेल विवाह के संघर्ष को दिखाया है जहाँ वे अपने उम्र से बहुत बड़े व्यक्ति से शादी करने से इनकार करती हैं । किन्तु यह संघर्ष केवल उनका संघर्ष है जिसमें समाज की अन्य महिलाओं के इस तरह के विवाह का वर्णन नहीं आता और वह सामाजिक सजगता न बनकर केवल व्यक्तिगत सजगता तक ही सीमित दिखायी देता है । इसके इतर 'अन्या से अनन्या' में 'प्रभा खेतान स्वयं अपने से 20 साल बड़े डॉ.सर्राफ से प्रेम करती हैं और उनके साथ अपनी पूरी ज़िन्दगी निभाने का फैसला करती हैं । यहाँ प्रभा खेतान का अपने जीवन का

---

345 सुशीला टाकभौरे, तुम्हें बदलना होगा, शिल्पायन प्रकाशन, पेज नं.61

346 दलित स्त्रीवाद, स्त्रीकाल, पेज नं.6

निजी फैसला है। क्योंकि डॉ.सर्राफ से वह प्रेम करती हैं जहाँ उम्र कोई बाधा नहीं है। यहाँ स्थिति में बड़ा मोड़ तब आता जब प्रभा खेतान की शादी किसी बड़े उम्र दराज व्यक्ति से जबरन कर दी जाती। लेकिन ऐसी स्थिति यहाँ नहीं है। जबकि कौसल्या बैसंत्री सामाजिक विषमता और ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था का पड़ताल करते हुए चलती हैं और उन कारणों को भी स्पष्ट करती हैं जिनमें मजबूरन माँ-बाप को अपने बच्चों का बाल-विवाह, अनमेल विवाह करना पड़ता है। अपनी आत्मकथा में कौसल्या बैसंत्री लिखती हैं.."आदमी कितना ही दृढ़ हो फिर भी सामाजिक बंधनों के आगे उसे झुकना ही पड़ता है। कुछ रीति-रिवाजों को मानना ही पड़ता है। माँ-बाबा का बड़ी बहन को आगे पढ़ाने का बहुत मन था। माँ चाहती थीं कि बहन पढ़कर कम-से-कम प्राइमरी शिक्षिका बनें। परंतु उनका विवाह करना भी ज़रुरी था, क्योंकि ज़्यादा बड़ी होने पर लड़का मिलना मुश्किल काम था। उपजातियों में भी विवाह नहीं होते थे, इसलिए भी विवाह के लिए दिक्कत आती थी।..आम महार जाति के लोग भी कम पढ़े-लिखे थे। बहन ने चौथी कक्षा तक की पढ़ाई की थी, बहन की शादी पक्की कर दी गई। वे आगे नहीं पढ़ पाई। इसका तो हमेशा दुःख रहा। बहन की जब शादी हुई, उस वक्त माँ अट्ठाईस या उनतीस वर्ष की होगी।"[347]

'शिकंजे का दर्द' में सुशीला टाकभौरे का विवाह उनके उम्र से कहीं ज़्यादा बड़े सुन्दरलाल टाकभौरे से इसलिए कर दिया जाता है क्योंकि दलित समाज में ज़्यादा पढ़ा-लिखा व्यक्ति नहीं मिलता है। इसका अफसोस उन्हें अपने जीवन में होता है। वे लिखती हैं..."दुबले-पतले, मध्यम कद और गेहुआं रंग के टाकभौरेजी के सिर पर सामने बाल नहीं थे। उन्होंने सिर के पीछे के बाल घुमाकर सामने किये थे। उनकी उम्र अधिक दिख रही थी।"[348] सुन्दरलाल टाकभौरे द्वारा और उनके घर वालों द्वारा सही उम्र की जानकारी नहीं दी गयी जिसके कारण सुशीला टाकभौरे का विवाह अपने से अधिक उम्र के व्यक्ति के साथ तय कर दी जाती है। लेखिका को भी स्त्रियों पर सामाजिक मानदण्डों और बंधनों के कारण सही जानकारी ही नहीं थी कि लड़का और लड़की की शादी की उम्र में कितना अन्तर होना चाहिए। समाज में स्त्री को प्रश्न करने का अधिकार ही नहीं दिया गया है और अपने जीवन के फैसले

[347] दोहरा अभिशाप, पेज नं.39-40

[348] शिकंजे का दर्द, पेज नं.128

लेने तक की छूट उसे नहीं है जिसका ख़ामियाज़ा आगे जाकर लेखिका को भुगतना पड़ता है। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि.."सच पूछा जाये तो मुझे यह ज्ञान ही नहीं था, शादी कितनी उम्र वाले से की जाती है। समाज में 5-10 साल छोटी पत्नी रहना आम बात मानी जाती थी। जैसे श्रद्धा मैं अपने शिक्षकों के प्रति रखती थी, वैसे ही श्रद्धाभाव से मैंने टाकभौरे जी को देखा था।"[349]

दलित लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथा के माध्यम से समाज में स्त्री समस्या बाल-विवाह, अनमेल विवाह और बहुविवाह के दारुण चित्रों को भी रेखांकित किया है। दोनों लेखिकाओं ने अपने-अपने जीवन में इन स्थितियों से मुठभेड़ किया है। सवर्ण लेखिकाओं ने भले ही अपने निजी जीवन में इन समस्याओं का सामना न किया हो किन्तु आजाद भारत में यह समस्या आज भी बरकरार है जिससे नज़रें नहीं फेंरी जा सकती हैं। अगर हम भारतीय समाज में स्त्री मुद्दों की बात करते हैं और उसमें भी बाल-विवाह, अनमेल विवाह, विधवा विवाह जैसे ज़रुरी स्त्री-मुद्दों की बात नहीं करें तो भारत में स्त्री समस्याओं के यथार्थ से अपना पीछा छुड़ाना ही कहलायेगा जो कि स्त्री लेखन के लिए बहुत ही शर्म की बात होगी।

5.3 स्त्री साहित्य: देह विमर्श, दलित स्त्री साहित्य: अस्मिता और अस्तिव का सवाल

हिन्दी की सवर्ण लेखिकाओं का स्त्री विमर्श देह पर केन्द्रित, स्त्री-पुरुष संबंधों, दाम्पत्य जीवन, यौन-समस्याओं तथा घरेलू हिंसा पर आधारित है। सवर्ण लेखिकाओं ने अपने लेखन में स्त्री की यौनिकता, देह की स्वतन्त्रता, देह पर अधिकार, यौन मुक्ति और उनके साथ हुई घरेलू हिंसा आदि सवालों को ज़्यादा तरजीह दी है। उनके लेखन के केन्द्र में अधिकतर यही सवाल मौजूद हैं। जबकि एक स्त्री जगत को देखते हुए उन्होंने गरीबी का मुद्दा और जाति के सवाल को उतना नहीं उठाया। उनके लेखन में सवर्ण जातिगत सीमाओं के कारण दलित स्त्रियाँ जगह ही नहीं घेर पातीं हैं। अगर दलित पुरुष और दलित समाज आता भी है तो उसका चरित्र उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना उनके स्वयं के मुद्दे। इस विषय पर किंगसन सिंह पटेल सटीक आलोचना करते हुए लिखती हैं कि.."स्त्री विमर्श के केन्द्र में प्रायः मध्यवर्गीय स्त्रियाँ और उनकी समस्याओं को ही केन्द्रीय जगह मिली हुई है। यहाँ भी स्त्री-पुरुष संबंध

[349] वही, पेज नं.129

मुख्य विषयवस्तु के रूप में है, इसलिए यौन आधारित उत्पीड़न और उसकी दुविधाएं केंद्र में है। इन उत्पीड़नों की भी समस्या यह है कि इसमें जमींदार पितृसत्ता, सवर्ण पितृसत्ता तथा अछूत पितृसत्ता द्वारा होने वाले शोषण नहीं दिखाये गये हैं।' ग्रामीण जीवन पर आधारित मैत्रेयी के उपन्यासों की सबसे बड़ी सीमा यह है कि उसमें ग्रामीण संरचना में निहित स्त्री उत्पीड़न के अंतःसूत्रों की तलाश नहीं की गयी है। अधिकांश लेखिकाओं ने गांव पर ऊपर-ऊपर से लिखा है। ग्रामीण वर्चस्ववादी राजनीति, नैतिकता-मूल्य, पितृसत्तात्मक जाति-व्यवस्था, छुआछूत, धर्म आदि का ग्रामीण स्त्री के जीवन को कैसे नारकीय बना देते हैं, की घटनाएं और गहन विश्लेषण गायब हैं।"[350]

ग्रामीण जीवन को लेकर मैत्रेयी पुष्पा अपना लेखन करती आयी हैं। उन्होंने अपने लेखन में भारतीय स्त्री विशेष रूप से ग्रामीण स्त्री की समाज में बदलती भूमिका को रेखांकित किया है। अपने लेखन में वे एक बदले तथा नए रूप में स्वतन्त्र स्त्री की छवि जो अपने उसूलों पर जीने का माद्दा रखती हो, को स्थापित करती हैं जैसा कि 'चाक' और 'अल्मा कबूतरी' की नायिका 'सारंग' और 'अल्मा' को प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने उतारा है। जहाँ 'चाक' में रेशम की हत्या से वे अपने उपन्यास का कलेवर रचती हैं और सारंग के द्वारा एक ऐसी स्त्री की छवि को प्रस्तुत करती हैं जो ग्रामीण स्त्री की उस बनी-बनायी पारम्परिक छवि को बहुत दूर जा फेंकती है जिसे मनुवादी, ब्राह्मणवादी पितृसत्ता ने सदियों से पाल-पोस रखा था। वे पितृसत्ता के बने-बनाये नियमों को छिन्न-भिन्न करती हैं जिसमें स्त्री को नैतिकता, मर्यादा, यौन-शुचिता को इज्जत का नाम देकर घर की चारदीवारी में अभी तक बांधा गया था। 'चाक' की 'सारंग' तथा कुछ और स्त्रियाँ जिसमें रेशम, गुलकंदी, कलावती चाची इत्यादि सभी अपनी स्त्री इच्छाओं को जीती हैं जिसमें उनकी यौनिक आज़ादी भी शामिल है। लक्ष्मण-रेखा को पार करती ये आधुनिक स्त्रियाँ मनुवादी संहिताओं के चिथड़े-चिथड़े करती हैं। 'चाक' की सारंग प्रेम करती है, 'नाटक' की पटकथा भी श्रीधर के साथ मिलकर तैयार करती है, चुनाव में खड़ी होती है और उन पुरुषों तथा पतियों को ठेंगा भी दिखाती है जो स्त्री को उसकी पारम्परिक छवि और दायरे से बाहर नहीं निकलते हुए देखना चाहते हैं। उपन्यास में सारंग गांव की समस्त स्त्री समाज और आने वाली पीढ़ियों के लिए भी एक मिसाल बनती है।

---

[350] किंगसन सिंह पटेल:विमर्श और दलित स्त्री, पेज नं.156

मैत्रेयी पुष्पा के 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास को 'चाक' के अगले क्रम के रूप में पढ़ा जाना चाहिए भले ही इसकी पृष्ठभूमि कबूतरा जनजाति और कज्जाओं के संघर्ष को लेकर लिखी गयी है किन्तु जहाँ 'चाक' में सारंग चुनाव में अपना पर्चा दाखिला करती है वहीं 'अल्मा कबूतरी' में अल्मा एक उभरती हुई राजनीतिक नेता के रूप में दिखायी देती है। 'अल्मा कबूतरी' कबूतरा जनजाति के संघर्ष का यथार्थ है तथा इसमें स्त्री की तीन पीढ़ियों को दिखाया गया है। पहली पीढ़ी भूरीबाई की है, दूसरी कदमबाई की और तीसरी अल्मा की है। तीनों स्त्रियों का अपने जीवन में अपना-अपना संघर्ष रहा है। मैत्रेयी पुष्पा अपने उपन्यास में स्त्री के देह विमर्श को उठाते हुए उन पहलुओं को रेखांकित करती हैं जिसमें स्त्री को लोग देह से ऊपर कुछ समझते ही नहीं हैं। इसीलिए उपन्यास में भूरीबाई का वहां की पुलिस, कदमबाई का कज्जा वर्ग का 'मंसाराम' और नेता श्रीरामशास्त्री द्वारा अल्मा का यौन-शोषण होता रहता है। मैत्रेयी पुष्पा स्त्री को अपनी मंजिल तक पहुंचने के लिए इसे बाधक नहीं मानती हैं अभी तक जिस यौन-शुचिता का राग अलापा जाता रहा है उससे बहुत दूर निकल कर मैत्रेयी पुष्पा की ये नायिकायें अपने लक्ष्य को प्राप्त करती हैं। इसके बावजूद स्त्री की बहुत सी ऐसी समस्याएं हैं जिसे मैत्रेयी पुष्पा अपने लेखन में शामिल करना जरुरी नहीं समझती हैं। उनके लेखन में जाति और वर्ग का सवाल जिससे एक स्त्री हर रोज जूझती है, आता ही नहीं है। ग्रामीण साहित्य का समाजशास्त्र एक विस्तृत और व्यापक मुद्दों की पड़ताल करने की माँग करता है और खासतौर पर जब हम स्त्री के मुद्दों की चर्चा कर रहे हों तब हमारी भूमिका और भी अधिक बढ़ जाती है।

ग्रामीण परिवेश और जन-जीवन में स्त्रियों की अत्यन्त नारकीय स्थिति है। उनको पानी जैसी मूलभूत समस्या से जूझना पड़ता है। एक दलित स्त्री के लिए यह समस्या तो और भी अधिक भयानक है क्योंकि स्वच्छ पानी के लिए उसे कोसों दूर बड़े-बड़े बर्तन लेकर जाना पड़ता है। यहाँ तक कि अस्पृश्यता का दंश भी उसे भुगतना पड़ता है क्योंकि गांवों में कुएं या तो ब्राह्मणों, जमींदारों के हैं या फिर ठाकुरों के जिसके कारण उन्हें स्वच्छ पानी भी नसीब नहीं हो पाता। यहाँ ओमप्रकाश वाल्मीकि जी की 'ठाकुर का कुंआ' कविता उद्धृत करना प्रासंगिक होगा –

'खेत ठाकुर का।
बैल ठाकुर का/ हल ठाकुर का/ हल की मूठ पर हथेली अपनी/ फसल ठाकुर की।
कुआं ठाकुर का/ पानी ठाकुर का/ खेत-खलिहान ठाकुर के/ गली-मुहल्ले ठाकुर के

फिर अपना क्या? गांव?
शहर?
देश?'[351]

दलित स्त्रियों के पास अपने खेत नहीं हैं, चूल्हा जलाने के लिए लकड़ियां नहीं है जिसे ग्रामीण दलित स्त्री प्रतिदिन जंगलों में जाकर चुनती है, अन्न के लिए दूसरों के खेतों में जाकर मजदूरी करती हैं। शौचालय के न होने के कारण शौच के लिए तड़के सुबह रोज उठ कर उन्हें खेतों में जाना पड़ता है। इन्हीं समस्याओं के चलते आए दिन उन्हें बलात्कार और यौन-शोषण का भी सामना करना पड़ता है। गांवों में अस्पताल न होने के कारण मेडिकल जांच भी नहीं हो पाती, पुलिस और कानून की व्यवस्था न होने से अपने साथ हुए शोषण की वे रपट भी नहीं लिखा सकतीं हैं। बहुजुठाई जैसी प्रथा आज भी गावों में जीवित है, जमींदारों और ठाकुरों के द्वारा निरन्तर अपने देह का शोषण होते देखना उनकी मजबूरी है। कर्ज की समस्या, शिक्षा की सही व्यवस्था न होने और गांवों से स्कूल बहुत दूर होने के कारण बहुत सी लड़कियों को छोटी उम्र में ही स्कूल छोड़ देना पड़ता है। बेरोजगारी, स्वास्थ्य जैसी समस्या कुपोषण, अशिक्षा ये ग्रामीण जीवन की तमाम ऐसी यथार्थगत समस्याएं हैं जिस पर सवर्ण लेखिकाओं ने अपनी लेखनी चलाना जरुरी नहीं समझा है।

मैत्रेयी पुष्पा के लेखन में दलित पुरुष तो आते हैं किन्तु दलित स्त्री की उपस्थिति कहीं देखने को नहीं मिलती। अपने जातिवादी और वर्गवादी संस्कार के चलते वे सामाजिक वास्तविकता को पुरुषों की साजिश बताती हैं । स्त्री, जाति और वर्ग के सवाल पर उनका मानना है कि जाति-पाति स्त्रियों के लिए कोई मायने नहीं रखते। 'कितनी बार कहें कि हम स्त्रियों की कोई जाति नहीं होती, कोई धर्म नहीं होता, कोई वर्ण नहीं होता। यह तो ऋषि-मुनियों ने मनु और याज्ञवल्क्य ने पुरुषों से जोड़कर हमारे धर्म और जाति के लिए नियम बना दिए हैं।"[352] यहां मैत्रेयी पुष्पा बड़ी आसानी से समाज में व्याप्त सामाजिक सच्चाई को ऋषि-मुनियों के मत्थे मढ़ देती हैं। यही कारण भी है कि उनके लेखन में ग्रामीण स्त्रियाँ तो हैं किन्तु इस ग्रामीण परिवेश में दलित स्त्रियों का उत्पीड़न कहीं दिखाई नहीं देता। खेत-खलिहानों में कड़ी धूप में काम करती स्त्री, खदानों में काम करती दलित स्त्री, ईंट-भट्टों में काम करती

---

[351] ओमप्रकाश वाल्मीकि, 'ठाकुर का कुंआ', सं.कंवल भारती, दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-2006, पेज नं.56

[352] मैत्रेयी पुष्पा, मान न मान मैं तेरा मेहरबान, कथादेश, जून.2003, पेज नं.60

मजदूर स्त्री, सड़कों पर पत्थर तोड़ती स्त्री, कूड़े-बीनती स्त्रियों की समस्याओं को आखिर नज़रअंदाज क्यों किया जा रहा है ? इनके प्रश्न क्यों नहीं उठाये जा रहे हैं ? अजय वर्मा अपने लेख 'स्त्री आत्मकथा और भारतीय नारीवाद' में मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा के विषय में लिखते हैं.."अपनी अति महत्वाकांक्षा के कारण मैत्रेयी स्त्री-मुक्ति के जटिल विमर्श को समझ ही नहीं पाई हैं, न ही भारतीय स्त्रियों की समस्याओं, उत्पीड़न के विविध कारकों को।"[353]

सवर्ण नारीवादियों ने दलित स्त्री के एक भी मुद्दे को अपने लेखन में जगह नहीं दी। यह घोर उपेक्षा दलित स्त्रियों के निम्न जाति से संबंध होने के कारण दिखायी देती है क्योंकि सारा का सारा खेल उच्च जाति की दंभता का है। अनिता भारती लिखती हैं कि..."दलित स्त्रियाँ जिस शारीरिक उत्पीड़न, घृणा, अस्पृश्यता व भेदभाव की शिकार हैं आज तक स्त्री आंदोलन व स्त्री समूहों ने उन मुद्दों को कभी नहीं उठाया। दलित महिलाओं के जातीय कलंक से जुड़े पेशे चाहे वह 'देवदासी' प्रथा हो अथवा 'बेड़नी' प्रथा या फिर डायन-चुड़ैल के नाम पर पत्थरों से मार दिया जाना हो या जातीय टोटम के नाम पर उनके नाक, पैर, हाथ, काट दिए जाने वाला मुद्दा, स्त्री आंदोलन में इसके लिए जगह नहीं। गांव में आज भी दलित स्त्रियों को सार्वजनिक कुओं से पानी नहीं भरने दिया जाता। कहीं-कहीं तो वे ऊंची जाति के लोगों के आगे चप्पल तक नहीं पहन सकतीं। लेकिन कभी इन्हें आंदोलनों में लीडरशिप देने का मौका उस अंग्रेजी भाषी माहौल में नहीं मिला।"[354] इस बात में पूरी सच्चाई है कि दलित स्त्री की समस्याओं को केन्द्र में रखकर सवर्ण स्त्रियों द्वारा अभी तक लेखन नहीं किया जा रहा है। तमाम ऐसे सवाल हैं जो नारीवादी लेखन से पूछे जाने की ज़रूरत है।

स्त्री साहित्य में देह की स्वतन्त्रता केन्द्र में है। सवर्ण स्त्री देह की मुक्ति से ही स्त्री-पुरुष समानता को निर्धारित मानती है। इस संबंध में शंभुनाथ लिखते हैं-'स्त्री को समाज में पुरुष की तरह एक पूर्ण व्यक्ति की हैसियत मिले, इसके लिए स्त्री को देह की स्वतन्त्रता चाहिए, यह स्त्रीवादी आन्दोलनों की एक प्रमुख माँग है।'[355] जहां तक स्त्री-पुरुष संबंधों का सवाल है, तो संबंधों को लेकर जितना खुलापन

---

[353] संवेद-54 :जुलाई-2012, पेज नं.36

[354] अनिता भारती, समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.151

[355] शंभुनाथ: हिन्दी उपन्यास :राष्ट्र और हाशिया, पेज नं.287

सवर्ण लेखिकाओं के लेखन में दिखाई देता है उतना खुलापन दलित लेखिकाओं के यहां नहीं दिखायी देता है। सवर्ण लेखिकाओं की नारी पात्र इतनी महत्वाकांक्षी है कि पर-पुरुष से दैहिक संबंध बनाने में जरा सा भी संकोच नहीं करती हैं। उनके लिए देह संबंध बनाना स्त्री की स्वतन्त्रता का निजी मामला है। नैतिकता, मर्यादा जैसे तमाम रुढ़िवादी संस्कार को भले वे तोड़ती हों। किन्तु एक पुरुष से तृप्ति न मिल पाने के कारण या अपने पतियों से प्रताड़ित हुई वे दूसरे पुरुष की तलाश में आगे निकलती हैं। चाहे 'चाक' की सांरग हो, 'अल्मा कबूतरी' की कदमबाई हो, 'आवां' की स्मिता, नमिता, गौतमी, 'कठगुलाब' की नमिता हो। मैत्रेयी पुष्पा के यहाँ देह का विमर्श इतना ज़्यादा प्रबल है कि वहां उम्र का भी कोई लिहाज नहीं, 'चाक' का एक दृश्य जब कलावती चाची कैलासी पहलवान की मर्दानगी को फिर से जीवित कर देती हैं... "लाज लिहाज त्याग कर दो। उमर का भेद नहीं रह गया हमारे बीच। इस घड़ी तुम मर्द और मैं बेयर..सारंग, जो काम उस नासियां को करने थे, सो मैंने किए। मरी मरदानी को हाथ फेर-फेरकर चेतन्त किया और तुरत ही अपने लत्त खोल के एक ओर पटक दिए। जता दिया, समझा दिया कि मेरा कुछ नहीं बिगड़ा जाता। और फिर ये तो देह रहते के खेल हैं रे। पाप-पुन्न मत सोचना। लल्लू बड़ी देर से निरदन्द भए, पर जब निरदन्द हो गए तो समझ ले कि मेरी आंखों के अगारी पूरे पुरिख होकर ठाड़े हो गए। मैंने उस लल्लू को छाती से चिपकाकर, हार और जीत के आनन्द में डुबो लिया। रस ही रस फिर तो। ऐ मेरे भगमान, ऐसा दिन भी आया था मेरी जिन्दगानी में ? सुरगसैनी चढ़ गयी मैं तो। अखीर में खुशी के मारे केलासी सिंह ने मेरे पांव पकड़ लिये।"[356] इस तरह देखा जाय तो मैत्रेयी पुष्पा के लेखन में जिस तरह से देह के मुद्दे केन्द्र में आते हैं वह सभी नैतिकता, मर्यादा, लाज-लिहाज जैसे स्त्री के ऊपर लगाये प्रतिमानों को ध्वस्त करते हैं और स्त्री अपनी यौनिकता का आनन्द ले पाती है।

शंभुनाथ लिखते हैं.. 'इतना स्पष्ट है कि हिन्दी में पहली बार एक स्त्री कथाकार ने निर्द्वन्द्व होकर 'सुरगसैनी' का इतना लाइव, अलंकृत और स्थानीय ध्वनियों से सजा चित्र खींचा।'[357] मैत्रेयी पुष्पा के लेखन में स्त्री देह की आज़ादी का मसला प्रधान है। 'कठगुलाब', 'आवां', 'अल्मा कबूतरी' के स्त्री पात्रों

---

[356] मैत्रेयी पुष्पा (1997) चाक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेज नं.104

[357] शंभुनाथ, हिन्दी उपन्यास : राष्ट्र और हाशिया, पेज नं.288

की भी लगभग यही दशा है । 'आवां' में गौतमी नमिता से कहती है."बहुत कुछ मालूम पड़ गया होगा तुम्हें शायद ! शेष मैं बताए दे रही हूं । माँ के अलावा मेरा एक अदद पति है-नाम है अशोक । ठीक उसी तरह जिस तरह घर में अलमारी है, फ्रीज है, वाशिंग मशीन है, डिशवाशर है । जितना वो मेरे लिए काम आती हैं, बदले में मैं उनकी देखभाल करती हूं-अशोक के साथ भी मेरा यही रिश्ता है । शेष मैं क्या कहूं! कहाँ जाती हूं, किसके साथ सोती हूं, सोना चाहती हूं, सोती भी हूं या नहीं सोती हूं-कोई मतलब नहीं उससे! घर मेरा है; अशोक को रहना है, रहे; न रहना हो, छोड़कर चला जाए ।"[358] गौतमी के इस विचार में भले ही स्त्री के देह की आज़ादी का अधिकार झलकता हो किन्तु आज की स्त्री की संवेदनशून्यता को भी दिखाता है जो रिश्तों में एक खट्टेपन का भी अहसास दिलाती है । 'आवां' में स्मिता अपने प्रेमी शरत को छोड़ दूसरे से संबंध बनाती है । उदाहरण के लिए--

"विक्रम... विक्रम कौन ?"
"मेरा नया दोस्त! बहुत दिनों से तुझसे बात ही कहाँ हुई ।"
"शरत से मित्रता खत्म ?"
"खत्म ही समझ । बेवकूफ है साआऽऽ ला जाहिल..."
"कल तक तो नहीं था ?"
"विक्रम आज का सच है ।"[359]

इसी तरह 'आवां' में स्मिता अपने पिता मटका किंग के ग़लत हरकतों से पुरुषों की कुत्सित मानसिकता और अत्याचारी रूप को समझ गयी है जिसके कारण वह सभी पुरुषों का इस्तेमाल करती है । किन्तु सवाल यह है कि क्या एक स्त्री को पुरुष से बदला लेने के लिए उसका पुरुषों की तरह ही व्यवहार किया जाना या उनकी नीतियां अपनाकर ही उन्हें परास्त करना, उचित है ? संबंध बनाना और छोड़ना, यह स्त्री को कहाँ ले जायेगा और रिश्तों की ऊष्मा को बचा पाने में कितना मददगार सिद्ध होगा, कहना कठिन है । पुरुष की ही चाल को अपनाकर उन्हीं के रास्तों पर चलना कहाँ की समझदारी है ? ये स्त्री लेखन के लिए एक बड़ा सवाल है । क्या कोई यौन-संबंध सिर्फ देह के भोगने और छोड़ने के लिए होता है ? या फिर किसी स्वस्थ वातावरण और समाज की कल्पना भी संभव है जिसमें यौन-संबंध विकृति की तरह न पैदा हो जिसका चलन आज के युवाओं, स्त्री-पुरुषों में बढ़ता जा रहा है । देह पर अधिकार और यौन मुक्ति के सवाल क्या स्त्री को वास्तव में अपने विषय में सोचने और निर्णय ले पाने में

---

[358] आवां, पेज नं.361

[359] वही, पेज नं.204

सही सिद्ध हो रहे हैं ? अगर ऐसा है तो फिर नमिता जैसी स्त्रियाँ क्यों संजय कनोई के प्रेम और आकर्षण में फंसकर यह निर्णय नहीं कर पाती हैं कि उन्हें वास्तव में किसके साथ ज़िन्दगी बितानी है ? मैत्रेयी पुष्पा की 'अल्मा कबूतरी' की अल्मा क्यों बहुत से अपराधी व्यक्तियों के हाथ में फंस कर अपने देह का उपभोग होते रहने देती है ? क्या यह प्रश्न नहीं किया जाना चाहिए कि प्रेम में संबंध बनाना और किसी के द्वारा जबरन शरीर का शोषण होने देना दोनों अलग हैं ? राणा के साथ अल्मा का प्रेम संबंध जहाँ प्रेम के सही रिश्ते की ऊष्मा को दर्शाते हैं वहीं डाकू बेटासिंह, सूरजभान, श्रीरामशास्त्री के द्वारा अल्मा के शरीर का शोषण किस तरह के रिश्तों की कहानी बयान करते हैं ?

'अल्मा कबूतरी' में मैत्रेयी पुष्पा लिखती हैं..'अल्मा, परामर्श में मंत्री-सी, सेवा में दासी-सी, खिलाने-पिलाने में माता-सी और सेज पर रम्भा-सी ! श्रीराम शास्त्री के यहां का हर तौर-तरीका अल्मा के सलीके का मोहताज हो उठा।'[360] अन्त में डाकू से राज्यमंत्री श्रीरामशास्त्री की पत्नी बनना अल्मा के अपने किस स्त्री निर्णय के अधिकार को दिखाता है ? शंभुनाथ 'चाक की कथा : स्त्री की लड़ाई' अपने एक लेख में लिखते हैं कि.."आज की व्यावसायिक दुनिया में पुरुष द्वारा पुरुष से सत्ता छीनने के लिए स्त्री-देह का इस्तेमाल होता है और स्त्री को लगता है कि वह स्वाधीन हो रही है।"[361] वास्तव में आज स्त्री की स्वतन्त्रता को सही मायने में समझने की ज़रुरत है। स्त्री लेखन को इस विषय पर पुनः विचार की आवश्यकता है।

'आवां' में चित्रा मुद्ग्ल ने नमिता पाण्डेय को केन्द्र में रखकर समाज के हर वर्ग की स्त्री जो अपने जीवन में विभिन्न परिस्थितियों से जूझ रही है, का चित्रण किया है। ये स्त्रियाँ समाज में वर्चस्वशाली पितृसत्तात्मक समाज के शोषण का शिकार हैं और उसी पितृसत्तात्मक चालों को चलते हुए एक स्त्री द्वारा स्त्री छली जाती है जिसका सबसे बड़ा उदाहरण नमिता है। अंजना वासवानी जो संजय कनोई के कहने पर नमिता को अपने आभूषण व्यापार की प्रदर्शनी के लिए मॉडल के रूप में चुनती है। जहाँ उसको आर्थिक संबल देकर उसका सर्वस्व लूटने की कोशिश भी की जाती है। 'आवां' में स्त्री विमर्श के जिन पहलुओं जिसमें स्त्री की स्वतन्त्रता, उसकी आत्मनिर्भरता, उसकी स्वायत्तता, उसके द्वारा निर्णय

---

[360] अल्मा कबूतरी, पेज नं.373

[361] शंभुनाथ (2016) हिन्दी उपन्यास राष्ट्र और हाशिया, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, पेज नं.283

लेना इत्यादि को उठाया गया है उन्हीं बिन्दुओं पर नमिता छली जाती है । चित्रा मुद्गल ने स्त्री को बाजार के बीच लाकर एक ऐसा विमर्श खड़ा किया है जहाँ स्त्री उसी रीतिकालीन सुन्दरता से तालमेल बिठाती है । स्त्री महज देह है जिसे भोग्या समझ पुरुष हर-जगह उसका उपभोग करता है । इन विचारों को अपने उपन्यास में जगह देते हुए चित्रा मुद्गल गौतमी के मुंह से स्त्री को देह तक सीमित करते हुए कहलवाती हैं कि.."बीसवीं शताब्दी में तुम तो अठारहवीं का नमूना हो । देह की आनुपातिकता में कहीं कोई कमी है तो उसे दूर कर लेने में कैसी अश्लीलता ? पैडेड ब्रा इस्तेमाल करते ही तुम अनोखी माँसलता की फुरफुरी को रोम-रोम में महसूस कर सकोगी, कि उन्नत वक्ष तुम्हारे खूबसूरत व्यक्तित्व को चमत्कारी आत्मसुदृढ़ता दे रहे हैं । मत भूलो, औरत के अस्तित्व का तिलिस्म उसकी देह से ही उपजता है ! मैं आभूषणों के शिल्प का इतिहास अन्वेषित करने निकलती थी । पाया-- वह और कुछ नहीं—स्त्री—देह के तिलिस्म का ही शिल्प है ।"[362] जिस स्त्री देह की तिलिस्म की बात यहाँ चित्रा मुद्ग्ल कर रही हैं वह रीतिकालीन कवियों और पारम्परिक स्त्री के सौन्दर्य को उसकी देह से नापने वाले विद्यापति, बिहारी की नायिकाओं से किन मायनों में और कहाँ तक अलग है ? आखिर उन रीतिकालीन कवियों और चित्रा मुद्ग्ल की दृष्टि में एक स्त्री को देखने का नजरिया अलग कहाँ हुआ जो स्त्री को उसकी देह से आगे बढ़कर कुछ मानते ही नहीं हैं ।

एक स्त्री अपने स्वत्व को भूलकर क्या पुरुषों की आंखों को शीतलता प्रदान करने के लिए बनी है । अभी तक तो यही होता आ रहा था जिसमें स्त्री सब कुछ भूलकर पुरुष की पत्नी और दासी की भूमिका अदा करती आ रही थी । चित्रा मुद्ग्ल लिखती हैं..."तुम्हें इन आभूषणों को धारणकर उन काल-खंडों को पुनर्प्रतिष्ठित करना है, नमिता! तुम्हें स्वयं को भूल जाना होगा । मान लेना होगा-तुम कहीं नहीं हो । तुममें सिर्फ वे स्त्रियाँ हैं—श्रेष्ठि- पत्नी या कोई क्षत्राणी या देवदासी ।"[363] बेट्टी फ्रायडन ने स्त्री के जिस बार्बी डॉल की चर्चा अपनी पुस्तक में की थी कि पुरुष स्त्री को उसकी सुन्दरता के बारे में इतना बढ़ा-चढ़ा कर उसकी तारीफ करता है कि वास्तव में वह स्वयं क्या है इसे स्त्री भूल गयी । आज के स्त्री लेखन में अगर यही स्थिति देखने को मिल रही है तो स्त्री स्वाधीन और स्वतन्त्र तथा स्वायत्त किन मामलों में

---

[362] आवां, पेज नं.241

[363] वही, पेज नं.214

हो रही है ? डॉ.शशिकला त्रिपाठी इस विषय की सूक्ष्मता को रेखांकित करते हुए सटीक टिप्पणी करती हैं..."मनुवादी व्यवस्था के विरुद्ध खड़ी आज की स्त्री कहीं पश्चिमी संस्कृति को तो आत्मसात नहीं कर रही है ? पूर्व की 'देवी' आज पश्चिम की 'सुन्दर गुड़िया' तो नहीं बन रही है? आर्थिक उदारीकरण से स्त्री मुक्ति चेतना में अगरचे फैलाव, खुलापन आया है तो क्या यह चिन्ता व सजगता भी उनमें है कि वह क्या अपनाए और क्या न अपनाए ? 'यौन स्वतन्त्रता' सदियों के बन्धन व नैतिक वर्जनाओं के प्रति विस्फोटक प्रतिक्रिया हो सकती है। लेकिन यहीं यह सवाल क्या नहीं उठता कि औरत अपने इतिहास को ही तो नहीं दुहरा रही है? आज की तारीख में भी औरत की देह ही प्रमुख है। मध्ययुगीन सोच की भांति। तब स्त्री-देह को धर्म व मर्यादा के आवरण में रखा जाता था। आज बाज़ार बनाने के लिए उसे अनावृत्त किया जाता है। स्त्री-देह की भौगोलिक अर्थवत्ता ही केन्द्र में है। यही केन्द्रीयता उनके इतिहास की भी सच्चाई है। 'गोरापन', 'सेक्स बम' व सुरक्षा जैसे विज्ञापनी शब्द स्त्री के प्रति पुरुष की सामन्ती दृष्टि को ही पुख्ता करते हैं। मगर भ्रमात्मक स्थिति यह कि स्त्री समझती है कि उसे अपनी देह पर अधिकार है।"[364]

जहाँ सवर्ण स्त्री लेखिकाओं ने देह मुक्ति, यौन-मुक्ति, स्त्री-पुरुष संबंधों को अपने लेखन का केन्द्र बनाकर उस पर बेबाक लिखा वहीं दलित नारीवादियों के लेखन में देहमुक्ति का सवाल प्रमुख नहीं है क्योंकि उनका मानना है कि जाति का सवाल, रोटी का सवाल, गरीबी का सवाल उनके लिए सर्वप्रथम है। यही उनके अस्तित्व के लिए जरुरी भी है। भले ही बाद में यौन और देह पर अधिकार जैसे मुद्दों से लड़ा जा सकता है। रजनी दिसोदिया स्त्री और दलित स्त्री दोनों आंदोलनों के मुद्दों की भिन्नता को रेखांकित करते हुए लिखती हैं "जहां वर्तमान नारीवादी आंदोलन के लिए देह की स्वतंत्रता और यौन व्यवहार पर स्वाधिकार की प्राप्ति सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण मुद्दा है वहीं दलित नारी आंदोलन के लिए ये कोई मुद्दा है ही नहीं। क्योंकि जहां एक ओर सम्मान और प्रतिष्ठा की प्राप्ति अपना महत्वपूर्ण उद्देश्य मानती है वहीं इसकी प्राप्ति का महत्वपूर्ण आधार आर्थिक स्वावलंबन उसका दूसरा मुख्य उद्देश्य है।

[364] शशिकला त्रिपाठी (2006) उत्तर शती के उपन्यासों में स्त्री, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पेज नं.8

इसके साथ ही लिंग-भेद और यौन-वर्जनाओं की वैसी परंपरा यहां नहीं मिलती जैसी सवर्ण समाज में व्याप्त है।"[365] दलित लेखिकाओं के यहां पहले जाति और फिर वर्ग का मुद्दा आता है।

सुशीला टाकभौरे अपने उपन्यास 'तुम्हें बदलना होगा' में भंगी जाति 'वाल्मीकि समुदाय' की विपन्न स्थिति का वर्णन पात्र धीरज के हवाले से कराती हैं। धीरज अपने भाषण में कहता है.."महानुभावों, यह इन्सानों का शहर है। यहां कुछ इन्सान ऐसे हैं, जो जानवरों से भी बदतर जीवन जी रहे हैं। वहां उनके लिए पीने के पानी की सुविधा नहीं, रात के अंधेरे में वे कैसे जिएं, क्या करें ? उन्हें बिजली की सुविधा नहीं, ये सम्पन्न-सवर्ण समाज से दूर फेंके हुए लोग हैं। गरीब-असहाय लोग ! ये इसी देश के नागरिक हैं मगर इनके पास राशन कार्ड नहीं हैं, इनके पास स्थायी निवास की जगह नहीं है। कभी भी, कोई भी आकर इनकी बस्तियों को उजाड़ देता है।...आखिर कब तक ? कब तक ये इन्सान इस तरह भटकते रहेंगे ? ..इन्हें भी इस देश का नागरिक होने का अधिकार चाहिए।,, इनके बच्चे भूखे मर रहे हैं। शिक्षा स्वास्थ्य जैसी प्राथमिक जरूरतों से ये अब भी वंचित हैं। हमारे देश का लोकतंत्र इनके लिए क्या कर रहा है?"[366] सुशीला टाकभौरे वाल्मीकि समुदाय की स्त्रियों की दयनीय दशा का भी चित्रण करती हैं। जिस जहालत में उन्हें अपना जीवन यापन करना पड़ता है, ऐसी व्यवस्था के निर्माणकर्ताओं का वे कच्चा चिट्ठा भी खोलती हैं। लेखिका गरीब दलित स्त्री, जो झोपड़ पट्टी में ज़िन्दगी और मौत की लड़ाई के लिए जूझती है उनकी मार्मिक स्थिति का जायजा लेती है और व्यवस्था के हिमायतीदारों से सीधा और सधा प्रश्न करती हैं- .."झोपड़ पट्टी में रहने वाली महिलाओं की क्या स्थिति है ? कभी उनकी झोपड़ी में झांककर देखिए। प्रसूति के समय ये कमजोर महिलाएं अकाल मौत का ग्रास बन जाती हैं। ये छोटे-छोटे बच्चे कुपोषित होकर बीमार रहते हैं। झोपड़ियों के आसपास की गन्दगी के कारण, ये न जाने कितनी बीमारियों के शिकार बन जाते हैं। इनकी रक्षा व्यवस्था कौन करेगा ?"[367] दलित स्त्री लेखन में यौन-स्वतन्त्रता की अपेक्षा दलित स्त्री की सूक्ष्म और बुनियादी ज़रूरतों पर अधिक प्रकाश डाला गया है।

---

[365] अपेक्षा, जुलाई-दिसंबर 2009, पेज नं.58

[366] सुशीला टाकभौरे, तुम्हें बदलना होगा, पेज नं.161

[367] वही, पेज नं.161

सुशीला टाकभौरे दलित लेखिकाओं में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। उनका लेखन स्त्री की समस्याओं, पीड़ाओं को तो उठाता ही है साथ ही स्त्री के समस्त सामाजिक, आर्थिक मुद्दों के अधिकार के लिए प्रतिबद्ध दिखायी देता है। लेखिका समाज में आमूलचूल परिवर्तन की पक्षधर है और सामाजिक न्याय की हिमायती भी। उनके लेखन में सभी वंचित समुदायों के मुद्दों और समस्याओं को जगह मिली है। दलित समाज, दलित स्त्री, मुस्लिम समुदाय की समस्यायें, बाल श्रम, मैला प्रथा, कुंवारी लड़कियों की शादी की समस्या, अंतरजातीय विवाह, अंधविश्वास उन्मूलन, वैज्ञानिक तर्कवाद, पारम्परिक कुरीतियों की जकड़न से मुक्ति इत्यादि गम्भीर और महत्वपूर्ण मुद्दों को केन्द्र में रखकर उन्होंने अपने लेखन को व्यापक आयाम दिया है। दलित स्त्री के लेखन के केन्द्र में इसीलिए यौन मुक्ति, देह मुक्ति का सवाल जगह नहीं घेर पाता क्योंकि वह समाज में अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए निरन्तर जद्दोजहद कर रही है। अनिता भारती दलित स्त्री मुद्दों को केवल देह और यौन शोषण तक सीमित नहीं मानती। वे स्त्री मुद्दों और दलित मुद्दों में अन्तर स्थापित करते हुए लिखती हैं कि..."इस असमानता मूलक समाज में दलित स्त्रियों की स्वतन्त्रता की लड़ाई बाकी गैर-दलित स्त्रियों से अलग है। दलित स्त्री की स्वतन्त्रता, उसकी अस्मिता, उसकी समानता और आर्थिक पक्ष से जुड़ी है। पहला सवाल उसका इंसान होने की गरिमा और रोजी-रोटी का है, देह का मुद्दा उसके लिए अंतिम मुद्दा है। देह का सवाल काफ़ी हद तक व्यक्तिगत है दलित स्त्रियों के मुद्दे खुद के नहीं, समाज के हैं, क्योंकि पूरा का पूरा दलित स्त्री समाज उत्पीड़न, शोषण और असमानता का शिकार है। खेतों में, खलिहानों में, फैक्ट्रियों, दफ्तरों में, स्कूलों में आर्थिक रूप से मजबूत होने पर भी शोषण बंद नहीं होता, इसलिए 'स्त्री देह-मुक्ति' का मुद्दा संभ्रांत व अतिशिक्षित उच्च घरानों की स्त्रियों का 'सेल्फ' की आज़ादी से जुड़ा है। गरीब दलित औरत के लिए स्त्री देह की स्वतन्त्रता से अधिक उसके जल-जंगल, जमीन, इज्जत, रोजगार और आत्मनिर्भरता महत्वपूर्ण हैं।"[368]

यह तो मानीखेज़ है कि दलित स्त्री के अस्तित्व के लिए ये सवाल बड़े सवाल के रूप में सामने आते हैं। यहाँ प्रश्न यह किया जा सकता है कि क्या देह पर अधिकार और यौनिक आज़ादी जैसे मुद्दे दलित स्त्रीवाद के लिए वाकई कोई मायने नहीं रखता या उनके द्वारा इस विषय पर बात करने की

[368] अनिता भारती-समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.151

ज़रुरत महसूस नहीं की जानी चाहिए। यदि दलित स्त्रीवाद देह के सवाल को एकदम हाशिए पर डाल देता है तो बहुत सी समस्याएं उत्पन्न हो सकती हैं क्योंकि देह के मुद्दे को हमेशा उपभोग या विलासिता के कटघरे में खड़ा करके देखना नाइन्साफी होगी। इस संबंध में कवितेन्द्र इन्दु लिखते हैं कि..'दैहिक स्वतन्त्रता का सवाल 'स्वच्छन्दता' या 'भोग विलास' का सवाल नहीं है। अपने जीवन पर अपने अधिकार का सवाल अनिवार्य रूप से अपनी देह पर अधिकार के सवाल से जुड़ता है। यह एक अंतर्विरोधी स्थिति होगी कि हम स्त्री को गुलामी से तो मुक्त करना चाहें, परिवार में जेंडरगत भेदभाव और घरेलू हिंसा को तो समाप्त करना चाहें, लेकिन स्त्री की यौनिकता पर परिवार के नियंत्रण को सही ठहरायें।"[369] कवितेन्दु जी की बातों से यहाँ सहमत हुआ जा सकता है क्योंकि एक स्त्री के लिए उसके शरीर पर उससे ज़्यादा किसी अन्य का अधिकार नहीं होना चाहिए। इस विषय में दलित स्त्रियों का कोई स्टैन्ड अभी तक नहीं दिखायी देता। भले ही उनके लेखन में देह के मुद्दों को जगह नहीं मिली हो किन्तु यौन शुचिता, देह पर अधिकार, यौनिक आज़ादी, स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर उनका क्या दृष्टिकोण है ? यह उनके लेखन का विषय अभी तक नहीं बन पाया है। सवर्ण स्त्री साहित्य बनाम दलित स्त्री साहित्य के सवालों में इस मुद्दे को गम्भीरता से देखे जाने की ज़रुरत है।

दलित स्त्रियों के यहाँ इन सवालों को लेकर यदि मौन दिखायी देता है तो शायद उसका कारण यह हो सकता है कि मनुष्य के मूलभूत अधिकारों से अभी तक वे दूर रही हैं। भले ही संविधान में स्वतन्त्रता, समानता की बात की गयी हो किन्तु मूलभूत आवश्यकताओं जिन्हें हम सुविधा भी नहीं कह सकते उससे भारत की अधिकांश दलित जातियां और दलित महिलाएं कोसों दूर हैं। रोटी, कपड़ा और मकान अभी तक उन्हें नहीं मिल पाये हैं, शिक्षा, पानी, समानता, स्वतन्त्रता और सम्मान तक के लिए वे सतत संघर्षरत हैं। अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए प्रयासरत हैं। जब उन्हें इन सवालों का जवाब मिल जायेगा अर्थात उन्हें ये सभी अधिकार प्राप्त हो जायेंगे तब वे भी अपने शरीर पर अधिकार की बात को उठा सकेंगी। वैसे भी दलित स्त्रियों के यहाँ उनके शरीर पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं माना जाता है, सामाजिक व्यवस्था के सबसे निम्न मानी जाने वाली वर्ग, जाति के होने के कारण कोई भी सवर्ण पुरुष उस पर जबरन अपना अधिकार स्थापित करने की कोशिश करता है। देवदासी प्रथा,

[369] कवितेन्द्र इन्दु: दलित स्त्रीवाद-उम्मीदें और आशंकाएं, यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, पेज नं.150

बहुजुठाई प्रथा आदि ये ऐसे प्रथाएं अभी भी ग्रामीण इलाकों में जीवित है जहाँ केवल दलित वर्ग की स्त्रियों को सिर झुका कर पालन करना पड़ता है। ये कुछ ऐसे मुद्दे हैं जिनको हल किए बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते।

5.4 विवाह और परिवार संस्था

विवाह और परिवार संस्था मूल्यों और शक्ति सम्बन्धों की एक जटिल और खास तौर से स्त्रियों के लिए दमनकारी संस्थाएं हैं। विवाह, परिवार और मातृत्व का सवाल स्त्री लेखन के लिए सबसे बड़ा मुद्दा रहा है। सवर्ण लेखिकाएं विवाह, परिवार और मातृत्व को स्त्री शोषण के आयामों और स्त्री की प्रगति तथा कैरियर बनाने में इसे बाधक मानती हैं। उनके लिए सवाल यह है कि ये संस्थायें अपने आप में स्त्री को बहुत कमजोर बनाती हैं जिससे स्त्री आगे नहीं बढ़ पाती। ये कुछ ऐसे बन्धन हैं जिन्हें वे अपनी सफलता और प्रगति में आड़े पाती हैं। 'कात्यायनी ने यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि विवाह संस्था हर हाल में स्त्री-उत्पीड़क है, वह स्त्री की अस्मिता और स्वाभिमान पर चोट करती है।' प्रभा खेतान का मानना है कि "व्यापक परिप्रेक्ष्य में विवाह व्यवस्था इसलिए दमनकारी है क्योंकि यह पितृसत्तात्मक समाज की अभिव्यक्ति है। परिणामस्वरूप समाज स्त्री की देह पर नियन्त्रण चाहता है, जबकि आज वह अपनी देह पर अपना नियन्त्रण चाहती है। भूमण्डलीकृत समाज में स्त्री अपनी देह की मालकिन स्वयं होती जा रही है।"[370] मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक', चित्रा मुद्गल का 'आवां, मृदुला गर्ग का 'कठगुलाब' इन प्रमुख उपन्यासों में विवाह, परिवार, मातृत्व आदि सवाल लेखन के केन्द्र में है। 'चाक' उपन्यास में विधवा रेशम का अवैध बच्चा पैदा करना विवाह जैसी संस्था को चुनौती देता है, रेशम दूसरा विवाह नहीं करना चाहती। उसका पति मर गया है और वह अपने किसी प्रेमी के बच्चे को जन्म देना चाहती है। समाज इसे मंजूरी नहीं देता और परिणाम यह होता है कि रेशम की हत्या कर दी जाती है। हमारा पितृसत्तात्मक समाज विवाह, परिवार और मातृत्व जैसी संस्थाओं का नियंता और संचालक है। वह जैसा चाहे उसे वैसा चलाए। 'चाक' में सारंग द्वारा चुनावी पर्चा भरने में भी उसे पति की तमाम लांछनाएं और प्रताड़नाएं सहनी पड़ती है। भले ही मैत्रेयी पुष्पा के यहां उस तरह का परिवार, मातृत्व

[370] कथादेश, जुलाई 2003, पेज नं.65

संस्था और विवाह का विरोध नहीं दिखता जितना अन्य सवर्ण स्त्री लेखिकाओं के यहां । इसीलिए स्त्री उत्पीड़न में ये संस्थाएं एक तरह से हथौड़े हैं जिसकी एक-एक चोट से स्त्री शारीरिक और मानसिक रूप से आए दिन घायल होती रहती है । परिवार, विवाह और मातृत्व जैसी संस्थाओं को स्त्री लेखन शत्रु के रूप में देखता है ।

पश्चिमी नारीवाद की रेडिकल धारा का यह मानना है कि मातृत्व स्त्री के पैरों की बेड़ी है । कठगुलाब में मृदुला गर्ग लिखती हैं.."धैर्य और सदयता के साथ उसने मुझे समझाया था कि बच्चा पैदा करके, मुझे कुछ हासिल नहीं होगा । तुम अच्छी तरह जानती हो कि आदिम समाज, स्त्री को शिशु की रचना में व्यस्त रखकर, उसे पुरुष की सुरक्षा पर निर्भर बनाना चाहता था । उसके लिए, उसने यह ढकोसला फैलाया था कि औरत को बच्चे की सृष्टि करके, इतनी परिपूर्णता मिल जाती है कि उसमें काव्य या कलाकृति की सृष्टि करने की भूख बची नहीं रहती । उसने कहा और बार-बार कहा कि औरत भगवान की तरह आदिम स्रष्टा है, उसे छोटे-मोटे सृजन की जरुरत नहीं है । बार-बार कहकर उसने तुम लोगों को ब्रेनवॉश करके रख दिया । तुम लोग उसे सच मान बैठीं । बच्चे की पैदाइश में सम्पूर्ति खोजने लगीं । पर जरा सोचकर देखो, बच्चे की सृष्टि में तुम्हारी देह भले समर्पित हो, तुम्हारी कल्पनाशक्ति या प्रतिभा को अभिव्यक्ति का मौका कहां मिलता है ?"[371]

सवर्ण लेखिकाएं अपनी प्रगति में मातृत्व को बाधा मानती हैं । उनका मानना है कि इसकी वजह से ही वह कुछ नया अर्थात सृजन नहीं कर सकतीं । 'आज, जब औरत हर क्षेत्र में काम कर रही है, सुबह से शाम तक व्यस्त रहती है, तो इसे आदिम प्रवृत्ति और मान्यता से मुक्त होना चाहिए, वरना किसी महान कलाकृति की रचना नहीं हो पाएगी ।'[372] जहां भारतीय संस्कृति विवाहित, परिवार और मातृत्व को सुचारु रूप से पुष्ट करने वाली स्त्री को तवज्जो देता है वहीं पश्चिमी नारीवाद की रेडिकल धारा ठीक इसके उलट है । अपनी माँ की विवशता और पुरुषों के मनमाने रवैये के कारण 'कठगुलाब' की असीमा विवाह जैसे बन्धन में नहीं बंधना चाहती । नीरजा का भी यही मानना है,,,"कहे है सादी ना

---

[371] कठगुलाब, पेज नं.79

[372] वही, पेज नं.79

करनी। ज़रूरत क्या है सादी की। दोस्त काफ़ी हैं ना।"[373] जबकि दलित स्त्री लेखन परिवार संस्था का उस तरह से विरोध नहीं करता है जितनी तीव्रता से सवर्ण स्त्री विमर्श। इसका प्रमुख कारण यह है कि दलित स्त्रियाँ घर और बाहर दोनों जगह शोषित और प्रताड़ित होती हैं। घर के बाहर उनका उत्पीड़न अत्यन्त भयानक है। परिवार उन्हें एक हद तक सुरक्षा देता है। परिवार संस्था के विषय में अपनी राय देते हुए अनिता भारती लिखती हैं..."भारत की जाति आधारित व्यवस्था में दलित स्त्री व पुरुष दोनों प्रताड़ित है, यह ज़रूर है कि दलित स्त्री ज़्यादा प्रताड़ित है। पारिवारिक ढांचे में दलित स्त्री घरेलू हिंसा ज़रूर झेलती हैं; परन्तु दलित होने के कारण उसके साथ सामाजिक हिंसा उससे कहीं ज़्यादा होती है। परिवार का ढांचा उसे स्त्री होने के कारण माकूल सुरक्षा नहीं देता क्योंकि दलित परिवारों में भी पितृसत्ता गहरे जड़ी जमी हुई हैं, लेकिन इन सब के बावजूद परिवार के बाहर तो वह बिल्कुल असुरक्षित है। अभी परिवार के अलावा सहजीवन आदि शैली में भी दलित स्त्री के जाति और लिंग आधार पर ज़्यादा शोषण होने के चांस हैं।"[374]

जबकि देखा जाय तो सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में विवाह बाद जिस परिवार का जिक्र करती हैं उसमें सास, ननद और पति हैं, ये तीनों उन्हें लांछित और प्रताड़ित करते हैं। तमाम यातनाओं के बाद भी वे इन दमनकारी संस्था का निषेध नहीं करती। क्योंकि समाज में घर से बाहर चाहे उनका कार्यस्थल कॉलेज हो या फिर आस-पास का सामाजिक परिवेश जहाँ उन्हें प्रतिदिन उच्च जाति के लोगों द्वारा अवमानना और अपमान झेलना पड़ता है। सुशीला टाकभौरे परिवार और विवाह को समाज की भलाई के लिए उचित मानती हैं। उनके अनुसार दलित स्त्री मुक्ति में इन संस्थाओं का सहयोग होना चाहिए, विरोध और अवरोध नहीं।' उनका मानना है कि दलित स्त्रियाँ दलित पुरुष की सहायक के रूप में काम करती हैं इसलिए दलित पुरुषों को भी अपने घर की स्त्रियों बहन, बेटी, और पत्नी का सहयोग देना चाहिए।'[375] जब घर के बाहर गैर-दलितों द्वारा दलित स्त्री उत्पीड़ित होती है जिसमें सवर्ण स्त्री भी शामिल है तब दलित पुरुष (पति) उसका साथ देता है।

---

[373] वही, पेज नं.155

[374] स्त्रीकाल, दलित स्त्रीवाद विशेषांक, भूमिका से

[375] सुशीला टाकभौरे, मेरे साक्षात्कार, पेज नं.116

दलित स्त्रियों के यहां परिवार के सवाल पर तुलसीराम का दृष्टिकोण है कि 'दलित स्त्रियाँ अपने परिवार को बहुत मजबूती प्रदान करती हैं, जबकि सवर्ण स्त्रियाँ ही अपने घर को ज़्यादा तोड़ती हैं। दलित स्त्रियाँ तो दलित परिवार की मुक्तिदाता हैं। वे हर दुख वैसे ही सहती हैं जैसे पुरुष सहता है। विवाह नामक संस्था को भी दलित स्त्रियाँ सबसे मजबूती प्रदान करती हैं।"[376] यही कारण है कि परिवार, विवाह इत्यादि संस्थाओं पर दलित स्त्री लेखन में विरोध नहीं दिखायी देता है। दलित नारीवाद समाज और अपने घरों में व्याप्त दलित पितृसत्ता की आलोचना तो करता दिखायी देता है किन्तु उनके यहां पितृसत्ता द्वारा किए गये शोषण और उत्पीड़न की जड़ में जाकर उसका समूल रूप से खात्मे का प्रयास उनके द्वारा नहीं दिखायी देता है। दलित स्त्री विमर्श परिवार और विवाह के स्वरूप में थोड़ा बहुत ही लोकतान्त्रिक सुधार को आवश्यक मानता है।

5.5 दलित, सवर्ण स्त्री की स्वतन्त्रता का मामला

दलित स्त्रियों पर उसकी स्वतन्त्रता को लेकर बहुत से सवाल उठाये जाते रहें हैं। अधिकतर ऐसा कहा जाता है कि सवर्ण स्त्रियों की अपेक्षा दलित स्त्रियाँ यौन रूप से अधिक स्वतन्त्र हैं। उनके ऊपर नैतिक पाबन्दी उतनी नहीं है जितनी सवर्ण महिलाओं पर। दलित घरों में पुनर्विवाह की स्वीकृति के कारण दलित स्त्रियों पर सवर्ण स्त्रियों की तरह अकेले रहने का दबाव नहीं रहता। पुनर्विवाह की सरलता के चलते ही दलित स्त्रियाँ घरेलू अत्याचारों और पतियों के लैंगिक शोषणों तथा उनके साथ रहने को बाधित नहीं है और नहीं मजबूर। आर्थिक रूप से संपन्न परिवार अपने घर की स्त्रियों को बाहर धनोपार्जन के लिए जाना घर और कुल की मर्यादा के ख़िलाफ़ समझते हैं, जबकि दलित महिलाओं की आर्थिक स्थिति सही न होने के कारण उन्हें बाहर जाकर अर्थोपार्जन करना होता है। गरीब होने के कारण घर से बाहर जाकर मजदूरी और श्रम करना उनकी मजबूरी है। घर और परिवार का भार भी वह अकेले उठाती है। शराबी पति के चलते उसे अपने बच्चों के लिए जीविका का साधन अकेले जुटाना पड़ता है। दलित स्त्रियों की इस विवशता को अधिकतर स्वतन्त्रता का नाम दे दिया जाता है। घर से बाहर श्रम करने पर उसे यौन शोषण का सामना भी करना पड़ता है जिसे अकसर यौनिक आज़ादी और व्यभिचार की संज्ञा दे दी जाती है। ऐसी संज्ञा देने वालों में धर्मवीर का नाम लिया जा सकता है। 'सच

[376] स्त्रीकाल, दलित स्त्रीवाद, पेज नं.65

तो यह है कि घर-बाहर दोनों जगह दलित स्त्रियों की स्थिति सवर्ण स्त्रियों से अच्छी नहीं है । दबंग जाति, धर्म के लोग जमींदार बड़े काश्तकार, सेठ, साहूकार, बनिया और दलाल दलित, गरीब और उनकी स्त्रियों का हमेशा शोषण करते रहें हैं । इन स्त्रियों की 'पवित्रता' कोई नहीं बचा सकता इसलिए 'यौन पवित्रता' के बंधनों से उन्हें सीमित मुक्ति मिल जाती है । इसे हम दलित स्त्री की यौन स्वतन्त्रता के रूप में नहीं देख सकते, क्योंकि दलित जैसे ही थोड़ा अमीर होते हैं, संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में वे भी अपनी स्त्रियों को वैसे ही कब्जे में करना और पवित्र देखना चाहते हैं जैसे कि सवर्ण समाज करता आ रहा है । यही कारण है कि दलित समाज का एक तबका जिसमें दलित स्त्रियाँ भी शामिल हैं अपनी स्त्रियों को कब्जे में रखकर धर्मवीर की 'आदर्श परिवार' बनाने की कल्पना से सहमत होते नज़र आते हैं ।'[377]

दलित स्त्री को प्रतिदिन रोटी जुटाने जैसी समस्या के कारण घर से बाहर निकलने की जो मजबूरी है उसे भी धर्मवीर जैसे आलोचक शक की निगाह से देखते हैं । चाहे जैसी भी और जितनी भी स्वतन्त्रता दलित स्त्री को मिली हो उसके बावजूद हम दलित स्त्रियों के शोषण, उत्पीड़न को नकार नहीं सकते । सवर्ण स्त्रियों की अपेक्षा उनका शोषण कई गुना ज़्यादा भीषण है । देवदासी प्रथा, बहुजुठाई, खूंटा प्रथा, डायन, चुड़ैल इत्यादि से दलित स्त्रियों को हमेशा उत्पीड़ित किया जाता रहा है । ये सारी प्रथाएं दलित समाज में ही व्याप्त हैं । हैरानी की बात तो यह है कि इसकी एकमात्र शिकार दलित स्त्रियाँ हैं । तरह-तरह से उनकी यौन स्वतन्त्रता को बाध्य करने की कोशिश की जाती रही है और ये प्रथाएं उनमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं । दलित स्त्री अपने विभिन्न रचनात्मक विधाओं में दलित स्त्री के साथ होने वाले शोषण का जीता-जागता उल्लेख करती है । 'दोहरा अभिशाप' की समीक्षा में बजरंग बिहारी लिखते हैं कि- 'बौद्धिकों के बीच यह समझ व्यापक रूप से स्वीकृत है कि दलित तबके की स्त्रियाँ सवर्ण स्त्रियों के मुकाबले बेहतर ढंग से जीती हैं । मसलन, वे घर से बाहर निकल सकती हैं, खुली हवा में सांस ले सकती हैं, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होती हैं, पुनर्विवाह की सुविधा हासिल करती हैं, यौन शुचिता के दंश और पतिपरायणता के आतंक से मुक्त रहती हैं आदि । कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा इस धारणा को सरलीकृत साबित करती है । सवर्ण स्त्री की तुलना में दलित स्त्री वस्तुतः ज़्यादा तकलीफ़देह

[377] किंगसन सिंह पटेल: विमर्श और दलित स्त्री, यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, पेज नं.163

और बदतर स्थिति में रहती है। वह कई रूपों में शोषण का शिकार होती है। दलित पुरुषों का रवैया स्त्री के मामले में सवर्ण पुरुषों के रवैये से बहुत अलग नहीं है। इस वजह से दलित स्त्री का आर्थिक और दैहिक शोषण समान रूप से चलता रहता है। अच्छे परिवेश के कारण सवर्ण स्त्रियाँ अनायास कई सुविधाएं प्राप्त कर लेती हैं। जबकि दलित स्त्री इन सब अवसरों से प्रायः वंचित ही रहती है। उसे घर और बाहर दोहरा श्रम करना पड़ता है। हर जगह अपमान के कड़वे घूंट पीने पड़ते हैं। गाहे-बगाहे सब उसे उसकी 'औकात' बताते रहते हैं।"[378] यहाँ बजरंग बिहारी जी दलित स्त्री के उन सभी उत्पीड़नों को रेखांकित करते हैं जिससे अकेले दलित स्त्री प्रतिदिन जूझती है। चाहे जो भी वर्ग या वर्ण इसे दलित स्त्री की स्वतन्त्रता का नाम दे, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एक दलित स्त्री कठिन परिस्थितियों में अपने और अपने परिवार के पेट पालने के लिए सुबह से शाम बाहर मजबूरी वश रहती है। आर्थिक लाचारी की वजह से उसे यह कदम उठाना पड़ता है अन्यथा वह भी सवर्ण स्त्रियों की तरह घर में आराम की रोटी खा सकती है और अपने बच्चों की शिक्षा में तथा परिवार का सही देखभाल कर सकती है।

दलित स्त्रियों की स्वतन्त्रता की भ्रांति के विषय में अनिता भारती लिखती हैं.."दलित स्त्रियों की आज़ादी को लेकर ब्राह्मणवादी भारतीय समाज में तरह-तरह की भ्रांतियां हैं। मसलन वे गैरदलित स्त्रियों की अपेक्षा अधिक 'सेक्सी' व अधिक 'स्वतन्त्र' होती हैं। वे बेधड़क कमाने बाहर जा सकती हैं। वे अनेक विवाह कर सकती हैं, वे अपने निर्णय लेने में सक्षम होती हैं। यह भ्रांति आज की नहीं, सदियों पुरानी है और मुझे इस भ्रांति में कोई तुक नज़र नहीं आती।"[379] दलित समाज में अत्यन्त गरीब होने के कारण पति और पत्नी दोनों श्रम करते हैं। कुछ आलोचकों का दलित स्त्री के परिश्रम करने के इस रूप को उसकी स्वतन्त्रता के पहलू को रेखांकित करता है। किन्तु यहां देखना अनिवार्य होगा कि उसके अपने वेतन पर उसका कितना अधिकार है ? क्योंकि दलित स्त्री को दलित पितृसत्ता का भी सामना करना पड़ता है जिसके कारण वह अपने पारिश्रमिक का उपयोग भी सही-सही नहीं कर पाती।

---

[378] बजरंग बिहारी तिवारी, लेख तिहरा अभिशाप अर्थात दलित-अस्मिता विमर्श में स्त्री, हंस, जुलाई-2000, पेज नं.89

[379] अनिता भारती (2013) समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, पेज नं.150

'हिन्दी के सवर्ण स्त्री लेखन ने वर्गगत और जातिगत उत्पीड़न को हमेशा से अनदेखा किया है, वे उस पर उतना ध्यान नहीं देते जितना उन्हें देना चाहिए। यह चिंतनीय है कि कुछ नारीवादियों का दृष्टिकोण दलित साहित्य और दलित आरक्षण के प्रति बहुत ही विरोधी रहा है। यही कारण है अंग्रेजी में चले नारीवादी चिंतन को कुछ लोगों ने 'ब्राह्मनिकल फैमिनिज्म' की संज्ञा दी है।' इस प्रकार के आरोप यदि हिन्दी के सवर्ण नारीवादी लेखन पर लगे उससे पहले उन्हें सतर्क होना सही होगा। जो साहित्य केवल अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को लेकर लेखन करे उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि साहित्य समाज के सभी वर्गों, तबकों, जातियों और मनुष्यों की समस्याओं का प्रतिबिम्ब है। किंगसन सिंह पटेल का मानना है कि "जाति और जेंडर की समस्याएं वैसे भी एक दूसरे से संबद्ध हैं। जहाँ जाति स्त्री के ऊपर भी बाध्यताएं लागू करती हैं खासकर विवाह के संबंध में, वहीं जाति शुचिता आधारित रक्त शुद्धता पर टिकी हुई होती है। इस सैद्धान्तिक पहलू को छोड़ दिया जाय तब भी क्या यह कहा जा सकता है कि सुशीला टाकभौरे की नियति को तय करने में जाति और वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिकाएं नहीं हैं। जो समस्याएं करोड़ों स्त्रियों की पराधीनता को भयावह बनाती हैं, उन्हें अधिक शोषण सहने पर मजबूर करती है, उसे स्त्री की समस्या का अंग न मानना कई दृष्टियों से खतरनाक हो सकता है। इन विभेदों के मौजूद रहते हम स्त्रियों के बीच किसी वास्तविक बहनापे की कल्पना नहीं कर सकते।"[380]

5.6 सवर्ण और दलित स्त्री का पुरुषों के प्रति नज़रिया

सवर्ण स्त्री लेखिकाएं पुरुषों के प्रति एक नकारात्मक भाव रखती हैं। उनके लेखन में पुरुष शत्रु के रूप में नज़र आता है। जबकि दलित लेखिकाओं के यहाँ भी आक्रोश है किन्तु पुरुष को अन्य मानकर नहीं, सवर्ण पुरुषों के प्रति उनका नज़रिया आक्रोश का नहीं है। जहाँ तक दलित नारीवादियों के मुद्दे और प्रश्न हैं, अगर सवर्ण पुरुष और स्त्री उनके आंदोलन और प्रश्नों पर अपनी सही समझ तथा सहयोगी की भूमिका निभाते हैं तो वे उनका स्वागत करती हैं।

हिन्दी के सवर्ण स्त्री लेखन में अधिकतर नारीवादियों ने पुरुषों को 'राक्षस', 'हरामी', 'ड्रेकुला', 'नर सूअर', 'जल्लाद' इत्यादि कहकर सम्बोधित किया है। पुरुषों के प्रति उनका आक्रोश जबरदस्त है।

[380] लेख-किंगसन सिंह पटेल-स्त्री पराधीनता के आयाम, दलित स्त्रीवाद विशेषांक, अतिथि सं. अनिता भारती, स्त्रीकाल, अंक-9, सितम्बर, 2013, पेज नं.132

वे पिता, पति, भाई, सहयोगियों को इन्हीं नामों से सम्बोधित करती हैं । चाहे वह मृदुला गर्ग का 'कठ्गुलाब' हो या फिर चित्रामुद्गल का 'आवां' ही क्यों न हो । उदाहरणस्वरूप चित्रा मुद्गल का उपन्यास 'आवां' लेते हैं । 'आवां' में स्मिता द्वारा अपने पिता को राक्षस, मटका किंग आदि शब्दों से सम्बोधित करना स्मिता का पुरुष के प्रति उसके गहरे आक्रोश को प्रदर्शित करता है । वह नमिता से कहती है-

"कल रात राक्षस सीढ़ियों से लुढ़क गया ।"
"राक्षस ?" संकेत उसके ऊपर से गुजर गया ।
स्मिता उसकी नासमझी पर झुंझलाई ।
"उफ़! बैटरी है पूरी । रोमाँच पर पानी फेरे दे रही । राक्षस यानी कि मेरा बाप- मुंबई का मटका किंग !" शब्दों पर जोर दिया स्मिता ने ।"...'मटका किंग हमेशा की भांति धुत्त होकर बिल्डिंग में घुसा था । हरामखोर के पांव फिसलते ही खोपड़ी लुढ़के नारियल-सी फट गई ।"381

ठीक इसी तरह मृदुला गर्ग के उपन्यास 'कठ्गुलाब' में स्मिता अपने जीजा को ड्रेकुला जैसे शब्दों से संबोधित करती है । असीमा को पुरुषों से नफ़रत है वह कहती है- "अब आये तो कोई मर्द मेरी सीमा में, टांग तोड़कर पूंछ बना दूं । मुझे मर्दों से नफ़रत है । सब एक-से-एक बढ़कर हरामी होते हैं । सबसे बड़ा हरामी था, मेरा बाप । लम्बा, तगड़ा, खूबसूरत हरामी ।"[382] असीमा अपने पिता और भाई को हरामी नं.1 और हरामी नं.2 की संज्ञा देती है "मेरी जुबान बन्द हो गयी पर मन-ही-मन मैं दुहराती रही, हरामी-हरामी-हरामी....मैंने तय कर लिया था कि उन दोनों के लिए हमेशा इसी लफ़्ज़ का इस्तेमाल करूंगी । हरामी नम्बर एक, मेरा बाप । हरामी नम्बर दो, मेरा भाई । माँ चाहे तो पूजा करे उनकी । मैं किसी साले मर्द से वास्ता नहीं रखना चाहती ।"[383]

इन सवर्ण लेखिकाओं की रचनाओं में पुरुषों के प्रति जो आक्रोश है वह उनके साथ हुए भीषण लैंगिक उत्पीड़न, शोषण, गहरे उपजे दंश, कुंठा को अभिव्यक्त करता है । मृदुला गर्ग के उपन्यास 'कठ्गुलाब' की नायिकाएं स्मिता, नमिता, मारियान, नर्मदा, असीमा इत्यादि स्त्रियाँ लैंगिक उत्पीड़न की वजह से सभी पुरुषों को एक ही कठघरे में खड़ा करती हैं और इस प्रकार पुरुष के अत्याचार से ग्रस्त ये उत्पीड़ित स्त्रियाँ अपनी एक अकेली दुनिया अख़्तियार कर लेने में पीछे भी नहीं हटतीं । जिससे यह

---

381 आवां,पेज नं 370

382 कठगुलाब. पेज नं.165

383 वही,पेज नं.170

आशय लगाया जा सकता है कि स्त्री की दुनिया पुरुषों से अलग बनायी जानी चाहिए तभी स्त्री किसी भी प्रकार के शोषण की शिकार नहीं होगी । यहाँ एक स्वाभाविक सा प्रश्न खड़ा होता है कि क्या ये सभी स्त्रियाँ पुरुषों से मुक्ति चाहती हैं ? इनकी मुक्ति क्या सिर्फ पुरुषों से है या उनके उत्पीड़न से ? अगर उत्पीड़न से है तो क्या इनके द्वारा उन सभी उत्पीड़नकारी व्यवस्थाओं व संस्थाओं को ध्वस्त नहीं किया जाना चाहिए या फिर मात्र पुरुषों को दोषी और आरोपी सिद्ध कर देने भर से स्त्री का उत्पीड़न खत्म हो जाएगा ?

स्त्री-पुरुष संबंधों के विषय में सवर्ण स्त्रियों ने स्त्री और पुरुष के जिन संबंधों की चर्चा की है उसमें वे एक-दूसरे के घोर शत्रु के रूप में दिखायी देते हैं । जहाँ पुरुषों के लिए स्त्रियों को भोगने तक का सवाल है वहां तक वे ठीक हैं किन्तु स्त्री जहाँ दैहिक संबंध बनाने से मना करती है या फिर पुरुषों की उनकी औकात बताती है तो वहीं वे पितृसत्तावादी हो उठते हैं । स्त्री के पारम्परिक छवि को न देखकर, वे निराश हो उठते हैं । वे स्त्री को पारम्परिक छवि तथा भारतीय संस्कार और संस्कृति की छवि में ही देखना चाहते हैं । चाहे वो 'कठ्गुलाब' का असीम (हरामी नं 2) हो या फिर 'आवां' का सिद्धार्थ हो । नमिता द्वारा सिद्धार्थ के दैहिक संबंध बनाने वाले प्रस्ताव पर मना करने से उसकी प्रतिक्रिया देखने लायक है ...'कसम आदित्य की, उतारने वाले की खाल खींच लूंगा । लिहाज की भी साआल्लीSS, सीमा होती है । सिद्धार्थ मेहता हिंदुस्तान का एकमात्र शीर्षस्थ छायाकार है आज की तारीख में । वैसे मैं चाहूं तो सामने बैठी दो टके की मजदूर की बेटी को मिनटों में धूल चटा सकता हूं ।"[384] संजय कनोई भी इस कड़ी में पीछे नहीं दिखायी देते हैं । क्योंकि उन्हें अपनी पत्नी निर्मला कनोई जो कि आत्मनिर्भर स्त्री है और अपने पिता के व्यवसाय में हाथ बंटाती है, वो भी केवल अपनी प्रसिद्धि के लिए जीती स्वार्थी नारी लगती है- 'मेरे उत्थान-पतन से निर्मला को कोई विशेष लेना-देना नहीं । निश्चिंत भी है । पिता के विश्वव्यापी कारोबार में उसका बहुत बड़ा हिस्सा है । अन्य दोनों बहनें उस पर पूर्णतः निर्भर हैं । व्यापार के मामले में वे पंसारी के दुकान से ज़्यादा समझ नहीं रखतीं । उनके पति पाले हुए कुत्तों की-सी स्थिति में हैं । वे मोती खाएं तो उन्हें मोती खाने को मिलेंगे । अनाज खाएं तो अनाज । माँस-मछली

[384] आवां पेज नं.295

तो माँस-मछली...."[385] "जो औरत अपने घर की नौकरानी पर किसी मामूली-सी बात से चिढ़कर उसके मुंह पर गरम चाय का प्याला फेंककर मार सकती है, वह गरीबों के दुःख-सुख की साझीदार हो सकती है?"[386] पत्नी के प्रति इस तरह का व्यवहार उनके मन में बैठी पारम्परिक और आदर्श पति-व्रता नारी की कल्पना को दर्शाती है । जबकि दलित लेखिकाओं की रचनाओं में पुरुषों के प्रति ऐसा आक्रोश और कुंठा देखने को नहीं मिलती । वे पुरुषों का हृदय परिवर्तन तक करती हैं और उन्हें अपने आंदोलन, अपनी विचारधारा की ऊर्जा से प्रभावित भी करती हैं । उनके यहाँ पुरुष सहयोगी की भूमिका में नज़र आता है ।

सुशीला टाकभौरे का उपन्यास 'तुम्हें बदलना होगा' में धीरज का चरित्र देख सकते हैं । चमनलाल बजाज जैसे पात्र जो मनुवादी ब्राह्मणवादी विचारधारा को अपने में समाहित किये हुए पात्र हैं, लेखिका उनका भी पूरी तरह से हृदय परिवर्तन करती है । उपन्यास में यू.जी.सी. के वरिष्ठ अधिकारी मिश्रा जी के हवाले से लेखिका जातिव्यवस्था की तह में जाकर कहती हैं.."आज हम इक्कीसवीं सदी में जी रहे हैं, भूमंडलीकरण के इस युग में, पूरा विश्व एक गांव बनता जा रहा है । ऐसे समय में यदि हमारे देश के लोग वर्ण और जाति की बातों पर विचार करते हैं, तो यह हमारे लिए शर्म और कलंक की बात है । साथियों भले, ही यह आपका पारिवारिक और व्यक्तिगत मामला है, फिर भी मैं यहां आपके एक शुभचिन्तक के रूप में जरूर कहूंगा कि ऊषा बेटी के लिए धीरज कुमार योग्य वर हैं । चमनलाल जी ने जो विचार पहले से तय किया है, उनको पूरा करके उसे सही अन्जाम देना चाहिए ।"[387] अन्ततः चमनलाल बजाज जैसे मनुवादी लोगों में क्रान्तिकारी परिवर्तन भी होता है तथा वो समाज में सामाजिक न्याय के लिए अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने में मदद भी करते हैं । अनिता भारती लिखती हैं कि "दलित स्त्रीवाद पुरुषों से अलग रहकर कोई मर्दविहिन या मर्दरहित नयी दुनिया बनाने के यूटोपिया में नहीं जीता । दलित स्त्रीवाद एक ऐसे समाज की ओर अग्रसर है, जहां 'स्वाभिमान', 'सम्मान' और 'बराबरी' के साथ स्त्री अधिकारों की सुरक्षा सुनिश्चित हो सके ।"[388] यह

---

[385] वही,पेज नं.281

[386] वही, पेज नं.282

[387] सुशीला टाकभौरे, तुम्हें बदलना होगा, पेज नं.236

[388] स्त्रीकाल, विशेषांक-दलित स्त्रीवाद पेज नं.6

ग़ौरतलब है कि स्त्री लेखन परिवार, विवाह, धर्म, पितृसत्ता इत्यादि संस्थाओं व व्यवस्थाओं पर प्रहार करते हुए पुरुषों को दोषी मानता है। उनका लेखन पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर चोट तो करता है। कई जगहों पर उनकी रणनीतियां अपनाकर उन्हें पलटवार भी करता है किन्तु यहाँ सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि क्या ऐसा करने से स्त्री-शोषण और उत्पीड़न समाप्त हो जायेगा ? पुरुषों को दोष देने से व्यवस्था में कोई बदलाव लाया जाना सम्भव है ? या फिर दलित स्त्री लेखन की तरह व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने के लिए संघर्ष किया जाना चाहिए।

सुशीला टाकभौरे का लेखन ऐसा है जो सामाजिक और न्यायिक परिवर्तन की बात करती हैं। उनके यहाँ स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर असमानतामूलक व्यवस्था में बदलाव लाते हैं उदाहरण स्वरूप-तुम्हें बदलना होगा, नीला आकाश (उपन्यास), व्हील-चेअर (एकांकी) जैसी रचनाएं परंपरावादी व्यवस्था में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, साहित्यिक क्षेत्रों में आमूलचूल परिवर्तन लाने की पूरी कोशिश करती हैं। इस प्रकार दलित स्त्री विमर्श का उद्देश्य समानता, स्वतंत्रता और बधुत्व की भावना है, जिसके कारण ही हम मानवतावाद की स्थापना कर सकते हैं।

5.7 भारत का महिला आंदोलन : इतिहास लेखन : दलित स्त्री की उपेक्षा

'लो
इतिहास से भी हमारा नाम गायब है
बेदखल हैं हम उससे
फाड़ दिया गया है
हमारे संघर्ष का पन्ना'[389]

अनिता भारती की उपर्युक्त पंक्तियां इतिहास के उस छलावे को बेनकाब करती हैं जहाँ दलित स्त्रियों का नाम ही गायब कर दिया गया। शर्मिला रेगे लिखती हैं कि.."यदि दलित स्त्रियों के संघर्षों की 'भिन्नता' को इतिहास में जगह देना है तो इन्हें फिर से लिखना होगा। जिसे अब तक बहिष्कृत रखा गया है, उसे इतिहास के मानचित्र में सही/ नये नामों के साथ उसकी उचित जगह पर स्थापित करना

[389] अनिता भारती, एक कदम मेरा भी, पेज नं.43

होगा ।"[390] हैरानी की बात तो यह है कि आज पढ़ी-लिखी सवर्ण स्त्रियों द्वारा भी स्त्री-मुक्ति और स्त्री-संघर्ष के इतिहास-लेखन में दलित स्त्री-संघर्ष को बेदखल किया जा रहा है ।

भारतीय महिला आंदोलन स्त्री मुक्ति और स्त्री समस्याओं को लेकर काफ़ी संघर्षरत रहा । इन महिला आंदोलनों में दलित स्त्रियों ने भी बढ़-चढ़ कर भाग लिया । वे घरों से निकलकर भूखे-प्यासे अपने बच्चों को गोद में लेकर आंदोलन के लिए भूख हड़ताल पर भी बैठीं । तेभागा और तेलंगाना जैसे आंदोलन इस बात के गवाह हैं । गांधी और डॉ.अम्बेडकर द्वारा चलाए गए आंदोलनों में भी उनकी संख्या अधिक थी । किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि मुख्यधारा के इतिहास में वे कहीं दिखायी नहीं देती हैं । सवर्ण स्त्रियों द्वारा रचित स्त्री संघर्ष के इतिहास के संबंध में अनिता भारती लिखती हैं.."यह भारतीय महिला मुक्ति आंदोलन की विडंबना ही है कि भारतीय महिला आंदोलन पर जो पुस्तकें लिखी जा रहीं हैं उन लेखिकाओं द्वारा दलित-आदिवासी पिछड़े व अल्पसंख्यक वर्ग के आंदोलन व उनके नेताओं के प्रति गहरी उपेक्षा बरती जा रही है । कुछ पुस्तकों में उनके नाम, उनके कार्यों तक का जिक्र नहीं हैं ।"[391] यह स्त्री लेखिकाओं के उच्च जाति का अभिमान बोध ही है कि उन्होंने अपने लेखन में संघर्षशील दलित महिलाओं का वर्णन नहीं किया । 'राधा कुमार' का 'स्त्री संघर्ष का इतिहास' (1800-1990), सुमन राजे का 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास', नीरजा माधव का 'स्त्री साहित्य का ओझल नारी इतिहास', संजय गर्ग द्वारा संपादित 'स्त्री विमर्श का कालजयी इतिहास' इत्यादि स्त्री लेखन की इतिहास पुस्तकें हैं जिनमें एक भी दलित स्त्री का नाम नहीं है ।

दलित और अश्वेत स्त्रियों ने स्त्री मुक्ति आंदोलन में अपना भरपूर साथ दिया जबकि सवर्ण स्त्रियों ने उनके मुद्दों को उठाना और उनको व्यापक फलक देना उचित नहीं समझा । इस संबंध में चारू गुप्ता के विचार देखे जा सकते हैं- ''गरीब, दलित, अश्वेत स्त्रियों ने स्त्री मुक्ति आंदोलन को व्यापकता और जुझारूपन दिया है । उन्हीं के कारण घरेलू हिंसा, रोजगार और मजदूरी में भेदभाव तथा काम का अधिकार जैसे मुद्दे सामने आये हैं । यह मान्यता भी गलत है कि स्त्रीवाद सामाजिक-आर्थिक बदलाव

[390] स्त्रीकाल, दलित स्त्रीवाद विशेषांक-2013, पेज नं.52

[391] अनिता भारती : समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, पेज नं.171

की प्रक्रिया का एक सीधा पड़ाव है ।''[392] दलित लेखिकाएं किसी न किसी आंदोलन से जुड़कर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक नीतियों में अपना योगदान देती हैं । सामाजिक मुद्दों के लिए वे संघर्ष करती हैं और अपनी दलित स्त्री चेतना से वे विजय भी हासिल करती हैं । कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा में सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों को लेकर उनके साहसिक कारनामों का वर्णन है । कौसल्या बैसंत्री 'महिला समता समाज' और 'महिला जागृति परिषद' का गठन करती हैं । डॉ.अम्बेडकर के 'शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो' के मूलमंत्र से ऊर्जा लेती हैं । उनका लेखन एक एक्टविस्ट के रूप में भी देखा जाना चाहिए । जबकि हिन्दी की सवर्ण लेखिकाओं का भारत के स्त्री आंदोलनों से कोई सरोकार नहीं दिखाई देता । जितना उनके लेखन में व्यक्तिगत मुद्दे केन्द्र में आते हैं उतना सामाजिक मुद्दे नहीं । 'चल्लापल्ली स्वरूपा रानी का मानना है कि जैसी लोकप्रियता उच्च जाति की महिलाओं को आंदोलन करने पर मिलती है वैसी दलित स्त्रियों को आंदोलन करने पर नहीं मिलती है । उनके अनुसार 'जो पब्लिसिटी मेघा पाटेकर द्वारा चलाए गये पर्यावरण आंदोलन को मिली, वैसी पब्लिसिटी आंध्र में साधारण स्त्रियों द्वारा चलाए गए शराब-विरोधी आंदोलन को नहीं मिली ।'[393]

सवर्ण स्त्रियों के ऊपर कुछ सवर्ण लेखकों ने उन्हें छिनाल कहकर लांछित किया । साहित्य में इसे छिनाल प्रकरण के नाम से भी जाना जाता है । सवर्ण स्त्रियों ने उन लेखकों का खुल कर विरोध भी किया जिसमें दलित स्त्रियाँ भी शामिल थीं । सवर्ण स्त्रियों ने दलित स्त्रियों से सहयोग की कामना की थी जिसके लिए उन्होंने अपनी सहमति दर्ज करायी और ऐसे लोगों के ख़िलाफ़ आंदोलन भी छेड़ा किन्तु दलित लेखिकाओं का यह मानना है कि जहां दलित स्त्रियों के मुद्दों की बात आती है वहां सवर्ण स्त्रियाँ चुप्पी साध लेती हैं । अनिता भारती लिखती हैं कि.."क्या दलित स्त्रियों की अस्मिता किसी गैर-दलित स्त्री की अस्मिता से कम होती है ? जब एक सवर्ण लेखिका पर हमला हुआ तो सारी लेखक बिरादरी इकट्ठी हो गई, पर जब दलित लेखिकाओं पर हमले हो रहे हैं तो सब चुप्पी मारकर बैठे रहे ? दलित महिलाएं हमेशा समाज में अन्य महिलाओं के साथ जुड़कर उनके मुद्दों के साथ सहानुभूति व बहनापा दिखाती रही हैं परन्तु दलित महिलाएं अपने मुद्दों के साथ हमेशा अकेली खड़ी दिखाई और लड़ती नज़र

[392] सं.रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय-आज का स्त्री आंदोलन, शब्द संधान, नयी दिल्ली-2011, पेज नं.48

[393] उद्धृत, मंजू सुमन : दलित नारी : एक विमर्श, पेज नं.178

आती हैं। 'छिनाल प्रकरण'[394] में भी यही नज़र आया। यह सवर्ण महिलाओं की साजिश रही है कि वे हमेशा से अपने आपको सर्वोपरि तथा आंदोलन का प्रतिनिधि बनकर क्रेडिट लेने की मुहिम में आगे रही हैं और यही कारण है कि दलित महिलाओं के मुद्दे सबसे पीछे रख दिए जाते हैं। भारतीय समाज में वैसे ही दलित स्त्री की स्थिति अत्यन्त निम्न और दयनीय है तथा जातिगत रणनीतियों के कारण उसे और अधिक निम्न स्थिति में ढकेल दिया जाता है जहां से वह अपनी आवाज ही न लगा सके। आज दलित नारीवाद इतिहास में अपनी उपस्थिति को दर्ज कर अपने संघर्ष का साहित्य और इतिहास लेखन के लिए प्रतिबद्ध हैं। उन्हें यह बोध हो गया है कि अधिकार यदि माँगने से नहीं मिलता है तो फिर उसे छीनना होगा।

निष्कर्षतः हिन्दी साहित्य का स्त्री लेखन वैश्विक विषयों को तो उठाता है किन्तु भारत में स्त्रियों से संबंधित तमाम समस्याओं जिसमें गांव की स्त्री, मजदूर, वेश्या, बेड़िनी जाति की स्त्री, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, ट्रांसजेण्डर स्त्रियों के विभिन्न सवाल हैं, इन पर चुप्पी साधे हैं। अभी भारतीय समाज में दहेज प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह, तलाक शुदा स्त्री, अकेली, अशिक्षित, दिहाड़ी-मजदूरी करती स्त्री, खेतों-खलिहानों मे श्रम करती स्त्री, सड़क पर पत्थर तोड़ती स्त्री, मैला ढोती स्त्री, कबाड़ा चुनती स्त्री, बीड़ी बनती, फैक्ट्रियों में काम करती स्त्री, जमींदारों के घरों में काम करती स्त्री और उनके यौन-शोषण का शिकार होती स्त्री, देवदासी, बाल-मजदूरी में ढकेल दी गयीं लड़कियां, गांवों से शहर में खरीद-फरोख़्त की जाती स्त्री, वेश्या बनने को मजबूर स्त्री का चित्रण स्त्री लेखन में नदारद है। पितृसत्तात्मक वर्चस्व और उन सभी संस्थाओं जिसमें अभी तक स्त्री अपने आप को कैद पाती रही विवाह, मातृत्व, धर्म, परिवार, सामाजिक नैतिकता, मर्यादा इत्यादि पर चोट करते हुए तो वे लेखन कर रहीं हैं क्योंकि ये संस्थाएं ही उनकी मुक्ति में सबसे बड़ा बाधक रहा है। आज वे राजनीति पर भी लेखन कर रही हैं, भारतीय और वैश्विक अर्थव्यवस्था पर भी वे धड़ल्ले से लेखन करने लगी हैं, किन्तु अभी भी भारत की समस्त स्त्री समाज के बुनियादी सवालों को अपने लेखन में शामिल नहीं करना चाहती हैं जिसमें जाति का मुद्दा प्रमुख है। स्त्री लेखन वर्ग के सवाल को अपने लेखन में तरज़ीह दे रहा

[394] 'छिनाल प्रकरण' विभूति नारायण द्वारा स्त्री लेखिकाओं को छिनाल घोषित किए जाने से उत्पन्न हुआ। उन्होंने कुछ हिन्दी की लेखिकाएं जिसमें मैत्रेयी पुष्पा इत्यादि थीं, को छिनाल कहा। बाद में विभूति नारायण का कड़े शब्दों में विरोध भी किया गया। उन्होंने माफ़ीनामा देकर इन लेखिकाओं से माफ़ी माँगी।

है किन्तु वर्ण के सवालों को उपेक्षित करना, ये सवर्ण स्त्री लेखिकाओं की जातिगत सीमा कही जा सकती है।

जाति-व्यवस्था और पितृसत्ता दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन दोनों का गठजोड़ इस हद तक है कि हम एक को छोड़ कर दूसरे पर बात करें या दूसरे पर बात करके पहले को छोड़ना नासमझदारी होगी। हालांकि बहुत ही छिटपुट तौर पर दलितों के मुद्दे उठाये जा रहें हैं किन्तु जातिव्यवस्था में सबसे ज़्यादा उत्पीड़ित दलित स्त्री के शोषण का विरोध स्त्री लेखन में गायब है। क्या सवर्ण लेखिकाएं वाकई में दलित स्त्री मुद्दे से अपना मुंह हमेशा के लिए मोड़ लेना चाहती हैं ? क्या भाषा सिंह की पुस्तक 'अदृश्य भारत' (मैला ढोने के बजबजाते यथार्थ से मुठभेड़) की तरह ही दलित स्त्रियों की समस्याएं, उनका उत्पीड़न आज के स्त्री लेखन के लिए अदृश्य है ? क्या सवर्ण लेखिकाएं साहित्य में मुख्यधारा बनाम हाशिए के लेखन की रेखा नहीं खींच रही हैं जिसमें स्वयं मुख्यधारा में शामिल होने की होड़ तो मची हुई है तथा सामाजिक व्यवस्था में सबसे सतायी हुई, दलित स्त्री को पीछे धकेल रही हैं ? क्या स्त्री लेखन से ये सवाल नहीं पूछा जाना चाहिए कि आप भी साहित्य का बंटवारा करना चाहती हैं ? स्वानुभूति और सहानुभूति का सवाल यहाँ भी उठना लाजिमी है कि एक सवर्ण स्त्री अपनी रुचि और अपने तक सीमित मुद्दे पर लिखेगी तथा दलित स्त्री अपनी समस्याओं और मुद्दों पर, जिससे साहित्य में एक सवर्ण स्त्री साहित्य होगा और दूसरा दलित स्त्री साहित्य। जबकि मानवतामूलक साहित्य की रचना करने की ज़रुरत है जिसमें सभी को एक साथ आकर सबके साथ खड़े होने और साथ चलने का प्रयास किया जाना चाहिए। नहीं तो आने वाला कल यह सवाल ज़रुर करेगा कि जिस लेखन को आप 'मानवमुक्ति' का लेखन कह रही हैं उनमें मजदूर, दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक और हाशिए पर पड़ी तमाम उत्पीड़ित समाज क्यों नहीं हैं ? क्या आप मनु द्वारा निर्मित जातिवादी समाज को और पुख्ता नहीं कर रहीं हैं जिसमें कमजोर और उत्पीड़ित व्यक्ति का निरन्तर शोषण होता रहा है। इस प्रकार हिन्दी का स्त्रीवादी साहित्य समस्त स्त्री समाज के बुनियादी प्रश्नों को छोड़कर आगे बढ़ जाता है। सब्ऑल्टर्न स्टडीज इतिहास के पुनर्लेखन का जोख़िम उठा रहा है और इसी को मद्देनज़र रखकर हम दलित स्त्री विमर्श को देख सकते हैं। दलित स्त्री विमर्श, लिखे हुए आधे-अधूरे स्त्री साहित्य लेखिकाओं से आज प्रश्न कर रहा है कि जिस स्त्री मुक्ति की बात आप करती हैं उसमें दलित स्त्रियों की मुक्ति शामिल

भी है या नहीं ? उपरोक्त मुद्दों पर बात करते हुए 'दलित स्त्री विमर्श' एक ऐसे विमर्श के रूप में सामने आया है जिसने स्त्री साहित्य लेखन को विस्तार दिया है।

उपसंहार

21वीं सदी को भूमण्डलीकरण / वैश्वीकरण की सदी कहना अनुचित नहीं होगा। इसे कुछ ही लोगों के विकास का युग कहा जा सकता है, क्योंकि विकास का मॉडल उन्हीं लोगों तक पहुंचा ही है। जो सुविधासम्पन्न हैं वे ही अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। आज उच्च शिक्षा और तकनीकि शिक्षा महंगी होती जा रही है। जो अच्छे संस्थान हैं और जहां शिक्षा का स्तर उच्च है, सस्ती शिक्षा-अच्छी शिक्षा है, ऐसे प्रगतिशील विश्वविद्यालयों पर राष्ट्रवाद का तमगा थोपकर शोधार्थियों पर नकेल कसी जा रही है। गरीब और दलित घरों के छात्र-छात्राएं यहां पढ़ने के लिए बहुत दूर से आते हैं किन्तु देश में जिस तरह की स्थिति बनी हुई है उस पर ऐसे संस्थानों में दलितों पर संस्थानिक हमले भी हो रहे हैं। भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था में शिक्षा का अधिकार केवल सवर्णों को प्राप्त था जो शिक्षा से वंचित रह गये उनमें दलित और स्त्रियाँ थीं। आधुनिक काल में सवर्ण स्त्रियाँ सुविधासम्पन्न होने के नाते और जाति की श्रेष्ठता के कारण पढ़-लिख गयीं, इसी तरह दलित पुरुष भी पितृसत्ता के प्रभाव के कारण शिक्षा हासिल करने में सफल हुए किन्तु दलित स्त्री इसमें पिछड़ गयी। आज दलित समाज की स्त्रियों की पहली पीढ़ी ने शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने कदम बढ़ाएं हैं।

डॉ.अम्बेडकर का मानना था कि 'यदि शिक्षा का प्रचार-प्रसार केवल एक ही वर्ग तक सीमित रहा तो जरूरी नहीं कि उससे उदारवाद पनपेगा ही। इससे वर्ग हित का औचित्य तथा संरक्षण सिद्ध हो सकता है। हो सकता है कि इससे दलितों के उद्धारक एवं सुधारक पैदा न हों, बल्कि अतीत और यथास्थिति के पक्षधर एवं समर्थक पैदा हो जाएं। अब तक की शिक्षा का क्या यह प्रभाव नहीं देखा गया है ? यह मान लेने का कोई आधार नहीं है कि अन्य बातें समान होते हुए भी यह भविष्य में एक नया मार्ग अपनाएगी। अतः अस्पृश्यों को उच्च जातियों के रहमो-करम पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए, बल्कि बुद्धिमानीपूर्ण नीति तो यह होगी कि स्वयं अस्पृश्यों को शक्ति दी जाए। वे औरों की तरह सत्ता के भूखे नहीं हैं। वे तो समाज में केवल अपने सहज-स्वाभाविक स्थान के लिए आग्रह करना चाहते हैं।' आज दलित स्त्री इसी शक्ति की माँग करते हुए समाज में अपना स्थान निर्धारित करना चाहती है, चूंकि

लम्बे संघर्ष के बाद उसने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं संवैधानिक अधिकारों की लड़ाई में अपनी जीत दर्ज की है और अभी उसे बड़ी विजय हासिल करनी है। उसका इतिहास इस बात का गवाह है कि उसने कभी हार नहीं मानी है। दलित स्त्री विमर्श दलित स्त्री-संघर्ष की इसी परंपरा का निर्माण करता हुआ अस्मितामूलक विमर्श में शामिल हुआ है जिसको नज़रअंदाज़ करके मानव-मुक्ति का साहित्य-सृजन और विकास के सभी दावे झूठे सिद्ध होंगे।

21वीं सदी में शिक्षा, स्वतन्त्रता और समानता के अधिकार ने दलित स्त्री को शोषण की तमाम शलाकाओं से मुक्त किया है। वह अपनी अस्मिता और अस्तित्व को लेकर जितनी चेतनाशील अब हुई है इससे पहले नहीं थी। फिर भी भारतीय समाजिक व्यवस्था में सभी दलित स्त्रियों को मुक्ति नहीं मिली है। उनके लिए कई सामाजिक-आर्थिक नीतियां तैयार होती हैं किन्तु वे सब ठण्डे बस्ते में पड़े रहते हैं। उनके लिए संवैधानिक अधिकार सुनिश्चित किये गये हैं किन्तु इन अधिकारों से वे अभी भी वंचित हैं। आज भी बहुत सी दलित स्त्रियों की सामाजिक-आर्थिक दशा में कोई खास परिवर्तन नहीं आया है। भारतीय समाज में जाति, जेंडर और वर्ग के आधार पर शोषण जब तक होता रहेगा, क़ानून की किताबों में भले मैला-प्रथा समाप्त हो गयी हो किन्तु जब तक वास्तविकता में यह प्रथा भारत से समूल रूप से खत्म नहीं हो जाती, दलित-आदिवासी महिलाओं को जब तक डायन-चुड़ैल घोषित करके नंगा करना बंद नहीं कर दिया जाता है, आज़ाद भारत में उन्हें जब तक मनुष्य का दर्जा नहीं दिया जाता है, तब तक दलित स्त्री विमर्श की अनिवार्यता और प्रासंगिकता बनी रहेगी।

शोध-विषय 'हिन्दी दलित साहित्य में दलित स्त्री विमर्श' में प्रस्तुत पांच अध्यायों में मैंने शोध की दृष्टि से जो निष्कर्ष निकाले हैं उसे हम निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं:-

1: भारतीय समाज में जातिवादी ताकतें आज और अधिक मज़बूत हुई हैं। जातिव्यवस्था के विरोध स्वरूप भारत में एक परंपरा भी देखने को मिलती है। गौतम बुद्ध शाक्य वंशी थे जिन्होंने सर्वप्रथम जातिगत असमानता के विरूद्ध आंदोलन किया था। यह गौतम बुद्ध, सिद्धों-नाथों की परंपरा, कबीर, नानक संतों से होते हुए ज्योतिबा फुले, डॉ.अम्बेडकर इत्यादि तक पहुंचती है। इन्होंने तो जातिवादी व्यवस्था का विरोध किया ही साथ ही साथ गैर-दलित महापुरुषों ने भी इस व्यवस्था के

ख़िलाफ़ प्रतिरोध किया। दलित साहित्य इसी जातिवादी व्यवस्था के प्रतिरोध स्वरूप अपनी आवाज़ बुलन्द करता है। हिन्दी की कई विधाओं में लेखन कर अपनी विभिन्न रचनाओं के माध्यम से दलित साहित्य ने जातिगत व्यवस्था पर प्रहार किया है।

मुख्यधारा के साहित्य में दलितों की समस्याओं और उनकी दुःखद स्थिति का चित्रण मिलता है। यह चित्रण सहानुभूति परक गैर-दलितों द्वारा किया गया। उनके समक्ष प्रेमचन्द, निराला, अमृतलाल नागर आदि लेखक आते हैं जिनसे उनका विरोध इस रूप में है कि उन्होंने दलितों को केवल उत्पीड़ित ही दिखाया है। उनका मानना है कि दलितों ने जाति के ख़िलाफ़ जो मुहिम छेड़ी थी उसमें उनकी चेतना का समावेश तक नहीं है। इसलिए दलित साहित्य ऐसे रचनाकारों की रचनाओं को अस्वीकार कर दलित चेतना का साहित्य लिखता है। बुद्ध, फुले और अम्बेडकर से अपनी वैचारिकी ग्रहण कर वह दलित चेतना का विस्तार करता है। इसी रूप में दलित साहित्य में स्वानुभूति और सहानुभूति का सवाल बड़े सवाल के रूप में उभर कर आता है और प्रेमचन्द इन सवालों के घेरे में लाये जाते हैं। उनके समस्त लेखन पर जातिवादी आरोप लगाकर उनकी दलित दृष्टि को नकारा जाता है किन्तु हमें प्रेमचन्द की रचनाओं का सही रूप में अध्ययन और विश्लेषण करने की ज़रूरत है। जो दलित लेखक प्रेमचन्द को नकारते हैं वे उनकी दलित चेतना दृष्टि को भी खारिज़ कर देते हैं जबकि प्रेमचन्द ने ऐसी बहुत सी कहानियां और उपन्यास लिखें जिनमें वे दलितों के अन्दर चेतना का समावेश करते हैं, *दूध का दाम, मंदिर, घासवाली, सुभागी, सती, विध्वंश* इत्यादि उनकी कहानियां दलित चेतना की कहानियां है। प्रेमचन्द को पढ़ने के लिए पूर्वाग्रह से मुक्त होकर तटस्थ दृष्टिकोण अपनाना होगा तभी उनके साहित्य का सही मूल्यांकन हो पायेगा। उन्हें 'सामन्त का मुंशी' घोषित कर देने से हम अपनी अध्ययन दृष्टि को ही सीमित करते हैं। इधर कुछ दलित लेखक-लेखिकाओं ने प्रेमचन्द पर लगे तमाम आरोपों को बेबुनियाद सिद्ध किया है क्योंकि यह केवल एक बहस को जन्म देता है। दलित साहित्य की दिशा को सशक्त बनाने में वैचारिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। इस रूप में वे सभी सवालों को अम्बेडकरवादी दृष्टिकोण से समझने की दृष्टि विकसित करते हैं क्योंकि दलित साहित्य अम्बेडकरवादी विचारधारा समानता, स्वतंत्रता और बंधुता पर आधारित है। अम्बेडकरवादी चेतना ही दलित साहित्य है।

2: हिन्दी दलित साहित्य में दलित-स्त्री की दस्तक इसी चेतना को विस्तार देने के लिए होता है। दलित स्त्री विमर्श भले ही नई अवधारणा है जबकि इसका उल्लेख पहले से ही होता रहा है । दलित स्त्री विमर्श की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बौद्ध काल से दिखायी देती है । बौद्धकालीन साहित्य 'थेरीगाथा' में दलित स्त्री-मुक्ति का सशक्त वर्णन है। सुमंगला, पूर्णिमा, मुत्ता इत्यादि थेरियों ने दलित स्त्री उत्पीड़न के प्रतिरोध स्वरूप स्त्री मुक्ति के जो गीत गाये वह 'थेरीगाथा' नाम से प्रसिद्ध है । ग़ौरतलब है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदिकाल से लेकर आधुनिककाल तक की चर्चा होती है । भक्तिकाल को 'स्वर्णयुग' के नाम से जाना जाता रहा है इसे साजिश ही कहा जायेगा कि दलित सन्त कवयित्रियां इस काल में कहीं दिखायी नहीं देती हैं । जबकि मध्यकालीन दलित संत कवयित्रियों लल्लदेह, जनाबाई, रामी चण्डी इत्यादि का महत्वपूर्ण साहित्य है जिन्होंने अपने गीतों में जाति-प्रथा, धार्मिक-कट्टरता, छुआछूत तथा सामाजिक रूढ़ियों और पितृसत्तावादी व्यवस्था पर खुलकर आलोचना की । इसी तरह भारत की स्वतन्त्रता-आंदोलन के इतिहास में गायब कर दी गयीं वीरांगनाओं में झलकारीबाई, महावीरी देवी भंगी, अजीजनबाई, आशादेवी, रानी गुडियालो, सिनगीदई, उदादेवी पासी इत्यादि का नाम आता है जिन्होंने साहस के साथ अंग्रेजों से लोहा लिया तथा भारत को आज़ाद करने में अपनी अमिट भूमिका निभायी । आधुनिक काल में सावित्रीबाई फुले से लेकर दुर्गाबाई तक ने स्त्री शिक्षा के लिए संघर्ष किया। डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने दलित महिला आंदोलन का आगाज़ करके और संविधान में दलित स्त्रियों के मौलिक अधिकार सुनिश्चित कर दलित स्त्रियों की प्रशस्ति का मार्ग खोला । डॉ.अम्बेडकर सामाजिक-आर्थिक अधिकारों के साथ दलितों के लिए राजनीतिक अधिकार भी सुनिश्चित करना चाहते थे उन्होंने इसके लिए 'रिपब्लिकन पार्टी' की स्थापना की और दलितों में राजनीतिक चेतना विकसित की। दलित समाज के लिए यह बहुत आघात था कि वे ज्यादा दिनों तक जीवित न रह सके। दलित राजनीति में जो ऐतिहासिक मोड़ आता है वह मंडल कमीशन की सिफ़ारिशों के लागू होने के बाद आता है क्योंकि यही समय था जब हाशिए के लोगों दलित, स्त्री, आदिवासी को आरक्षण का लाभ मिला और वे सरकारी नौकरियों में आने में सफल हो सके। 1956 के बाद दलित राजनीति के इतिहास में जो क्रान्तिकारी मोड़ दिखायी देता है वह कांशीराम और मायावती का है । कांशीराम बहुजनों के नेता के रूप में राजनीतिक पटल पर उभर कर आते हैं। मायावती को सत्तासीन कर पहली बार राजनीति में दलित स्त्री को प्रतिनिधित्व देने का काम उन्हीं के शासनकाल में संभव हुआ। उन्होंने

दलित शक्ति को संगठित कर दलितों को शासन और सत्ता के सिंहासन पर बिठाया । कांशीराम ने 'बसपा' जैसी राजनीतिक पार्टी का गठन कर देश में दलित शक्ति का नया इतिहास रचा । मायावती की छवि दलितों के लिए आयरन लेडी के रूप में उभर कर आती है । उन्होंने सत्ता के लिए दलित-ब्राह्मण गठजोड़ के दो परस्पर विरोधी ध्रुवों और विचारधाराओं को जोड़ने का प्रयास किया । जबकि डॉ.अम्बेडकर ब्राह्मणवाद को दलितों का पहला शत्रु मानते थे दूसरा शत्रु वो पूंजीवाद को मानते थे । मायावती के आने से ब्राह्मणवादी ताकतों को और हौंसला मिला जब उन्होंने ब्राह्मणों से हाथ मिलाया इससे दलित समाज को बहुत ही निराशा हाथ लगी । मायावती ने अपने शासनकाल में दलित महिलाओं के उत्थान और विकास को नज़रअंदाज़ किया । दलित स्त्रियों को अपनी जिस दलित महिला नेता से आशा की उम्मीद बंधी थी, वो सारी आशाएं टूट गयीं । इस प्रकार एक दलित महिला नेता के शासनकाल में ही दलित स्त्रियों के मुद्दे भी हाशिए पर चले गये ।

दलित स्त्री विमर्श की अवधारणा 'स्त्री विमर्श और दलित विमर्श' के बाद विकसित हुई है । 90 के दशक के बाद यह अवधारणा विमर्श के केन्द्र में आनी शुरू होती है । इसकी साम्यता को अश्वेत नारीवादी आंदोलन से कुछ लोग प्रकट करते हैं । जैसा कि कुछ लोगों का मानना है कि नारीवादी आंदोलन अपनी विचारधारा पश्चिम से ग्रहण करता है वैसे ही दलित स्त्री विमर्श अपनी विचारधारा अश्वेत नारीवादी आंदोलन से ग्रहण करता है । जबकि यह पूरी तरह स्पष्ट है कि दलित स्त्री की आवाज़ भारत में बौद्धकालीन रचनाओं से होते हुए ज्योतिबा फुले-सावित्रीबाई फुले और डॉ.अम्बेडकर तक के आंदोलन में गूंजती हैं । भारतीय आंदोलन के इतिहास में दलित स्त्रियों ने अपनी भागीदारी दी है भले ही उनके संघर्षों को भुला दिया गया हो । अश्वेत नारीवादी साहित्य और दलित स्त्री साहित्य से उसकी साम्यता बस कुछ मुद्दों में दिख सकती है कि अमेरिका में अश्वेत स्त्रियों का शोषण जिस नस्ल के आधार पर किया जाता था वैसा ही शोषण दलित स्त्री के साथ जाति के आधार पर भारत में किया जाता है । पितृसत्तात्मक वर्चस्व के ख़िलाफ़ प्रतिरोध दोनों के लेखन में मिलता है ।

दलित स्त्री विमर्श अपनी अस्मिता को लेकर सचेत है जिसे उसने अपने साहित्य में दर्ज किया है । लेखन भले उनका कम है किन्तु समय के साथ-साथ वे प्रचुर मात्रा में लेखन कर रही हैं । आत्मकथा, कहानी, कविता, नाटक, एकांकी, उपन्यास, डायरी, संस्मरण, साक्षात्कार और आलोचना विभिन्न विधाओं में इन्होंने उत्कृष्ट रचनाएं की हैं । ये रचनाकार आंदोलनकर्मी भी हैं इसलिए वे दलित स्त्रियों के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक अधिकार को केवल साहित्य में नहीं दर्ज करती हैं बल्कि सामाजिक

और राजनैतिक पटल पर वे दलित स्त्रियों की आवाज़ को पहुंचा रही हैं । दलित स्त्री के समस्त अधिकारों के लिए वे लामबद्ध हुई हैं और अम्बेडकर के सपनों को आंखों में बसाये साहित्य लेखन में निरन्तर प्रतिबद्ध हैं।

3: दलित स्त्री का उत्पीड़न जातिगत, वर्गीय और लैंगिक तीन आधारों पर होता है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलित स्त्री दलितों में दलित है। दलित स्त्री 'स्त्री होने कारण पुरुष सत्ता से प्रताड़ित होती है तो वह दलित होने के कारण विशेष जातीय पहचान रखते हुए सामाजिक भेदभाव व विषमता का शिकार भी होती है। जातीय पूर्वाग्रह के चलते गैर-दलित जातियों के स्त्री व पुरुष दोनों उसका उत्पीड़न करने से नहीं चूकते। भारत जैसे अखण्ड और विशाल हृदय वाले देश में दलित स्त्री को खण्ड-खण्ड करके देखा जाता रहा है और उसके साथ वैसा ही क्रूर व्यवहार किया जाता रहा है। अपनी अक्षुण्ण संस्कृति के लिए प्रसिद्ध यह भारतीय संस्कृति जब एक स्त्री के साथ गलत व्यवहार करती है तो बहुत ही दुःख होता है किन्तु जब यही दलित-आदिवासी स्त्री के साथ अमानवीय व्यवहार करती है तो इस भारतीय संस्कृति पर बहुत ही शर्म और घृणा आती है। दलित स्त्री आज मैला ढोने के लिए विवश, देवदासी जैसी जिन्दगी जीने के लिए मजबूर, चुड़ैल, डायन करार देकर तथाकथित संभ्रान्तशाली समाज में नंगा घुमाये जाने के लिए अकेली बाध्य की जाती रही है। घर और बाहर उसका जीवन लांछित होता रहता है। दलित स्त्री को आज भी सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, राजनीतिक, साहित्यिक अधिकार नहीं मिले हैं।

4: दलितों में ज्ञान और प्रबोधन का संचार ज्योतिबा फुले और डॉ.अम्बेडकर ने किया। इसे दलित जागरण के रूप में जाना जा सकता है। दलित आंदोलन में दलित स्त्री-पुरुषों की समान सहभागिता थी, किन्तु दलित पुरुषों ने दलित स्त्रियों के जागरण को उतना महत्व नहीं दिया जितना अपने जागरण और प्रतिरोध को महत्व दिया। अन्ततः दलित स्त्री के मुद्दे एकदम हाशिए पर चले गये। इसलिए दलित पुरुषों के नेतृत्व में जो दलित विमर्श खड़ा हुआ है उससे दलित स्त्रियों का घोर अंतर्विरोध भी दिखता है। अस्मितामूलक विमर्श अपनी-अपनी अस्मिता की लड़ाई में व्यक्तिवादी बनता चला गया, यही कारण है कि दलित विमर्श भी दलित स्त्री को साथ लेकर नहीं चला। इस प्रकार दलित पुरुष लेखकों ने अपनी समस्याओं तक सीमित होकर दलित साहित्य का लेखन किया। उनके

लिए अपना अस्तित्व और अपनी अस्मिता ही प्रमुख रह गयी । इस प्रकार दलित साहित्य में अम्बेडकरवादी विचारधारा समतामूलक समाज और सबकी मुक्ति का उद्देश्य मात्र एक सपना बन कर रह गया। गैर-दलित जातियों के वर्चस्व को समझना आसान है क्योंकि हाशिए मूलक समाज पर उनका वर्चस्व एक-दो दिन का नहीं है यह वर्चस्व सदियों से चला आ रहा है किन्तु अस्मितामूलक विमर्शों के संघर्ष में दलित विमर्श का यह रवैया बहुत ही दुःखद था। हालांकि सत्ता और वर्चस्व का यह इतिहास रहा है कि जिनके हाथों में सत्ता आयेगी वह अपने से नीचे वालों का शोषण करेगी। इस प्रकार दलित विमर्श बनाम दलित स्त्री विमर्श अस्मिताओं के बीच का संघर्ष है, इसको इसी रूप में समझने का प्रयास किया जाना चाहिए। डॉ.धर्मवीर ने दलित स्त्रियों पर चारित्रिक लांछन लगाकर दलित स्त्रीवाद को विमर्श के केन्द्र में लाकर खड़ा किया। जिसको अभिव्यक्त करने में कथादेश और हंस जैसी पत्रिकाओं का बड़ा योगदान रहा। दलित पुरुषों में व्याप्त ब्राह्मणवादी पितृसत्ता धर्मवीर और उनके जैसे चिंतकों में प्रतिफलित होता हुआ दिखता है। किन्तु बहुत से दलित लेखकों और दलित स्त्रियों ने उनके इस विरोध का उचित जवाब भी दिया। किसी भी साहित्यलेखन में जाति, वर्ग के सवाल के साथ-साथ जेण्डर के सवाल की अनदेखी करना कछुए के उस चाल की तरह होगा जो वास्तविक समस्याओं और संकट का सामना करने की बजाय मुंह को अपने ही खोल में समेट लेता है।

5: इसमें कोई दो राय नहीं है कि हिन्दी का स्त्री लेखन कुछ सवर्ण और शिक्षित मध्यवर्गीय स्त्रियों का लेखन है। सवर्ण स्त्रियों के लेखन के केन्द्र में स्त्री-पुरुष संबंध केन्द्र में है और पितृसत्ता को छोड़ दिया जाय तो इनके पास और कोई मुद्दा नहीं है जिसे इन्होंने अपने लेखन में जगह दी है। बहुतायत सवर्ण स्त्री रचनाकारों ने अपने लेखन में पुरुषों को अपना विरोधी मानते हुए पुरुष समाज की विद्रूपताओं को आधार बनाकर आलोचना की है। मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' में रॉ जैसी संस्थाएं पितृसत्ता की मार से पीड़ित स्त्रियों की शरण स्थली बनती है वहीं 'असीमा' का चरित्र पुरुष को ही शत्रु घोषित कर पुरुष समाज को ही नकारती हैं। चित्रामुद्गल के 'आवां' में भी स्मिता का चरित्र ठीक ऐसा ही है। कहीं ऐसा न हो कि पुरुष सत्ता और वर्चस्व का विरोध करते-करते हम पुरुष मुक्त समाज की कल्पना कर बैठें।

सवर्ण नारीवादियों का यह भी मानना है कि स्त्री की कोई जाति, वर्ण और धर्म नहीं होता है। सभी स्त्रियों को एक ही श्रेणी 'स्त्री' में रखकर देखने से उन्हें सबका उत्पीड़न एक समान लगता है। ऐसा कहने से ही दलित स्त्री की अस्मिता और उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह खड़ा हो जाता है। सवर्ण नारीवादियों का ऐसा कहना है कि स्त्रियों के अलावा बाकी सभी उसके शोषणकर्ता हैं। स्त्रियों में सवर्ण स्त्री और दलित स्त्री जैसे विभाजन को झूठा सिद्ध करते हुए वे इसे रणनीति मानती हैं। वास्तविकता तो यह है कि सवर्ण नारीवाद अपनी मध्यवर्गीय जातिवादी दृष्टि का परिचय देता हुआ स्त्रियों के बीच मौजूद अंतर्विरोधों को स्वीकार करने से साफ़-साफ़ इन्कार कर देता है। ऐसा करने से उनमें व्याप्त वर्चस्व की स्थिति का चेहरा साफ़ हो जाएगा और इस तरह उनके सबसे शोषित होने के झूठे दावों पर सवालिया निशान खड़े होने लगेंगे।

ग्रामीण स्त्री की समस्याओं पर स्त्री लेखन में कम काम हुआ है। मैत्रेयी पुष्पा ने ग्रामीण स्त्री की चेतना को राजनीतिक चेतना से जोड़ने का सफल प्रयास किया है, कबूतरा जनजाति (अल्मा कबूतरी में) और 'चाक' जैसी रचनाओं में स्त्री की समस्याओं के संघर्ष को साहित्य में लाकर उन्होंने स्त्री विमर्श को वृहद आयाम देने की कोशिश की है किन्तु वहां भी दलित स्त्री के मुद्दे गायब हैं। 'सवर्ण स्त्री रचनाकारों का परिवेश, संस्कार और सीमित जीवनानुभव दलित-आदिवासी और पिछड़ी स्त्रियों की पीड़ा से जोड़ने में असमर्थ रहा है।' वहीं दलित स्त्रियों ने जाति-लिंग-वर्ग के तिहरे शोषण को अपने लेखन (दोहरा अभिशाप, शिकंजे का दर्द) में उठाते हुए आदिवासी स्त्री, अल्पसंख्यक, किसान-मजदूर, पिछड़ी स्त्रियों की समस्याओं को भी अपने लेखन में स्थान दिया है। यह कहा जा सकता है कि दलित स्त्री विमर्श अभी विकसित ही हुआ है इसलिए दलित स्त्री रचनाकारों की संख्या कम है और उनका साहित्य भी। फिर भी उन्होंने दलित स्त्री विमर्श के सृजन में अपनी अस्मिता के लिए दस्तक दी है इसकी उपेक्षा न करके इसके सकारात्मक पहल को स्वीकार किया जाना चाहिए।

70 और 80 के दशक से हिन्दी में स्त्री साहित्य और दलित साहित्य की शुरुआत होती है। जितनी जल्द स्वीकृति स्त्री साहित्य को मिली उतनी जल्द दलित साहित्य को नहीं मिली किन्तु तमाम विरोधों के बाद इसे भी स्वीकृति मिलने लगती है। इस तरह दलित साहित्य अखिल भारतीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने में सफल होता है। दोनों साहित्य के मुद्दों की प्राथमिकता को देखा जाय तो जहां

दलित साहित्य में पितृसत्तात्मक रवैया अपनाते हुए दलित पुरुष मात्र जाति के सवाल को उठाते हैं और जेण्डर के सवाल को अनदेखा कर देते हैं ठीक वहीं स्त्री साहित्य में सवर्ण स्त्री जातिवादी चरित्र अपनाते हुए जाति के सवाल को अनदेखा कर देती हैं। दोनों ही विमर्शों में दलित स्त्री पूरी तरह से हाशिए पर है। इसी उपेक्षा से सबक लेते हुए दलित स्त्री विमर्श जेण्डर, जाति और वर्ग के सवालों को लेकर विमर्श के केन्द्र में आता है। इस प्रकार दलित स्त्री विमर्श का निर्माण उक्त विमर्शों द्वारा की जा रही उपेक्षाओं के कारण हुआ है। सब्ऑल्टर्न स्टडीज के आने से कुछ संवेदनशील दलित पुरुष और स्त्री रचनाकार जेण्डर और जाति के सवाल को अपने साहित्य-लेखन में जगह देने लगे हैं। 'इससे दलित स्त्री विमर्श को यह खतरा उत्पन्न हो सकता है कि जब उसके मुद्दों को किसी अन्य लेखन में स्थान मिल रहा है तो उसकी अलग से अनिवार्यता ही क्या है। इससे दलित स्त्री विमर्श का अस्तित्व ही संकट में पड़ सकता है। दलित स्त्री विमर्श के लिए यह बड़ी चुनौती बन कर उभर सकती है।

दलित स्त्री विमर्श की शुरूआत हम दलित स्त्री के सवालों से मान सकते हैं किन्तु इसमें व्यापक संभावनाएं भी मौजूद हैं। 'इन संभावनाओं को साकार करने के लिए दलित स्त्री विमर्श को अस्मितावाद से बचना होगा क्योंकि दलित स्त्री के लेखन को भी स्त्री लेखन और दलित लेखन की तरह दलित स्त्रियों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति मानने का अगर आग्रह पैदा हुआ तो इसे अस्मितावाद के संस्करण से बचने से कोई नहीं रोक पाएगा। दलित स्त्री विमर्श के समक्ष उसके मात्र विषयवस्तु बन कर रहने का भी खतरा है। अन्यथा दूसरे अन्य विमर्शों द्वारा उस पर आधिपत्य जताने से कोई नहीं रोक सकता।'

'दलित स्त्री विमर्श भारतीय समाज में सबसे अधिक उत्पीड़ित समुदाय की व्यथा, यथार्थ और आकांक्षा की अभिव्यक्ति के रूप में सामने आया है। इसीलिए विमर्शों की दुनिया में फिलहाल उस पर नैतिक दबाव सबसे अधिक है लेकिन भारतीय समाज में ऐसे उत्पीड़ित समुदाय और भी हैं जिनकी आवाज़ अभी मुखर नहीं हो पाई है।' आदिवासी, अल्पसंख्यक, सेक्सवर्कर्स, ट्रांसजेण्डर, घुमन्तू और अपराधी जनजातियां इत्यादि इसी तरह के समुदाय हैं। क्या हमें अलग-अलग और स्वतन्त्र विमर्शों की अपनी अस्मिता को लेकर आवाज़ उठाने की प्रतीक्षा करनी चाहिए या शोषण की शलाकाओं से लड़ने के लिए इन प्रतिरोधी ताकतों को एकजुट करने का प्रयास करना चाहिए। 'दलित स्त्री विमर्श में इसकी

संभावना दिखायी देती है कि वह इन सभी उत्पीड़ित समुदाय की आवाज़ बनकर उभर सकता है । इसके लिए जो सबसे बड़ा लक्ष्य दलित स्त्री विमर्श को निर्धारित करना होगा वो यह कि विषयवस्तु बने रहने तक सीमित न होकर उसे उत्पीड़न के अन्य रूपों से संघर्ष करने के लिए एक दृष्टि का निर्माण करना होगा ।'

इस प्रकार रजनी दिसोदिया के शब्दों में इसे आसानी से समझा जा सकता है 'जहां तक सवाल भारतीय समाज में दलित महिलाओं की दशा और दिशा को लेकर है वहां स्थिति आज के नारीवादी माहौल और उभार दोनों से काफ़ी हद तक भिन्न है । दलित नारी के अस्तित्व को लेकर दोनों ही सशंकित और पूर्वाग्रहों से ग्रसित हैं । दोनों दलित नारी का इस्तेमाल गुब्बारे की हवा के रूप में करना चाहते हैं जिससे उनका आकार तो बड़ा नज़र आए पर यह दिखाई न पड़े कि इस विशालकाय आकार के पीछे कौन है । लेकिन अब इन आंदोलन रूपी गुब्बारे में इतनी हवा भर गई है कि भीतर की यह हवा उन गुब्बारों को ही लेकर उड़ चली है और दुनिया यह पहचानने लगी है कि आखिर इन गुब्बारों को कौन उड़ा रहा है । ऐसे में इन दोनों ही आंदोलनों ने जो रुख़ अख़्तियार किया है, उससे दलित नारी के इस उभार को साफ़-साफ़ पहचाना जा सकता है ।'

हिन्दी साहित्य में स्थापित अस्मितामूलक विमर्शों से अलग दलित स्त्री विमर्श की बुनियादी विशेषता शोषण के बहुआयामी स्वरूपों को उजागर करना है । दलित और स्त्री विमर्श में शोषण के किसी एक पक्ष को प्राथमिकता दी गयी है । उनके लेखन में पूरी तरह से जेण्डर और जाति के सवालों की घोर उपेक्षा दिखायी देती है । जबकि 'दलित स्त्री विमर्श की बुनियादी मान्यता है कि वह शोषण के सभी रूपों के अस्तित्व को मानते हुए छोटे से छोटे विमर्श की उपेक्षा नहीं कर सकता है । भले ही दलित स्त्री विमर्श का जन्म विभिन्न विमर्शों की एकांगिता या उसके नकारात्मक पहलू को चिन्हित करने के क्रम में हुआ हो, लेकिन इसका सार्थक पहलू यह है कि वह विभिन्न विमर्शों के सरोकारों को एक साथ लेकर चलता है ।'

दुनिया का कोई सा भी आंदोलन हो चाहे वो अस्मिता आंदोलन ही क्यों न हो, 'मनुष्यता का मूलमंत्र साधे बिना फूल-फल सकता ही नहीं ।' इसलिए दलित स्त्री के समक्ष सबसे बड़ा सवाल उसकी

अस्मिता और मनुष्य होने के हक़ का है। दलित स्त्री विमर्श को स्त्री विमर्श और दलित विमर्श के रूप में न पहचान कर उसे स्वतन्त्र विमर्श के रूप में पहचानना होगा । निष्कर्षतः दलित स्त्री विमर्श अम्बेडकरवाद की मानवतावादी विचारधारा से प्रेरणा लेता हुआ भारतीय संविधान पर अपनी पूरी आस्था रखता है। अपनी जाति, समुदाय और अपनी समस्याओं तक सीमित न होकर सम्पूर्ण विश्व की मंगलकामना करता है । दलित स्त्री लेखन सामाजिक परिवर्तन के साथ सामाजिक न्याय और मानवाधिकार की माँग करता है। अतः यह सम्पूर्ण मानव समुदाय के लिए समता, सम्मान, स्वतन्त्रता, बंधुत्व, बहनापे और मनुष्यत्व की कामना करता है। यही दलित स्त्री विमर्श का लक्ष्य है और यही उसकी विश्वदृष्टि है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

आधार ग्रंथ

1. टाकभौरे, सुशीला (2011) शिकंजे का दर्द (आत्मकथा) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. टाकभौरे, सुशीला (2013) नीला आकाश (उपन्यास) विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर।
3. टाकभौरे, सुशीला (2015) तुम्हें बदलना ही होगा (उपन्यास) सामयिक प्रकाशन, दिल्ली।
4. बैसंत्री, कौशल्या (1999) दोहरा अभिशाप (आत्मकथा) परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली।
5. भारती, अनिता (2012) एक थी कोटेवाली तथा अन्य कहानियां, लोकमित्र प्रकाशन नई दिल्ली।
6. सं. भारती, अनिता, तिवारी, बजरंग बिहारी (2012) यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कहानियां, लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली।
7. सं. भारती, अनिता, तिवारी, बजरंग बिहारी (2013) यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कविताएं, लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली।
8. सं. भारती, अनिता, तिवारी, बजरंग बिहारी (2015) यथास्थिति से टकराते हुए दलित स्त्री जीवन से जुड़ी आलोचना, लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली।
9. सं.तिलक, रजनी, अनुरागी, रजनी (2012) समकालीन भारतीय दलित महिला लेखन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली।
10. अपेक्षा, सं. तेज सिंह (2003) - दलित आत्मवृत्त- विशेषांक, अंक-4, जुलाई-सितम्बर।
11. कथादेश, अक्तूबर (2003) डॉ.धर्मवीर : बाबासाहेब डॉ.अम्बेडकर और यौन-सदाचार।
12. कथादेश, अप्रैल (2003) डॉ. धर्मवीर : अस्मितावाद बनाम वर्चस्ववाद।
13. कथादेश, जनवरी (2003) बजरंग बिहारी तिवारी: दलित साहित्य विमर्श में स्त्री।
14. कथादेश, जुलाई (2003) रमणिका गुप्ता : दलित स्त्री का कब्जाकरण।
15. कथादेश, जून (2003) प्रभा खेतान : सवर्ण पति बनाम दलित पति।
16. सं.दिनेश राम (2013) बहुरि नहिं आवना- संयुक्तांक, अंक-12, अप्रैल-सितंबर।
17. सं.दिनेश राम (2014) बहुरि नहिं आवना- संयुक्तांक, अंक-14, जुलाई-दिसंबर, ।
18. स्त्रीकाल, सं.संजीव चंदन, अतिथि संपादक– अनिता भारती (2013) दलित स्त्रीवाद (विशेषांक), अंक-9, सितम्बर।

19. हंस, सं. राजेन्द्र यादव, दिसम्बर (2004) डॉ.मीनाक्षी सखी : दोहरी मार झेलती दलित स्त्री ।
20. हंस, सं.राजेन्द्र यादव (2004) सत्ता विमर्श और दलित ।
21. हंस, सं.राजेन्द्र यादव, दिसम्बर (2004) स्त्रियों की मर्यादा निर्धारित करने वाले चौधरी धर्मवीर ।

सहायक ग्रंथ

1. इलैया, कांचा (2006)'मैं हिन्दू क्यों नहीं', अनु.ओमप्रकाश वाल्मीकि, साम्य प्रकाशन, कलकत्ता ।
2. कीर्ति, विमल (2008) थेरीगाथा, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली ।
3. कुमार, राधा (2009) स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ।
4. कुमार, निरंजन (2010) मनुष्यता के आईने में दलित साहित्य का समाजशास्त्र, अनामिका पब्लिशर्स, प्रा. लि. नई दिल्ली ।
5. खेतान, प्रभा (2010) अन्या से अनन्या, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ।
6. गर्ग, मृदुला (1997) कठगुलाब, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ।
7. गुप्ता, रमणिका (2014) स्त्री मुक्ति: संघर्ष और इतिहास, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली ।
8. चक्रवर्ती, उमा (2011) जाति समाज में पितृसत्ता (नारीवादी नजरिए से) ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन, नई दिल्ली ।
9. चतुर्वेदी, जगदीश्वर (2000) स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूट्स (प्रा..लिमिटेड) नई दिल्ली ।
10. चन्द्र, सुभाष (2006) दलित आत्मकथाएं: अनुभव से चिंतन, साहित्य उपक्रम, नई दिल्ली ।
11. चन्द्रा, बिपन (2010) आधुनिक भारत का इतिहास, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रा. लिमिटेड, हैदराबाद ।
12. चौबे, देवेन्द्र (2009) आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रा. लि., हैदराबाद ।
13. चौबे, देवेन्द्र (2011) आलोचना का जनतंत्र, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा ।
14. जैन, अरविन्द (2015) बचपन से बलात्कार, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ।
15. जोशी, गोपा (2011) भारत में स्त्री असमानता एक विमर्श, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली ।
16. टाकभौरे, सुशीला (2016) : मेरे साक्षात्कार, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली ।
17. ठाकुर, हरिनारायण (2014) दलित साहित्य का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली ।

18. डॉ.अम्बेडकर (2013) हिन्दू नारी का उत्थान और पतन, अनु.शीलप्रिय बौद्ध, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।
19. डॉ.धर्मवीर (2007) प्रेमचन्द : सामंत का मुंशी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
20. ढसाल, नामदेव (2016) गोलपीठा, सं.मोहनदास नैमिशराय, रजनी तिलक, अनु.शेखर, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली।
21. तिवारी, बजरंग बिहारी (2015) जाति और जनतंत्र दलित उत्पीड़न का वर्तमान, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद।
22. तिवारी, बजरंग बिहारी (2015) दलित साहित्य : एक अन्तर्यात्रा, नवारूण प्रकाशन, गाजियाबाद।
23. तिवारी, बजरंग बिहारी (2015) भारतीय दलित साहित्य आंदोलन और चिंतन, शब्दारंभ प्रकाशन, दिल्ली।
24. तुलसीराम (2012) मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
25. थोरात, विमल (2008) दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।
26. थोरात, विमल, बड़त्या सूरज (2008) भारतीय दलित साहित्य का विद्रोही स्वर, IIDS, NEW DELHI, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
27. दिनकर, रामधारी सिंह (2010) संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
28. नारायण, बद्री (2014) दलित वीरांगनाएं एवं मुक्ति की चाह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
29. नैमिशराय, मोहनदास (2000) अपने-अपने पिंजरे भाग-1, भाग-2, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
30. नैमिशराय, मोहनदास (2008) दलित उत्पीड़न की परम्परा, गौतम बुक सेण्टर, नई दिल्ली।
31. पंण्डिता रमाबाई (2006) हिन्दू स्त्री का जीवन, अनु.शंभू जोशी, संवाद प्रकाशन, मेरठ।
32. पाण्डेय, मैनेजर (2013) भारतीय समाज में प्रतिरोध की परम्परा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
33. पुतुल, निर्मला (2012) नगाड़े की तरह बजते शब्द (काव्य संग्रह), भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
34. पुष्पा, मैत्रेयी (1997) चाक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
35. बाबा साहेब डॉ.अम्बेडकर, संपूर्ण वांगमय, खंड-1, 2, 3, 4, 5, 7, डॉ.अम्बेडकर प्रतिष्ठान, नई दिल्ली।
36. बेचैन, श्यौराज सिंह (2012) 'स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका' साहित्य संस्थान, गाजियाबाद।
37. बेचैन, श्यौराज सिंह (2013) मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

38. बेचैन, श्यौराज सिंह (2014) उपन्यास साहित्य में दलित समस्या एवं समाधान, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली।
39. भारती, अनिता (2013) समकालीन नारीवाद और दलित स्त्री का प्रतिरोध, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली।
40. भारती, कंवल (2007) दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद।
41. भारती, कंवल (2012) दलित कविता का संघर्ष (हिन्दी दलित कविता के सौ वर्ष) स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली।
42. भारती, कंवल (2012) धर्मवीर का फासिस्ट चिंतन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली।
43. भारती, कवंल (2006) दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर।
44. महिश्वर, हेमलता (2006) स्त्री लेखन और समय के सरोकार, शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली।
45. माधव, नीरजा (2012) हिन्दी साहित्य का ओझल नारी इतिहास, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली।
46. मीनू, रजत रानी (1986) नवें दशक की हिन्दी दलित कविता, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली।
47. मीनू, रजत रानी (2011) हिन्दी दलित कथा साहित्य-आत्मकथाएं और विधाएं, अनामिका प्रकाशन, दिल्ली।
48. मुदगल, चित्रा (2011) आवां, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली।
49. मेघवाल, कुसुम (1991) हिन्दी उपन्यास और दलित नारी, संघी प्रकाशन, जयपुर।
50. राजे, सुमन (2006)हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
51. राम, नरेश राम (2013) दलित स्त्रीवाद की आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति, नयी किताब, दिल्ली।
52. राय, गोपाल (2010) हिन्दी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
53. लिम्बाले, शरणकुमार (2010) दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, अनु.रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
54. वर्मा, अर्चना (2008) अस्मिता विमर्श का स्त्री स्वर, मेधा बुक्स, दिल्ली।
55. वाल्मीकि, ओमप्रकाश (2009) दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
56. वाल्मीकि, ओमप्रकाश (2010) मुख्यधारा और दलित साहित्य, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली।
57. वाल्मीकि, ओमप्रकाश (2012) जूठन, राधाकृष्ण पेपरबैक्स, दिल्ली।
58. विद्यावाचस्पति, सोहनलाल शास्त्री (2011) हिन्दू कोड बिल और डॉ.अम्बेडकर, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।

59. विद्रोही, रमाशंकर यादव (2011) नयी खेती, सांस जसम प्रकाशन, नई दिल्ली।
60. शर्मा, कुमुद (2011) आधी दुनिया का सच, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली।
61. शर्मा, विजय (2014) अफ़्रो-अमेरिकन साहित्य स्त्री स्वर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
62. शास्त्री, चतुरसेन (2013) वैशाली की नगरवधू, राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन, दिल्ली।
63. श्री धरम (2008) स्त्री : संघर्ष और सृजन, अंतिका प्रकाशन, नई दिल्ली।
64. सं. गुप्ता, रमणिका (2015) स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण, शिल्पायन प्रकाशन, नई दिल्ली।
65. सं. चमनलाल (2012) दलित साहित्य: एक मूल्यांकन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।
66. सं. तिवारी, नन्दकिशोर (1936) चाँद-अछूत अंक, वर्ष-5, खण्ड-2, संख्या-1, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।
67. सं. दुबे, अभय कुमार (2007) आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
68. सं. प्रकाश, वेद, सिंह, तेज (2012) अंबेडकरवादी विचारधारा इतिहास और दर्शन, लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली।
69. सं. राजकिशोर (2012) आज के प्रश्न (18) दलित राजनीति की समस्याएं वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
70. सं. सर्राफ, रामकली (2010) दलित लेखन का अन्तर्विरोध, शिल्पायन, दिल्ली।
71. सं. सिंह, तेज (2011)अम्बेडकरवादी स्त्री चिन्तन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली।
72. सं.किशोर, राज (2004) हरिजन से दलित (आज के प्रश्न), भाग-6, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
73. सं.कुमार, दीपक, देवेन्द्र चौबे (2011) हाशिए का वृत्तांत, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा।
74. सं.नावरिया, अजय (2010) यातना, संघर्ष, स्वप्न (राजेन्द्र यादव के साक्षात्कार) किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली।
75. सं.भारती, अनिता (2015) सावित्रीबाई फुले की कविताएं, अनु.शेखर पवार, फारूक शाह, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली।
76. सं.राजकिशोर (2004) हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
77. सं.रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (2011) आज का स्त्री आंदोलन, शब्द संधान, नई दिल्ली।
78. सं.विजयपाल (2014) दलित साहित्य: मूल्यांकन, श्री नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली।
79. संकलन. सुमन, मंजू, रावत ज्ञानेन्द्र (2004) दलित महिलाएं, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।
80. संकलन. सुमन, मंजू, रावत, ज्ञानेन्द्र (2009) दलित नारी एक विमर्श, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली।

81. सिंह, तेज (2011) अम्बेडकरवादी स्त्री चिंतन, सामाजिक शोषण के ख़िलाफ़ आत्मवृत्तात्मक संघर्ष, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली।
82. सिंह, तेज (2012) अम्बेडकरवादी कहानी-रचना और दृष्टि, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली।
83. सिंह, भाषा (2012) अदृश्य भारत, पेगुंइन बुक्स, नई दिल्ली।
84. स्टुअर्ट मिल, जॉन (2013) स्त्रियों की पराधीनता, अनुवाद. प्रगति सक्सेना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

अंग्रेजी पुस्तकें

1. Roy, Arundhati (2004) The Doctor and the Saint, Navayana, Annihilation of Caste, The Annotated Critical Edition: B.R.AMBEDKAR edited and annotated by S.Anand.

पत्र-पत्रिकाएं

2. अन्यथा, जून 2008
3. अपेक्षा, जुलाई-दिसंबर 2009,
4. आजकल (स्त्री लेखन और समाज पर विशेषांक), मार्च 2014
5. उत्तर-प्रदेश दलित साहित्य विशेषांक सितम्बर-अक्टूबर, 2002
6. कथादेश, जनवरी, 2016
7. कथादेश, मार्च 2015, पेज नं.10, अफ्रो-अमेरिकन स्त्री-लेखन पर केन्द्रित अंक
8. कश्फ़' भारतीय चिन्तन में अल्पचर्चित महिलाएं, वर्ष सम्पूर्ण-11/ पंजी-2 अंक-2 दिसम्बर-2012, मार्च-2013
9. दलित प्रक्रिया, मार्च-95
10. बहुजन वैचारिकी- तुलसीराम विशेषांक भाग-1, 2016, अंक-1
11. युद्धरत आम-आदमी-विशेषांक 2009 सृजन के आईने में मलमूत्र ढोता भारत
12. युद्धरत आम-आदमी-विशेषांक, हाशिए उलांघती स्त्री भाग-1, भाग-2, पूर्णांक, 108, 2011
13. वर्तमान संदर्भ: स्त्री-मुक्ति : यथार्थ और यूटोपिया- विशेषांक, 2009, अंक-18
14. संवेद, 54, जुलाई-दिसम्बर-2012, आत्मकथा विशेषांक
15. समयांतर (2016) स्त्री क्षेत्र :सामाजिक-राजनीतिक मुद्दे-विशेषांक, अंक-4, जनवरी।
16. सामयिक वार्ता, मार्च 2014

वेब लिंक

1. www.hindisamay.com
2. www.streekal .com